गीता मकरंद

भाग - 3

श्री श्री श्री विद्याप्रकाशानंदगिरि स्वामीजी

हिन्दी रूपांतरकार

श्री वेमूरि राधाकृष्णमूर्ति

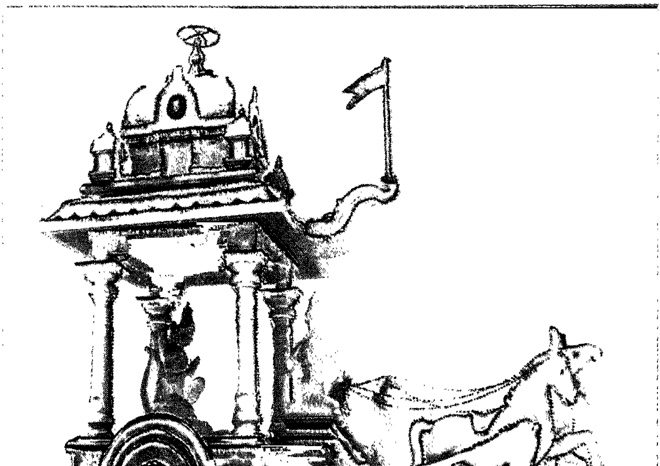

तिरुमल तिरुपति देवस्थान, तिरुपति
2003

गीता मकरंद

श्री श्री श्री विद्याप्रकाशानंदगिरि स्वामीजी
द्वारा तेलुगु में विरचित

तीसरा भाग

(अध्याय : सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह व बारह)

हिन्दी रूपांतरकार
श्री वेमूरि राधाकृष्णमूर्ति

तिरुमल तिरुपति देवस्थान, तिरुपति।
2003

GITA MAKARAND Vol - 3

(A Commentary on Bhagavad Gita Chapters 7 to 12)

by

Sri Sri Sri Vidya Prakashananda Giri Swamy

Hindi Translation

Vemuri Radhakrishna Murthy

T.T.D. Religious Publications Series No. 236

All Rights Reserved.

First Edition : 2003

Copies: 2000

Published by:
Sri Ajeya Kallam, I.A.S.
Executive Officer,
Tirumala Tirupati Devasthanams,
Tirupati - 517 501

Laser Typesetted at:
Annapurna Graphics
53/4 R.S. Gardens, Tirupati
Ph: 2235006

Printed at :
Sowbhagya Printers
Warangal - 506 002.

प्रस्तावना

भारतीय सनातन संस्कृति में श्रीमद्भगवद्गीता का स्थान महत्त्वपूर्ण है। वेद, उपनिषद्, पुराण आदि प्राचीन पवित्र ग्रन्थों का सार ही भगवद्गीता का विषय है। धर्माचरण ही इसका मुख्य लक्ष्य है। धर्मक्षेत्र में पांडवों और कौरवों के बीच में होनेवाले महासंग्राम में संशयग्रस्त व दुःखित महावीर अर्जुन के संशय व संदेहों का निवारण कर, परब्रह्म श्रीकृष्ण ने अपने उपदेशों द्वारा, कर्तव्योन्मुख किया है। इसमें कर्म, ज्ञान, भक्ति, आत्मा व परमात्मा आदि तत्त्वों का समग्र विश्लेषण मिलता है।

आज के मानव की जीवन-शैली भी अस्त-व्यस्त है। युद्धक्षेत्र में स्थित धर्मभीरु अर्जुन के मन के जैसे, मानव का मन भी संशयोद्वेलित हो, किं कर्म किमकर्मेति' परिस्थितियों में आज का मानव किंकर्तव्य विमूढ हो रहा है। केवल गीता का पाठ और मनन करने से वह इन बाधाजनक परिस्थितियों से बच सकता है। फिर गीता के उपदेशों का आचरण कर, वह कर्तव्योन्मुख होकर, सुख व शांतिमय जीवन बिता सकता है।

दक्षिण काशी के नाम से विख्यात सुवर्णमुखी नदी तट पर स्थित 'श्रीकाळहस्ती' पुण्यक्षेत्र में श्री श्री श्री विद्याप्रकाशानंदगिरि स्वामीजी 'शुक ब्रह्माश्रमम्' की स्थापना कर, लोक कल्याणार्थ आध्यात्मिक कार्य किया करते थे। उन्होंने अपने जीवन काल में राज्य भर में विस्तृत पर्यटन कर, गीत का प्रवचन सरल व सुबोध तेलुगु में प्रवचन देते हुए पंडित व पामरों के अज्ञानांधकार को दूर करने का सफल प्रयास किया। इसीलिए तेलुगु भाषा-भाषी इनके व्याख्यानों से अधिक प्रभावित हो गये है। फिर स्वामीजी ''गीता मकरंद'' नामक बृहद् ग्रंथ को तेलुगु में प्रकाशित कर चिरस्मरणीय बन गये हैं। इस ग्रंथ की लोकप्रियता को देखकर, तिरुमल तिरुपति देवस्थान ने हिन्दी भाषा-भाषियों को भी इसका परिचय कराने का निर्णय किया है।

इस 'गीता मकरंद' ग्रंथ के प्रारंभ में मूल श्लोक, हर शब्द का अर्थ, तात्पर्य एवं व्याख्या के अलावा गीता के पाठकों के लिए अत्यावश्यक अनेकानेक

विषयों का समावेश किया गया है । वराह पुराण के अन्तर्गत उल्लिखित गीता माहात्म्य के अलावा, स्कांद पुराण, महाभारत और वैष्णवीय तंत्रसार आदि में वर्णित गीता माहात्म्य भी तात्पर्य सहित दिया गया है । गीता के जप की पद्धति एवं पारायण का विधान स्पष्ट रूप से दिया गया है ।

गीता मंत्रमय है । गीता का हर श्लोक एक महामंत्र है । इस ग्रंथ में बताया गया है कि किन-किन श्लोकों का जप कितने बार, कितने दिन करना है और वैसा करने से क्या फल मिलेगा.और लौकिक एवं पारमार्थिक फलों की प्राप्ति के लिए आवश्यक जप एवं साधनाओं का स्पष्टीकरण किया गया है । मात्र लौकिक फलों की प्राप्ति के अलावा, पारमार्थिक फलों की प्राप्ति के लिए आवश्यक संदेश दिया गया है । पद्मपुराण में उल्लिखित अध्यायों के अनुक्रम के अनुसार कथा के रूप में वर्णित गीता पारायण के फल का संक्षिप्त विवरण मिलता है । उसमें गीता के मुख्य आशय, गीता तत्त्व एवं गीता की साधनाएँ आदि का स्पष्टीकरण विस्तृत रूप से किया गया है । पाठकों की सुविधा को ध्यान में रखकर ग्रंथ के प्रत्येक भाग के अंत में श्लोकों की अनुक्रमणिका भी दी गयी है ।

तिरुमल तिरुपति देवस्थान द्वारा इस बृहद् ग्रंथ का चार भागों में प्रकाशन किया जा रहा है । तीसरे भाग में स्वामीजी द्वारा रचित गीता के सात,आठ,नौ, दस, ग्यारह व बारह अध्यायों का विवरण व्याख्या के साथ दिया जा रहा है ।

हम इस बृहद् ग्रंथ के प्रकाशन में सहयोग देनेवाले सभी आध्यात्मिक एवं सेवा निरत व्यक्तियों का हृदय से आभार प्रकट करते है । श्री शुकब्रह्माश्रमम् के संस्थापक एवं चिरस्मरणीय तपस्वी श्री श्री श्री विद्याप्रकाशानंदगिरि स्वामीजी को शतशतप्रणाम अर्पित करते हैं । तेलुगु व हिन्दी भाषाओं में निष्णात तथा हिन्दी रूपांतरकार एवं हैदराबाद के निवासी श्री वेमूरि राधाकृष्णमूर्ति के प्रति आभार व्यक्त करते है । सहृदय पाठक इसका अध्ययन कर, अपना भविष्य उज्जल करें । सर्वेश्वर भगवान श्रीकृष्ण की कृपा एवं स्वामीजी का अनुग्रह सभी लोगों पर सदा रहें ।

कार्यनिर्वहणाधिकारी,

ति.ति.देवस्थान, तिरुपति ।

विषय सूची

क्रम संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
१.	सातवाँ अध्याय	१
२.	आठवाँ अध्याय	५८
३.	नौवाँ अध्याय	१०७
४.	दसवाँ अध्याय	१६८
५.	ग्यारहवाँ अध्याय	२१२
६.	बारहवाँ अध्याय	२६१
७.	श्लोकों की अनुक्रमणिका	२९०

ॐ

श्री भगवद्गीता

अथ सप्तमोऽध्यायः

सातवाँ अध्याय

विज्ञान योगः

विज्ञान योग

इस अध्याय का शीर्षक

इस अध्याय का शीर्षक है विज्ञान योग। विज्ञान का अर्थ है विशेष ज्ञान, या अनुभवजन्य ज्ञान। भगवान आदेश देते हैं कि ज्ञानमात्र से तृप्त न हों, विज्ञान का समुपार्जन करें। मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे अमानित्वादि ज्ञान संबंधी गुणों के अलावा, ज्ञेयतत्व रूप विज्ञान का परिचय भी प्राप्त करें। उस विज्ञान का अर्थात् स्वानुभव जन्य परमार्थ के ज्ञान का विशेष परिचय इस अध्याय में कराया गया। इसलिए इस अध्याय का नाम विज्ञान योग रखा गया।

इस अध्याय के प्रधान विषय

(१) विज्ञान सहित ज्ञान की प्रस्तावना - (श्लोक १ से श्लोक ३ तक)।

(२) परापर प्रकृतियों का वर्णन - (श्लोक ४ से श्लोक ७ तक)।

(३) सभी पदार्थों में परमात्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन - (श्लोक ८ से श्लोक १२ तक)।

(४) आसुरी भाववालों का खंडन तथा दैवीभाववालों की प्रशंसा - (श्लोक १३ से श्लोक १९ तक)।

(५) अन्य देवताओं की उपासना का विवरण - (श्लोक २० से श्लोक २३ तक)।

(६) भगवान के प्रभाव को न जाननेवालों का स्वभाव तथा जाननेवालों की महिमा (श्लोक २४ से श्लोक ३० तक)।

सम्बन्ध - पिछले अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने बतलाया कि सर्वश्रेष्ठ वही है, जो परमात्मा में अपना चित्त लीन करे। श्रद्धा से उनका ध्यान करें। परमात्मा के स्वरूप एवं स्वभाव को जानने से ही ध्यान तथा एकाग्रता संभव हैं। इस अध्याय में परमात्मा के स्वरूप उसकी महिमा एवं उसकी अनुभूति का वर्णन किया गया है।

श्रीभगवानुवाच

१. मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥

शव्दार्थ - श्री भगवान उवाच = श्री भगवान बोले। पार्थ = हे अर्जुन। मयि= मुझ में। आसक्तिमनाः = आसक्त चित्तवाला। मदाश्रयः = मेरे आश्रित। योगम् = योग को। युञ्जन = आचरण में लाते हुए। माम् = मुझ को। असंशयम् = निस्संदेह। समग्रम = संपूर्ण रूप से। यथा = जिस तरह। ज्ञास्यसि = जान सकते हो। तत् = उसे। श्रुणु = सुनो।

भावार्थ - श्रीभगवान् बोले - हे पार्थ ! अनन्य प्रेम से मुझ में आसक्त चित्त तथा अनन्य भाव से मेरे परायण होकर योग में लगा हुआ तू जिस प्रकार से सम्पूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्यादि गुणों से युक्त, सब के आत्मरूप मुझ को संशयरहित, जान सकेगा, उसको सुन।

व्याख्या - भगवान के बारे में जाननेवाले लोग बहुत कम रहते हैं। उनमें भी बिना सन्देह के पूर्णरूप से जाननेवाले और भी कम रहते हैं। भगवान को जानने के लिए निम्नलिखित तीन योग्यताएँ चाहिए १

(१) भगवान में मन को आसक्त करना चाहिए।

(२) भगवान के ही आश्रित रहना चाहिए।

(३) भगवान को प्राप्त करने के लिए ध्यान आदि योगों का अभ्यास करना चाहिए।

मन एक टार्च लाइट जैसा है। दृश्यवस्तु की ओर उसे घुमावें, तो दृश्य पदार्थ दिखायी देगा। अंतर्मुखी बनावें, तो आत्मवस्तु दिखायी देगी। जिस वस्तु पर चित्त आसक्त रहेगा, उसीका वह सदा चिन्तन करता रहेगा। अज्ञानियों का मन शब्द आदि विषयों में लगा रहेगा। इसलिए वे उन्हींका स्मरण करते रहेंगे। वे परमात्मा को जान नहीं सकेंगे। परन्तु विज्ञ लोग अपने मन को भगवानोन्मुखी बनाकर भगवत्‌तत्व को जानकर परमानन्द प्राप्त करेंगे। अतः परमात्मा के आश्रय में जाएंगे, तो दुःख आदि मुसीबतों का सामना करना पडेगा। अतः यहाँ "मय्यासक्तमनाः मदाश्रयः" शब्दों के द्वारा भगवान के आश्रय में जाने पर जोर दिया गया। यहाँ कहा गया कि मुझ पर आसक्त होकर, मेरे आश्रय में आकर जो मेरे ध्यान का अभ्यास करेगा, वह मुझे जान सकेगा। इससे स्पष्ट है कि भक्तियोग एवं ध्यानयोग दोनों ज्ञानयोग के सहायक हैं। कुछ लोग पूछा करते हैं कि हमें भगवान का तत्त्व क्यों ज्ञात नहीं होता ? उसका उत्तर इस श्लोक में दिया गया। बताया गया कि जो भगवान में चित्त को लीन करता है, जो भगवान के आश्रित रहता है और जो ध्यान आदि योगों का अभ्यास करता है, वह दैवविज्ञान एवं दैवानुभव पा सकता है।

प्रश्न - भगवान को पूर्ण रूप से जानने के लिए आवश्यक योग्यताएँ क्या हैं ?

उत्तर - योग्यताएँ निम्न प्रकार हैं - (१) भगवान में ही चित्त को लगाए रखना (२) भगवान के आश्रय में जाना (३) (ध्यान आदि का) योगाभ्यास करना।

२. ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥

शब्दार्थ - यत् = जिसे। ज्ञात्वा = जानने पर। इह = इस संसार में। भूयः = फिर। ज्ञातव्यम् = जानने योग्य। अन्यत् = और एक। न अवशिष्यते = बचा नहीं रहता। इदम् = वैसा यह। सविज्ञानम = अनुभवयुक्त। ज्ञानम् = ज्ञान। अशेषतः = पूर्ण रूप से। ते = तुझे। वक्ष्यामि = बताऊंगा।

भावार्थ - मैं तेरे लिये इस विज्ञानसहित तत्त्वज्ञान को सम्पूर्णतया कहूँगा, जिसको जानकर संसार में फिर और कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रह जाता।

व्याख्या - इस श्लोक से ज्ञात होता है कि भगवान के हृदय में भक्त के प्रति कितनी करुण भावना रहती है। भक्तवर अर्जुन को भगवान विज्ञान सहित ज्ञान का बोध कराने को तैयार हैं। संसार में कई विद्याएँ हैं। कई कलाएँ हैं। उनमें जितनी भी विद्याएँ क्यों न जानें, पर वे अधूरी ही रहती हैं। परन्तु भगवान से संबंधित ज्ञान अनुभव के द्वारा प्राप्त करें, तो जानने के लिए और कुछ भी नहीं बचता। उपनिषद्वाक्य निम्न प्रकार है।

"यस्मिन्विज्ञाने सर्वमिदं विज्ञातं भवति" - इससे स्पष्ट होता है कि जिसे जानने से सब कुछ ज्ञात होता है, जो समस्त शास्त्रों का सार है, उस आत्मतत्व को हृदयंगम करना चाहिए। जड को पानी से सींचें, तो पत्तों और शाखाओं को वह जल मिल जाता है। अतः ब्रह्मानुभूति पावें, तो सभी अनुभव प्राप्त होते हैं। गजानन ने पिता शिवजी की परिक्रमा कर उसके द्वारा समस्त ब्रह्मांड की परिक्रमा का फल पाया। इसी प्रकार एक ब्रह्म विद्या को हासिल करें, तो सभी विद्याएँ हासिल होती हैं। मनुष्य की आयु सीमित है। शास्त्र एवं विद्याएँ अनंत हैं। अतः सार के रूप में स्थित भगवत्तत्त्व को जान लें तो काफी है। ऐसा न कर सभी विद्याएँ सीख लें, पर ब्रह्मविद्या न सीखें, तो सारा श्रम निरर्थक होगा। इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को उस ब्रह्म विद्या का बोध कराने को प्रस्तुत हुए। यहाँ ज्ञान और विज्ञान नामक दो विषयों का स्पष्टीकरण किया गया। ज्ञान का मतलब है १ शास्त्र जन्यज्ञान। याने शब्द ब्रह्म। विज्ञान का मतलब है कि अनुभव जन्य ज्ञान याने परब्रह्म।

पूर्ण रूप से दुःख राहित्य एवं आनंद की प्राप्ति अनुभवजन्य ज्ञान अर्थात् भगवान के तत्व की अनुभूति से ही संभव है। वाक् से संबंधित विद्याओं से नहीं। इसीलिए गीता में भगवान श्रीकृष्णने कई जगहों पर ज्ञान के साथ विज्ञान का भी अर्जन करने पर जोर दिया। "अशेषतः" कहा। इससे स्पष्ट होता है कि भगवान ने कहा कि ज्ञान और विज्ञान का बोध पूर्णरूप से कराता हूँ। शेष कुछ नहीं रहेगा। ज्ञान का मतलब १३ वें अध्याय में बताये गये अमानित्वादि गुण हैं। विज्ञान का मतलब ज्ञेय परब्रह्म ही हैं।

प्रश्न - जीव तरना चाहे तो किसे ज्ञात करना चाहिए ?

उत्तर - ज्ञान और विज्ञान को (अनुभवजन्य ज्ञान) ज्ञात करना चाहिए।

प्रश्न - अध्यात्म विज्ञान की महत्ता क्या है ?

उत्तर - उसे जान लें तो सब कुछ समझ में आ जाता है।

प्रश्न - किसे जानने से सब कुछ समझ में आता है ?

उत्तर - परब्रह्म को अनुभवपूर्वक जान सकें, तो सब कुछ समझ में आता है।

सम्बन्ध - अपने समग्र रूप के ज्ञान-विज्ञान को कहने की प्रतिज्ञा करके अब भगवान् अपने उस स्वरूप को तत्त्व से जानने की दुर्लभता का प्रतिपादन करते हैं -

३. मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।

शब्दार्थ - मनुष्याणाम् = मनुष्यों में। सहस्रेषु = हजारों में से। कश्चित् = कोई एक। सिद्धये = मोक्ष की सिद्धि के लिए। यतति = यत्न करता है। यतताम् = (वैसे) यत्न कर रहे। सिद्धानां अपि = मुमुक्षुओं में। कश्चित् = कोई एक। माम् = मुझे। तत्त्वतः = यथार्थ रूप से। वेत्ति = जानता है।

भावार्थ - हजारों मनुष्यों में कोई एक मेरी प्राप्ति के लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियों में भी कोई एक मेरे परायण होकर, मुझको तत्त्व से अर्थात् यथार्थ रूप से जानता है।

व्याख्या - संसार में करोडों लोग हैं। पर उनमें से आध्यात्मिक मार्ग पर चलनेवाले कम हैं। मोक्ष की प्राप्ति के लिए यत्न करनेवाले एकाध ही हैं। दौडने की स्पर्धा में भाग लेनेवाले आरंभ मे बहुत लोग रहते हैं। बीच में कुछ रुक जाते हैं। अंत में एक या दो व्यक्ति ही लक्ष्य तक पहुँच पाते हैं। पेड के बहुत फूल होते हैं। उनमें से कई फूल झर जाते हैं। कुछ कच्चे फल बनते हैं। उनमें से भी कई कच्चे फल झर जाते हैं। कुछ ही पके फलों के रूप में बचते हैं। मुमुक्षुओं की भी यही बात है। भगवान के प्रति भक्ति उत्पन्न होती हो, तो जन्म जन्म के पुण्य से भगवान के बारे में सोचते हैं। परमात्मा की खोज करते हुए अंत में उसे पा जाते हैं। यद्यपि पूर्वजन्म के पुण्य के कारण अध्यात्म मार्ग पर कुछ कदम रखते हैं, तथापि भगवान का साक्षात्कार होने तक यत्न करनेवाले तो बहुत कम बचते हैं। यही बात गीताचार्य इस श्लोक में बताते हैं।

आत्मा की अनुभूति बातों से नहीं होती। इसके लिए महान् पुरुष प्रयत्न, आग्रह और त्याग आवश्यक हैं। उस लक्ष्य तक आलसी पहुँच नहीं सकते। मुक्ति धाम तक जाने के मार्ग में कई बाधाएँ होती हैं। परीक्षाएँ होती हैं। उनमें उत्तीर्ण होनेवाले ही लक्ष्य तक पहुँचते हैं। सूप में सार ही बचा रहता है। थोथा सब उड जाता है। "तत्वतः" कहने से स्पष्ट है कि यद्यपि भगवान को जाननेवाले बहुत होते हैं, तथापि यथार्थ रूप से उन्हें जाननेवाले एकाध ही होते हैं। पशु से मानव जन्म पाना हो तो इसके लिए कई जन्म लगते हैं। पर मनुष्य से माधव बनने के लिए उतने जन्मों की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए समय को व्यर्थ न करें, प्रयत्न कर आत्मज्ञान पाकर जन्म को सार्थक करें, यह अत्यंत आवश्यक है।

प्रश्न - लोगों में मोक्ष की सिद्धि के लिए कितने व्यक्ति प्रयत्न करते हैं ?

उत्तर - हजारों लोगों में से कोई एकाध व्यक्ति प्रयत्न करते हैं।

प्रश्न - प्रयत्न करनेवालों में कितने व्यक्ति यथार्थ में भगवान को जानते हैं ?

उत्तर - सिर्फ एकाध ही जानते हैं।

सम्बन्ध - यहाँ तक भगवान् ने अपने समग्र स्वरूप के ज्ञान-विज्ञान कहने की प्रतिज्ञा और उसकी प्रशंसा की, अब ज्ञान-विज्ञान के प्रकरण का आरम्भ करते हुए पहले अपनी 'अपरा' और 'परा' प्रकृतियों का स्वरूप बतलाते हैं -

४. *भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।*
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।

शब्दार्थ - भूमिः = भूमि। आपः = जल। अनलः = अग्नि। वायुः = वायु। खम् = आकाश। मनः = मन। बुद्धिः = बुद्धि। अहंकार एव च = अहंकार को। इति = मानकर। मे इयं प्रकृतिः = मेरी यह प्रकृति। अष्टधा = आठ प्रकार। भिन्ना = विभाजित है।

भावार्थ - पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार भी - इस प्रकार यह आठ प्रकार से विभाजित मेरी प्रकृति है। यह आठ प्रकार के भेदोंवाली तो अपरा अर्थात् मेरी जड प्रकृति है।

व्याख्या - भगवान अपरा प्रकृति का वर्णन करते हैं। पंच भूत, मन, बुद्धि, अहंकार ये आठों अपरा प्रकृति हैं। प्रकृति जड है। पुरुष (आत्मा-ब्रह्म) एक ही चेतना स्वरूप है। प्रकृति दृश्य है, पुरुष दृक है। प्रकृति नाशवान है, पुरुष अविनाशी है। शाश्वत है। इस श्लोक में मन, बुद्धि और अहंकार ये तीनों पंच भूतों के समान माने गये। वे और पंचभूत एक श्रेणी में रखे गये। पंचभूत जड हैं। मन, बुद्धि आदि भी वास्तव में जड ही हैं। आमतौर पर लोग मन, बुद्धि एवं अहंकार को चेतनामय मानते हैं। लेकिन ऐसा समझना ठीक नहीं। वे भी जड ही हैं। वे भी पत्थर, मिट्टी तथा लकडी के समान हैं। इस तरह जब मन भी जड समझा जाएगा, तब उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। पाँचभौतिक पदार्थ की तरह वह भी पकड में आ जाता है। जड पदार्थ कभी भी चेतनामय वस्तु (आत्मा) पर अधिकार चला नहीं सकता। जो यह सत्य नहीं जानते, उन अज्ञानियों को वह खूब नचाता है। इसलिए मन को वश में

करने के लिए इस प्रकार के प्रकृति पुरुष संबंधी स्वरूप विज्ञान की परख जरूरी है।

प्रश्न - भगवान की अपरा प्रकृति कितनी प्रकार की है ? क्या क्या है ?

उत्तर - आठ प्रकार की है।

(१) पृथ्वी (२) जल (३) अग्नि (४) वायु
(५) आकाश (६) मन (७) बुद्धि (८) अहंकार।

५. अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

शब्दार्थ - महाबाहो = बडी बाहुओंवाले हे अर्जुन। इयम् = यह प्रकृति। अपरा = निकृष्ट। इत: तु = इससे। अन्याम् = अन्य। यया = जिससे। इदं जगत् = यह संसार। धार्यते = धारण किया जाता है। (ताम् = ऐसे) जीव भूताम् = जीव रूपा। मे = मेरी। प्रकृतिम् = प्रकृति को। पराम् = उत्कृष्ट। विद्धि = जानो।

भावार्थ - हे महाबाहो ! यह प्रकृति निकृष्ट है। इससे दूसरी को, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है, मेरी जीवरूपी परा अर्थात् चेतन प्रकृति जान।

व्याख्या - अब भगवान परा प्रकृति के बारे में बताते हैं। जो जीवरूपी है, जिससे सारा जग धारण किया हुआ है, वह पराप्रकृति है। यह भी अपराप्रकृति की तरह भगवान (पुरुष) के अधीन है। इसीलिए "मेरी प्रकृति" कहा गया। पराप्रकृति एवं अपराप्रकृति दोनों का विवरण उदाहरणों के द्वारा अब जान लें। एक घडा है। उसमें जल है। समझिए कि उस जल में सूर्य प्रतिबिंबित है । यहाँ घडा देह है। जल मन है। सूर्य का प्रतिबिंब (चिदाभासरूप) जीव है। सूर्य परमात्मा हैं। घडा और जल अपराप्रकृति है। सूर्य का प्रतिबिंब पराप्रकृति है। इन दोनों से परे विलक्षण सूर्य परापर प्रकृति के अतीत पुरुष है। श्री

शङ्कराचार्य ने अपनी "विवेक चूडामणि" में इस विषय का अच्छी तरह स्पष्टीकरण किया। जैसे -

घटं जलं तद्गतमर्क बिंबं
विहाय सर्वं दिवि वीक्ष्यतेऽर्कः।
तटस्थ एतत्रितयावभासकः
स्वयं प्रकाशो विदुषा यथा तथा॥ (विवेक चूडामणि-२२१)

अर्थात् घडा, जल, उसमें प्रतिबिंबित सूर्यबिंब, सब को त्यागकर, उनके साक्षी रहकर सब को प्रकाशित करनेवाले स्वयं प्रकाशवान परमात्मारूपी सूर्यबिंब का विज्ञ लोग आश्रय लेते हैं।

जिस तरह विकार सब, घट, जल एवं प्रतिबिंब में ही होते हैं, न कि सूर्य में। उसी प्रकार समस्त जगत् के विकार परापर प्रकृति में ही होते हैं, न कि विलक्षण आत्मा में। अपराप्रकृतिरूप पंचभूत, जड हैं। पराप्रकृतिरूप चिदाभास, चैतन्यरूप है। इसीलिए जीवभूत इस पराप्रकृति पर जड रूप यह जगत् आधारित है। अद्वैततत्व के अनुसार ये दोनों प्रकृतियाँ मिथ्या ही हैं। आभास मात्र बनकर रहती हैं। इनसे परे पुरुष (आत्मा) ही सत्य है। अतः मुमुक्षु को चाहिए कि वह परापर दोनों प्रकृतियों को पार करे और साक्षी बने आत्मा तक पहुँचे। जडत्व से जीवत्व बेहतर है। पर वह भी प्रकृति के अंतर्गत है। अतः मिथ्या ही है। स्वप्न के पत्थर एवं स्वप्न के जीव में जो अंतर है, वही अपरा एवं परा प्रकृतियों में है। स्वप्न का जीव यद्यपि स्वप्न के पत्थर से थोडा बेहतर है, तथापि दोनों स्वप्नरूप ही हैं। अतः वास्तव में वे नहीं के बराबर हैं। जागृत व्यक्ति वास्तव में सत्य है। इसी तरह जिसमें परापर प्रकृतियाँ दोनों आभासमात्र बनी हुयी हैं। परमात्मा ही सत्य है। यह विषय मुमुक्षु अच्छी तरह जान लें और जीव जगत् के विलक्षण साक्षी बने आत्मा का साक्षात्कार करें, तो भवबंधनों से मुक्त होंगे।

प्रश्न - पराप्रकृति का स्वरूप कैसा है?

उत्तर - (१) वह जीवरूप है (२) उसी पर यह सारा जग आधारित है (३) इसीलिए उत्कृष्ट है।

६. *एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।*
अहं कृत्स्नस्य जगत: प्रभव: प्रलयस्तथा॥

शब्दार्थ - सर्वाणि = समस्त। भूतानि = प्राणी। एतद्योनीनि = इन परापर प्रकृतियों से उत्पन्न। इति = ऐसा। उपधारय = जान लो। अहम् = मैं। कृत्स्नस्य = समस्त। जगत: = जगत् को। प्रभव: = प्रभव का। तथा = उसी प्रकार। प्रलय: = प्रलय का। मूल कारण हूँ।

भावार्थ - हे अर्जुन! तू ऐसा समझ कि सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियों से ही उत्पन्न होनेवाले हैं और मैं सम्पूर्ण जगत् का प्रभव तथा प्रलय हूँ, अर्थात् सम्पूर्ण जगत् का मूलकारण हूँ।

व्याख्या - जड चेतन प्रकृतियों से प्राणियों का उद्भव हो रहा है। इन दोनों से परे रहनेवाले परमात्मा उन प्रकृतियों के द्वारा जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं लय के प्रयोक्ता बन रहे हैं। इसलिए समस्त जगत् के कर्ता वास्तव में परमात्मा ही हैं। वे ही प्रकृति रूपी उपकरण के द्वारा सूत्रधार बनकर इस जगन्नाटक को चला रहे हैं। अधिष्ठानरूप परमात्मा पर आरोपित जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं लय का मूलकारण अधिष्ठान ही है। (परन्तु अद्वैत की दृष्टि में परमात्मा निर्विकार है। कुछ नहीं करता, और नहीं कराता, फिर भी साक्षी के रूप में स्थित है।)

प्रश्न - समस्त प्राणियों का आविर्भाव कैसे होता है ?

उत्तर - परापर प्रकृतियों से होता है।

प्रश्न - इस समस्त जगत् की सृष्टिस्थिति एवं लय के मूलकारण कौन है ?

उत्तर - परमात्मा ही (उन दो प्रकृतियों के द्वारा) इस जगत् की सृष्टि आदि करते हैं।

सम्बन्ध - इस प्रकार भगवान् ही समस्त विश्व के परम कारण और परमाधार हैं, तब स्वभावत: ही यह भगवान् का स्वरूप है और उन्हीं से व्याप्त है। अब इसी बात को स्पष्ट करने के लिए भगवान् कहते हैं -

७. मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

शब्दार्थ - धनञ्जय = हे अर्जुन ! मत्त: = मुझसे। परतरं = भिन्न। अन्यत् = और एक। किञ्चित् = कुछ भी। न अस्ति = नहीं है। सूत्रे = धागे में। मणिगणा इव = मणियों के सदृश। मयि = मुझ में। इदं सर्वं = यह समस्त जगत्। प्रोतम् = गुंथा हुआ है।

भावार्थ - हे धनञ्जय ! मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परम कारण नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्र में गुंथे सूत्र के मणियों के सदृश मुझ में गुँथा हुआ है।

व्याख्या - "भगवान कहाँ है ? कैसा है ?" इन प्रश्नों का उत्तर इस श्लोक में दिया गया है। दूध में मक्खन की तरह, तिल में तेल की तरह, मणियों में सूत्र की तरह, परमात्मा समस्त जगत् में व्याप्त है। ऐसी कोई जगह नहीं, जहाँ परमात्मा न हो। उससे भिन्न कोई वस्तु तीनों लोकों में नहीं है। यही सत्य इस श्लोक में बताया गया है। मणियों की माला सूत्र के बिना स्थिर नहीं रहती। मणियों का आधार सूत्र है। मणियों में स्वत: स्थिर होने की शक्ति नहीं है। सूत्र की वजह से ही वे स्थिर रहते हैं। सूत्र न हो तो वे बिखर जाते हैं। यद्यपि मणि अनेक होते हैं, तरह तरह के होते हैं, तथापि धागा तो एक ही होता है। चराचर जीव सब मणि जैसे हैं। परमात्मा सूत्र जैसे हैं। परमात्मा न हों, तो जीव सब स्थित नहीं रह सकते। सब जीवों को एक जगह इकट्ठा करनेवाले परमात्मा ही हैं। उनके आधार पर ही सब जीव चलते हैं। परन्तु मणियों की माला में मणि ही स्थूल रूप से दिखायी देते हैं। सूत्र दिखायी नहीं देता। सूक्ष्मदृष्टि को सूत्र दिखायी देता है। इसी प्रकार परमात्मा स्थूल दृष्टि को, चर्मचक्षुओं को दिखायी नहीं देते। ज्ञाननेत्र को ही दिखायी देते हैं।

कुछ लोग अज्ञान के कारण कहते रहते हैं कि हमें भगवान दिखायी नहीं देते। अगर हैं, तो हमें क्यों नहीं दिखायी देते ? इसलिए भगवान नहीं हैं। उनका यह कथन गलत है। मणियों की माला देखकर कोई कहे कि चूँकि सूत्र दिखायी नहीं देता, अतः सूत्र ही नहीं है तो उनकी बात कौन मानेगा ? वह पागलों की बकवास है। मणिमाला में स्थित सूत्र स्थूल दृष्टि को जैसे दिखायी नहीं देता, सूक्ष्म दृष्टि को जैसे दिखायी देता है, वैसे ही यद्यपि सारी सृष्टि में परमात्मा व्याप्त हैं तथापि ज्ञाननेत्र को ही दिखायी देते हैं।

सर्वगं सच्चिदानन्दं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते।
अज्ञानचक्षुर्नेक्षेतभास्वन्तं भानु मन्दवत्॥

(आत्मबोध, श्रीशङ्कराचार्य)

अर्थात् सर्वव्यापी सच्चिदानन्द परमात्मा को जाननेत्रवाला ही देख सकता है। प्रकाशवान सूर्य को जिस तरह अन्धा देख नहीं सकता, उसी तरह अज्ञानी परमात्मा को देख नहीं सकता।

जड में चेतनता को, नश्वर में शाश्वत को और विकार में निर्विकार को देख सकनेवाला एकमात्र ज्ञाननेत्र है। उपाधियाँ सब जड हैं। उनमें अंतर्निहित अन्तरात्मा को देख सकनेवाला ज्ञाननेत्र ही है। अज्ञानी बाहरी रूप को देखते हैं। उनकी दृष्टि वहीं रुक जाती है। कोई महान् पण्डित भी अगर बाह्य को ही देखता है, अन्तर को नहीं देखता, तो वह अज्ञानी ही है। जिस प्रकार 'X' किरणों के प्रसारण से (X-Rays) वस्तु की अंदरूनी विशेषतायें दिखायी देती हैं, उसी प्रकार विवेक रूपी किरणों का प्रसारण कर हर जीव एवं हर वस्तु में स्थित परमात्मा को देखना चाहिए। एक व्यक्ति के बाहरी रूप मात्र को देखनेवाला अधम है। मन को देखनेवाला मध्यम है। आत्मा को देखनेवाला उत्तम है। देह और मन प्रकृति के रूप हैं। जड हैं। पर आत्मा एक ही पुरुष है। चेतन है। इसलिए विज्ञ लोगों को उसी पर ध्यान देना चाहिए। भगवान के ऐसे वाक्य सुनने के बाद मनुष्यों को प्रयास करके

अपनी दृष्टि बदलनी चाहिए। स्थूल को ही नहीं, बल्कि सूक्ष्म रूप आत्मा को भी देखने का अभ्यास करना चाहिए। मुमुक्षुओं के लिए गीता का यह श्लोक मुख्य है। इस श्लोक में वर्णित मणिमाला के उदाहरण निम्न प्रकार हैं।

मणिमाला	जगत्
१. मणि	१. दृश्य पदार्थ
२. सूत्र	२. परमात्मा
३. मणि अनेक हैं। सूत्र एक है।	३. पदार्थ अनेक हैं। परमात्मा एक है।
४. सूत्र के बिना मणि स्थिर नहीं रहते।	४. परमात्मा न हो तो जगत् के पदार्थ स्थिर नहीं रह सकते।
५. स्थूलदृष्टि को सूत्र दिखायी नहीं देता।	५. अज्ञानी की दृष्टिको परमात्मा दिखायी नहीं देता।
६. विवेक की दृष्टि को सूत्र दिखायी देता है।	६. ज्ञानी की दृष्टि को परमात्मा दिखायी देता है।

प्रश्न - जगत् का वास्तविक स्वरूप क्या है?

उत्तर - परमात्मा के बिना इस जगत् में अन्य पदार्थ एक भी नहीं है।

प्रश्न - जगत् में परमात्मा किस प्रकार व्याप्त हैं ?

उत्तर - मणियों में सूत्र की तरह व्याप्त हैं।

प्रश्न - भगवान के दर्शन के लिए क्या करना चाहिए ?

उत्तर - विवेक की दृष्टि (ज्ञान दृष्टि) प्राप्त करनी चाहिए।

सम्बन्ध - सूत्र और सूत्र के मणियों के दृष्टान्त से भगवान् ने अपनी सर्वरूपता और सर्वव्यापकता सिद्ध की। अब भगवान् अगले चार श्लोकों द्वारा इसीको भलीभाँति स्पष्ट करने केलिए उन प्रधान-प्रधान सभी वस्तुओं के नाम लेते हैं, जिनसे इस विश्व की स्थिति है और साररूप से उन सभी को अपने से ही ओतप्रोत बतलाते हैं ।

८. रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ।।

शब्दार्थ - कौन्तेय = हे अर्जुन! अहम् = मैं। अप्सु = जल में। रसः = स्वाद। शशिसूर्ययोः = चंद्र सूर्य में। प्रभा = प्रकाश। सर्ववेदेषु = सब वेदों में। प्रणवः = ओंकार। खे = आकाश में। शब्दः = शब्द। नृषु = मनुष्यों में। पौरुषम् = पौरुष। अस्मि = हूँ।

भावार्थ - हे अर्जुन ! मैं जल में रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश हूँ, सम्पूर्ण वेदों में ओंकार हूँ, आकाश में शब्द और पुरुषों में पुरुषत्व हूँ।

व्याख्या - पिछले श्लोक में भगवान ने कहा कि समस्त चराचर जीवराशि में मणिमाला के सूत्र की भाँति मैं व्याप्त हूँ। उस सत्य को सिद्ध करने केलिए कुछ वस्तुओं का उल्लेख कर बताते हैं कि उनमें वे कैसे व्याप्त हैं। कहते हैं कि जल में स्वाद की तरह, सूर्य चन्द्र में प्रकाश की तरह, वेदों में ओंकार की तरह, आकाश में शब्द की तरह और मनुष्यों में पराक्रम की तरह वे व्याप्त हैं। इससे स्पष्ट होता है कि हर वस्तु और हर प्राणी में परमात्मा हैं। स्वाद न हो तो जल नहीं। स्वाद और जल का सन्निकट सम्बन्ध है। स्वाद ही जल है। जल ही स्वाद है। इसी तरह प्रकाश ही सूर्य है। सूर्य ही प्रकाश है। प्रकाश रहित सूर्य की कोई कल्पना ही नहीं कर सकता। इसी तरह सभी वस्तुओं के बारे में कल्पना की जा सकती है। भगवान की सर्वव्यापकता को जानना आरंभ में मुश्किल है। अतः साधारण लोगों को विश्वास दिलाने के लिए कई चीजें उदाहरण के रूप में यहाँ दी गयी हैं। भगवान ने कहा कि वेदों में वे ओंकार के रूप में हैं। इससे स्पष्ट है कि वेदों का सार ओंकार है। "सर्व वेदेषु" कहा गया। इससे स्पष्ट है कि सब वेदों का सार ओंकार ही है। ज़ीवों की आयु बहुत कम है। परन्तु वेद अनन्त हैं। अतः उनके सार को जानकर अनुष्ठान करना चाहिए। तब जीवन धन्य होता है। वह सार ओंकार ही है। अतः उस प्रणव का जप करते हुए, प्रणव के अर्थ का चिंतन करते हुए प्रणव रूप परमात्मा का ध्यान करने पर परमपद प्राप्त होगा।

भगवान ने कहा कि मनुष्यों में पराक्रम (उत्साह एवं धैर्य) के रूप में मैं हूँ। इससे स्पष्ट है कि सुगुण, मनुष्यों के लिए अत्यावश्यक है। जहाँ धैर्य, पराक्रम तथा उत्साह वास करते हैं, वहाँ स्वयं भगवान रहते हैं। जहाँ कायरता, निराशा, निरुत्साह एवं उदासीनता का वास होता है, वहाँ भूत प्रेत रहते हैं। अतः मनुज को दुर्बलता आदि त्यागकर सुगुणों को अपनाना चाहिए। तभी मनुज का जीवन धन्य होगा।

प्रश्न - उदाहरण देकर बताओ कि भगवान किन किन चीजों में किन किन रूपों में रहते हैं ?

उत्तर - (१) जल में स्वाद की तरह। (२) चन्द्र और सूर्य में प्रकाश की तरह। (३) वेदों में प्रणव नाद की तरह। (४) आकाश में शब्द की तरह (५) मनुष्यों में पराक्रम की तरह परमात्मा हैं।

९. *पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।*
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥

शब्दार्थ - पृथिव्यां = पृथ्वी में। पुण्यः गन्धः च = पवित्र गन्ध। विभावसौ= अग्नि में। तेजः च = तेज। अस्मि = हूँ। सर्वभूतेषु = सब प्राणियों में। जीवनम् = प्राण। तपस्विषु = तप करनेवालों में। तपः च = तप। अस्मि = हूँ।

भावार्थ - मैं पृथ्वी में पवित्र गंध और अग्नि में तेज हूँ तथा सम्पूर्ण भूतों में उनका जीवन हूँ और तपस्वियों में तप हूँ।

व्याख्या - गन्ध रहित भूमि, तेज रहित अग्नि, प्राण रहित प्राणी और तपस्या विहीन तपस्वी के बारे में हम सोच ही नहीं सकते। अतः इससे स्पष्ट है कि उन उन वस्तुओं का सार ही परमात्मा है। अतः परमात्मा सभी पदार्थों में व्याप्त हैं।

१०. *बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।*
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥

शब्दार्थ - पार्थ = हे अर्जुन। मामु = मुझे। सर्व भूतानां = समस्त प्राणियों का। सनातनम् = शाश्वत। बीजम् = बीज। विद्धि = जानो। बुद्धिमताम् = बुद्धिमानों की। बुद्धिः = बुद्धि। तेजस्विनां = तेजस्वियों का। तेजः = तेज। अस्मि = हूँ।

भावार्थ - हे अर्जुन ! तू सम्पूर्ण भूतों का सनातन बीज मुझ को ही जान। मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूँ।

व्याख्या - "बीजं मां सर्वभूतानां" कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि सभी प्राणियों का बीज (मूल) वह परमात्मा ही है। उसीसे सब का उद्भव हो रहा है। चूँकि सभी का बीज परमात्मा ही है, अतः बडे छोटे ऊँच नीच का कोई भेद नहीं है। अतः सभी को पुण्य पथ पर चलने का प्रयत्न करना चाहिए। किसी को दुःखी नहीं बनना चाहिए। सब का गोत्र परब्रह्म ही है। बीज का स्वभाव ही वृक्ष में रहता है। इसलिए सभी वास्तव में ब्रह्मस्वरूप ही हैं। अविद्या के कारण आदमी समझता है कि मैं अल्प हूँ। जीव हूँ। इसलिए वह देह एवं दृश्य पर मोहित है। भगवान के बताये ऐसे वाक्य सुनने से अविद्या दूर होगी और मनुष्य समझ लेगा कि मैं सनातन हूँ। आत्मस्वरूप हूँ। तब वह आनंदविभोर होगा। भगवान ने गीता में कहीं भी नहीं कहा कि फलाना आदमी नीच है। चंडाल है। निम्न जातवाला है। भगवान तो कहते हैं कि मनुष्य का बीज सनातन है। परमात्मा है। ऐसा ज्ञान बोध आज संसार के लिए बहुत जरूरी है। आज संसार में जो कुंठित हैं, जो दबे पडे हैं, उन्हें ऐसा ज्ञान-बोध ऊपर उठाएगा। लहर छोटी है, तोभी कोई परवाह नहीं। क्योंकि उसके पीछे बीज एवं आधार के रूप में महान सागर है। इसी प्रकार मनुष्य को समझना चाहिए कि उसका मूल उसका पिता नहीं, दादा नहीं और परदादा नहीं। उसका मूल तो स्वयं परमात्मा हैं। इसीलिए ब्राह्मण आज भी सन्ध्यावन्दन करते समय [illegible] में प्रवर बताते हुए गोत्र का नाम लेकर किसी

महर्षि का नाम लेते हैं। अपने कुल के पूर्व पुरुषों के नाम नहीं लेते। "बीजं मां सर्वभूतानां" कहकर भगवान लोगों को संदेश देते हैं कि हे जीवधारियों ! तुम अपने को कभी, नीच, दीन, हीन मत समझो। सब का मूल बीज मैं हूँ। वह साधारण बीज नहीं है। शाश्वत (सनातनम्) है। अतः तुम सब मेरी परंपरा के हो। तुम्हारा मूल पुरुष मैं ही हूँ। तुम सब दैव के वंशज हो। वृक्ष एवं उसके बीज में कोई अंतर नहीं होता। तुम सब वृक्ष के रूप हो। उस वृक्ष का मैं बीज हूँ। मैं सनातन हूँ। अतः तुम भी सनातन हो। शाश्वत हो। सांसारिक दुःखों से मुक्त होओ। अपने निज स्वरूप को पहचानो। उठो, जागो, पुण्यपथ पर आगे बढो।"

प्रश्न - समस्त प्राणियों के बीज कौन हैं ?

उत्तर - परमात्मा ही हैं।

प्रश्न - उसका स्वरूप कैसा है ?

उत्तर - शाश्वत है। (सनातन है)।

११. बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥

शब्दार्थ - भरतर्षभ = भरतकुल के श्रेष्ठ हे अर्जुन ! अहम् = मैं। बलवताम्= बलवानों का। काम राग विवर्जितम् = आसक्ति एवं कामनाओं से रहित। बलम् = बल। भूतेषु = प्राणियों में। धर्माविरुद्धः = धर्मसम्मत। कामः = कामना। अस्मि = हूँ।

भावार्थ - हे भरतश्रेष्ठ ! मैं बलवानों का आसक्ति और कामनाओं से रहित बल अर्थात् सामर्थ्य हूँ और सब भूतों में धर्म के अनुकूल अर्थात् शास्त्र के अनुकूल काम हूँ।

व्याख्या - शक्तिशाली होना अच्छा ही है। परन्तु यह आवश्यक है कि वह कामी न हो, रागी न हो। विषय वासनाओं पर आसक्त न हो, दृश्य वस्तुओं

के प्रति आकर्षित न हो। यह आवश्यक है कि मनुष्य की शक्ति दैवी कार्यों, परोपकार तथा पारमार्थिक साधना में काम आवे। जो शक्ति काम, राग, विषय वासनाओं की तृप्ति में लगती है, वह निकृष्ट है। वह पशुबल है। वह आसुरी शक्ति है। भगवान के निवास के लिए वह अनुकूल नहीं है। 'वर्जितम्' न कहकर "विवर्जितम" कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि शक्ति में काम और राग के लिए स्थान नहीं है।

भगवान ने कहा है कि धर्म एवं शास्त्र के आदेश के विरुद्ध जो कामना नहीं होती, वह मैं ही हूँ। जब कामना का दुरुपयोग किया जाता है, तब वह आसुरी बन जाती है। जब उसका सदुपयोग किया जाता है, तब वह दैवी बन जाती है। देह धारण के लिए आवश्यक आहार की इच्छा एवं गृहस्थों में सत्संतान पाने की कामना धर्म के अनुकूल है। वह दोषरहित है। इसलिए भगवान ने कहा कि वैसी इच्छा का रूप मैं ही हूँ। यहाँ कुछ लोग पूछ सकते हैं कि भगवान एक तरफ सभी कामनाएँ त्यागने को कहते हैं, जैसे (प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्)। फिर यहाँ क्यों कहते हैं कि जो धर्म के विरुद्ध नहीं, वह कामना मैं ही हूँ। उसका समाधान निम्न प्रकार है - इच्छा तीन प्रकार की होती है। (१) बुरी (२) अच्छी (३) असल में इच्छा का न होना। आरंभ में साधक को चाहिए कि वह बुरी इच्छाओं को त्याग दे, अच्छी इच्छाओं को अपनावे। जो धर्म के विरुद्ध न हों, उन इच्छाओं को स्वीकार करे। (दुष्ट संकल्पों को त्यागकर सत्संकल्पों को अपनावे) अर्थात् परोपकार संबंधी इच्छा, जन्म को धन्य बनाने की इच्छा, भगवान का ध्यान करने की इच्छा, गृहस्थ हो तो सत्संतान पाने की इच्छा और पुण्यकार्य करने की इच्छा आदि आरंभ में साधक कर सकता है। फिर धीरे धीरे साधना करते करते उसे इच्छा रहित होना चाहिए। इससे आत्मस्थिति प्राप्त होगी। अतः यहाँ अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि गीताचार्य ने धर्मसम्मत इच्छाओं को सराहा है। धर्मच्युत इच्छाओं का खंडन किया है। साधकों को यह भी जान लेना चाहिए कि इच्छाओं को त्यागने पर ही निर्विषयिक आत्मस्थिति प्राप्त होगी।

सम्बन्ध - इस प्रकार प्रधान-प्रधान वस्तुओं में साररूप से अपनी व्यापकता बतलाते हुए भगवान् ने प्रकारान्तर से समस्त जगत् में अपनी सर्वव्यापकता और सर्वस्वरूपता सिद्ध कर दी, अब अपने को ही त्रिगणमय जगत् का मूल कारण बतलाकर इस प्रसंग का उपसंहार किया।

१२. ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥

शब्दार्थ - सात्विका: = सत्वगुण से उत्पन्न होनेवाले। भावा: = भाव। ये = जो। (हैं)। राज सा: च = रजोगुण से। तामसा: च = तमोगुण से युक्त। ये = जो। (हैं)। तान् = उन्हें। मत्त: एव इति = मुझसे ही उत्पन्न। विद्धि = जानो। तु = लेकिन। तेषु = उनमें। अहम् = मैं। न = नहीं हूँ। ते = वे। मयि = मुझमें। (सन्ति = हैं)।

भावार्थ - और भी जो सत्त्वगुण से उत्पन्न होनेवाले भाव हैं और जो रजोगुण से तथा तमोगुण से होनेवाले भाव हैं, उन सबको तू 'मुझ से ही होनेवाले हैं' ऐसा जान। परंतु वास्तव में उनमें मैं और वे मुझमें नहीं हैं।

व्याख्या - आधार के बिना आधेय नहीं टिकता। इस समस्त जगत् एवं उसके पदार्थों का मूल आधार परमात्मा है। उनकी शक्ति वे पा रहे हैं। जिस प्रकार भ्रम से रज्जु में गोचरित होनेवाले साँप के लिए रज्जु मूलकारण बना हुआ है। इसीलिए भगवान ने कहा है कि सात्विक आदि गुणों से उद्भूत समस्त पदार्थ मेरे ही से बने हैं। इससे स्पष्ट है कि जगत् के सब पदार्थ परमात्मा पर आधारित हैं। परन्तु परमात्मा उन पर आधारित नहीं हैं। सांप रज्जु में है। पर रज्जु सांप में नहीं है। अर्थात् सांप रज्जु पर आधारित है, पर रज्जु सांप पर आधारित नहीं है। लहरें समुंदर पर आधारित हैं, पर समुदंर लहरों पर आधारित नहीं है। "वे मुझ में हैं, पर मैं उन में नहीं हूँ" भगवान के इस कथन का यही अर्थ है।

"न त्वहं तेषु तेमयि" इस वाक्य का अर्थ और एक भी लिया जा सकता है। जैसे (अहं तेषु न, ते मयि न) अर्थात् मैं उन में नहीं हूँ, वे मुझ में नहीं हैं। यह पूर्ण अद्वैतस्थिति बतलानेवाला वाक्य है। यह दृश्य जगत् स्वप्न प्राय है। वास्तव में वह है नहीं। अतः जो नहीं है, उसमें परमात्मा कैसे रह सकते हैं ? जो है नहीं, वह जगत् परमात्मा में कैसे रहेगा ? इस श्लोक का प्रथम पाद और दूसरे पाद का प्रथमभाग द्वैत एवं विशिष्टाद्वैत तत्व का बोध कराते हैं। द्वितीय पाद का उत्तर भाग अद्वैत तत्व को सूचित करता है। गीता में पूर्ण अद्वैत स्थिति का बोध कहीं कहीं कराया गया है। उन में से यह अंश एक है। इस श्लोक में बताया गया कि राजस एवं तामस भाव परमात्मा से ही उत्पन्न हुए हैं। इस कथन से किसीको यह नहीं समझना चाहिए कि इससे दुष्ट भावनाओं को प्रोत्साहन मिल रहा है। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया कि उन सब का अधिष्ठान परमात्मा ही है।

प्रश्न - परमात्मा कैसा है ?

उत्तर - सत्व, रज एवं तम इनसे जनित समस्त वस्तुओं के वे आधारभूत हैं। वे परमात्मा के वश में हैं। पर परमात्मा उनके वश में नहीं हैं।

१३. त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

शब्दार्थ - एभिः = ये जो बताये गये। त्रिभिः = तीनों तरह के। गुणमयैः = गुणों के। भावैः = भावों से। सर्वं इदं जगत् = यह सारा जगत्। मोहितम् = मोहित। एभ्यः = इन तीन गुणों से। पूरम् = भिन्न। (परे)। अव्ययम् = नाशरहित। माम् = मुझ को। न अभिजानाति = नहीं जानता।

भावार्थ - गुणों के कार्यरूप सात्त्विक, राजस और तामस - इन तीनों प्रकार के भावों से यह सारा संसार - प्राणिसमुदाय मोहित हो रहा है, इसीलिये इन तीनों गुणों से परे मुझ अविनाशी को नहीं जानता।

व्याख्या - घने बादलों के पीछे रहने पर सूर्य को जिस तरह लोग देख नहीं पाते, उसी तरह त्रिगुणों से परे परमात्मा को, त्रिगुणों तथा विकारों के वशवर्ती लोग देख नहीं पाते। गूलर के फल के कीडों की तरह त्रिगुणों के वशवर्ती लोग विकारों के मायालोक में घूमते रहते हैं। तत्व विचार रूपी झंझावार्त से जब लोग उस त्रिगुणात्मक माया मेघों को हटा देंगे, तब उनका निज स्वरूप अर्थात् उनकी आत्मा उज्वल होगी। तब उन्हें आत्मसाक्षात्कार होगा।

इस श्लोक में बताया गया कि जीव किस प्रकार त्रिगुणात्मक मायालोक में परिभ्रमण कर रहा है। अगले श्लोक में बताया गया कि जीव इस बन्धन से कैसे छूट सकेगा। हर मनुष्य को समझ लेना चाहिए कि वह त्रिगुणात्मक मायालोक में फंसा हुआ है। वह उससे छूटने का प्रयत्न कर सकता है। ''सर्व मिदं जगत्'' कहा गया। इसके अनुसार धनी, निर्धन, बली, महाबली, सुंदर, असुंदर सब इस बन्धन में बन्धे हुए हैं। उन सब का कर्तव्य है कि वे इस बन्धन से छूटने का प्रयत्न करें। ''तमसस्तुपारे'' के अनुसार परमात्मा तमस (अज्ञान) के पर्दे के पीछे हैं। उनके दर्शन के बिना सांसारिक दुःख दूर नहीं होंगे। इस के लिए भगवान एवं जीव के बीच के पर्दे को हटा देना जरूरी है। भक्ति, वैराग्य, निष्काम कर्म तथा रजोगुण दूर कर सत्वगुणी बनना चाहिए। फिर उसे भी पारकर केवल आत्मस्थिति पानी चाहिए। वही मोक्ष है।

कुछ लोग पूछते हैं कि भगवान मुझे क्यों नहीं दिखायी देते ? उसका जवाब इस श्लोक में दिया गया। जब तक लोग त्रिगुणात्मक मायालोक में फंसे रहेंगे, तब तक वे भगवान के दर्शन नहीं कर सकेंगे। आंख की बीमारी से त्रस्त मनुष्य कहे कि मुझे कुछ दिखायी नहीं देता, तो उसका कोई मतलब नहीं रहता। बीमारी दूर कर ले, तो उसे सब कुछ दिखायी देगा। यही बात मोह जाल में फंसे लोगों के लिए भी लागू होती है। भगवान के दर्शन का एक मात्र उपाय मायाजाल से छुटकारा पाना ही है।

प्रश्न - परमात्मा कैसा है ?

उत्तर - वह अव्यय है। अविनाशी है।

प्रश्न - वह कहाँ रहता है ?

उत्तर - त्रिगुणों से परे रहता है। (त्रिगुण, सत्व, रज एवं तम)।

प्रश्न - जीव उसे क्यों समझ नहीं पाते ?

उत्तर - जीव त्रिगुणों के इस पार हैं। इसीलिए त्रिगुणों के उस पार स्थित परमात्मा को समझ नहीं पाते।

प्रश्न - भगवान को जानने का उपाय क्या है ?

उत्तर - भक्ति, निष्काम कर्म आदि साधनों को आचरण में लाकर त्रिगुणों को पार करना चाहिए। यही एक मात्र उपाय है।

१४. दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

शब्दार्थ - हि = क्योंकि। दैवी = अलौकिक शक्तिशाली। गुणमयी = त्रिगुणात्मक। एषा = यह। मम = मेरी। माया = माया। दुरत्यया = दुस्तर है। मां एव = मुझ को ही। ये = जो। प्रपद्यन्ते = शरण्य मानते हैं। ते = वे। एतां मायां = इस माया से। तरन्ति = तरते हैं।

भावार्थ - क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है; परन्तु जो पुरुष केवल मुझ को ही निरन्तर भजते हैं, वे इस माया को उल्लङ्घन कर जाते हैं, अर्थात् संसार से तर जाते हैं।

व्याख्या - इस श्लोक में बताया गया कि माया के पर्दे को किस तरह हटाना चाहिए। मुमुक्षु के लिए यह श्लोक बहुत आवश्यक है। इसे कंठस्थ कर लेना चाहिए। निरंतर इसका मनन करना चाहिए।

भगवान और जीव के बीच एक ऊँची दीवार है। इसीका नाम माया है। पाप का पर्दा फट जाय, तो परमात्मा का दर्शन होगा। पर इस माया के

पर्दे को कैसे फाडें ? इस प्रश्न का सही उत्तर इस श्लोक में मिलता है। भगवानने माया की चार विशेषताएँ बतायीं। (१) दैव सम्बन्धी अर्थात् अलौकिक (२) त्रिगुणात्मक (३) भगवान के वशवर्ती (४) पार करने के लिए दुस्साध्य। इन चार विशेषताओं पर विचार करना आवश्यक है।

(१) दैव सम्बन्धी - इससे स्पष्ट होता है कि यह साधारण माया नहीं है। असामान्य है। भगवान् से संबंधित है। शक्तिशाली है। अलौकिक है। इसीको वैष्णवी माया कहते हैं। यह इतनी शक्तिशाली है कि राजा-महाराजा, और इन्द्र-चन्द्र आदि को भी जनन-मरण एवं अज्ञान के चककर में डाल देती है। इसके सामने मनुष्य की अक्ल कुछ काम नहीं करती। यह दैवी माया है। अतः दैवी साधनों के द्वारा ही इससे छुटकारा पाया जा सकता है।

(२) गुणमयी - इससे स्पष्ट है कि यह माया त्रिगुणात्मक है। 'कबीर का कथन है कि तिरगुन फांस लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी।' माया का कोई निश्चित आकार नहीं है। तीन गुण ही उसके आकार हैं। इसीलिए गुणमयी कही गयी है। इनमें से एक एक गुण को साधक पार करता जाय तो अंत में आत्मस्थिति तक पहुँच सकेगा। पिछले श्लोक में भगवान ने कहा कि इस त्रिगुणात्मक माया के बन्धन में बंधकर जीव परमात्मा के दर्शन नहीं कर पा रहे हैं।

(३) "मम" (मेरी) माया कहा गया। इससे स्पष्ट है कि यह माया भगवान के वश में है। पालतू जानवर जिस प्रकार मालिक से हिल मिलकर उनके वश में रहते हैं, उसी प्रकार माया भगवान के वश में है। यह माया सामान्य जनों को बहुत सताती है, परन्तु भगवान के यहाँ दबकर पडी रहती है। सामान्य लोग माया से डरते हैं। पर वह ज्ञानियों के सामने हाथ जोडकर पडी रहती है। समुंदर भयंकर लगता है। परन्तु गरुड के लिए वह कुछ भी नहीं है। आसानी से गरुड समुंदर को पार करता है। मच्छर के लिए जल की एक छोटी सी बूंद समुंदर जैसी लगती है। इसी प्रकार सांसारिक मायाजाल में

फंसे सामान्य जनों के लिए माया महान् शक्तिवान और अजेय लगती है। परन्तु वह भगवान के वश में रहकर एक साधन के रूप में उनके काम आती है। यही वजह है कि भगवान ने "मम माया" मेरी माया, मेरी वश वर्तिनी माया कहकर उसका स्पष्टीकरण किया।

(४) **दुरत्यया** - माया को पार करना दुस्साध्य है, पर असाध्य नहीं है। जो लोग मन और इन्द्रियों के दास बने रहते हैं, वे माया को जीत नहीं सकते। आत्मज्ञानी, भक्ति वैराग्य आदि साधनों के विशेषज्ञ ही उसे जीत सकते हैं। यह बात इस श्लोक के दूसरे चरण में भगवान बताते हैं।

इस प्रकार माया के भयंकर स्वरूप को जानकर हमें भयभीत नहीं होना चाहिए। यद्यपि समुंदर महान् है, भयंकर है, तथापि एक जहाज का सहारा लें, तो उसे पारकर सकते हैं। इसी प्रकार इस माया रूपी सागर को पार करने के लिए भगवानने इस श्लोक में आसान उपाय सूचित किया। वही भक्ति है। भगवान का आश्रय, भगवान की शरणागति, आत्मचिंतन ये ही सरल उपाय हैं। परमात्मा बडी करुणा करके बताते हैं कि जो मेरी शरण में आते हैं वे इस भयानक समुंदर को आसानी से पार कर सकते हैं। श्रीशंकराचार्य ने भी कहा कि -

अपार संसार समुद्र मध्ये
समज्जतो मे शरणं किमस्ति
गुरो कृपालो कृपया वदैत
द्विश्वेश पादाम्बुज दीर्घ नौका॥ (श्रीशंकराचार्य)।

अर्थात्- शिष्य - हे दयालु ! बताइए कि इस अपार संसार सागर में डूब रहे मेरे लिए शरण्य क्या है ?

गुरु - भगवान के चरण कमल रूपी नौका के आश्रय में जाओ, तर जाओगे।

इससे स्पष्ट है कि भगवान की शरणागति ही एक मात्र उपाय है।

माया को जीतना हो या उसे पार करना हो तो उसे जो जीत चुके हैं या पार कर चुके हैं, उनके चरणों का आश्रय लेना चाहिए। कुछ भवनों के

सामने रखवाली करनेवाले कुत्ते रहते हैं। वे बाहर के लोगों को अन्दर प्रवेश करने नहीं देते। परन्तु मालिक को हम राजी कर लें तो कुत्ते चुप रह जाते हैं। इसी तरह माया भी, भगवान को प्रसन्न कर लें, तो चूं तक नहीं करती। साधकों को मार्ग पर चलने देती है। जीवन्मुक्त महापुरुष भी भगवान की कृपा के पात्र बनकर मांया को पार करते हैं। ऐसे महात्माओं की सेवा मुमुक्षुओं के बहुत काम आती है। भगवान ने स्पष्ट कहा है कि -

"**तरन्तिते**" (जो मेरे आश्रय में आते हैं, वे माया को अवश्य पार कर सकते हैं। अब किसी को भी इस के बारे में संकोच नहीं करना चाहिए। भगवान एवं भगवान के भक्तजनों के आश्रय में जाना चाहिए। "**मामेव**" (मुझ ही को) कहा गया। यहाँ 'एव' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि एक परमात्मा का ही आश्रय लेना चाहिए। अतः स्पष्ट है कि मुक्ति प्राप्त करने का साधन हर व्यक्ति के हाथ में है। भगवान का आश्रय लें, तो जीव तर जाएंगे। विषय वासनाओं का आश्रय लें, तो पतन के गर्त में गिर जाएंगे। अतः लोगों को चाहिए कि वे भगवान के आश्रय में जायँ और अपने जीवन को सार्थक एवं धन्य बना लें। (भगवान की शरण में जाने का मतलब है, उन पर अनन्य भक्ति रखना, भगवत्कार्य करना, आत्मचिंतन एवं आत्मध्यान करना और दैवी गुणों से युक्त रहना आदि)।

प्रश्न - माया कैसी है ?

उत्तर - (१) दैव सम्बन्धी (अलौकिक सामर्थ्यवाली) (२) त्रिगुणात्मक (३) भगवान के वशवर्ती (४) पार करने के लिए दुस्साध्य।

प्रश्न - ऐसी भयंकर माया को किस तरह पार कर सकते हैं ?

उत्तर - जो भगवान की शरण में जाते हैं, वे इस माया समुंदर को आसानी से पार कर सकते हैं। बाकी लोग पार नहीं कर सकते।

१५. ***न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।***
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

शब्दार्थ - दुष्कृतिनः = पाप कर्म करनेवाले। मूढाः = बुद्धिहीन। मायया =

माया से । अपहृत ज्ञानाः = हरे जा चुके ज्ञानवाले । असुरम् = आसुरी । भावम् = स्वभाव को । आश्रिताः = धारण किये हुए । नराधमाः = नीच जन । माम् = मुझे । न प्रपद्यन्ते = नहीं पाते ।

भावार्थ - माया के द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, ऐसे आसुर-स्वभाव को धारण किये हुए, मनुष्यों में नीच, दूषित कर्म करनेवाले मूढ लोग मुझको नहीं भजते ।

व्याख्या - पिछले श्लोक में बताया गया कि जो भगवान की शरण में जाते हैं, वे माया को पार कर सकते हैं । अब प्रश्न उठता है कि क्या सभी लोग भगवान की शरण में जा सकते हैं ? इसका उत्तर है 'नहीं' । मूढ, दुरात्मा, अहंकारी, विषय लोलुप भगवान की शरण में नहीं जा सकते । दैवी गुण संपन्न भक्त ही उनकी शरण में जा सकते हैं । माया या अज्ञान बहुत बडा चोर है । उसे हृदय में स्थान नहीं देना चाहिए । जरा भी घुसने दें, तो वह चोर हमारा सब कुछ लूट लेगा । मनुष्य को वह नराधम बना देगा । माया माने क्या है ? पाप की वासनाएँ, काम-क्रोध, राग-द्वेष तथा विषय-विकार आदि सब मिलें, तो माया का रूप धारण करते हैं । विवेक, वैराग्य, भक्ति-श्रद्धा और भगवान के आश्रय आदि के द्वारा उस माया रूपी चोर को हृदय कुहर से निकाल बाहर करना चाहिए । ऐसा न करें, तो मनुष्य मूर्ख, पापी, नराधम, अज्ञानी तथा राक्षस के रूप में बदल जाएगा । माया के प्रभाव से ऐसा होता है ।

प्रश्न - भगवान के आश्रय में कौन नहीं जाते ?

उत्तर - (१) पापी (२) मूर्ख (३) नराधम (४) माया के द्वारा अपहृत विवेकी (५) असुर स्वभाव से प्रभावित (फलस्वरूप वे संसार के दुःख सागर में डूबते रहते हैं ।)

प्रश्न - मनुष्य के ज्ञान (विवेक) को चुरानेवाला चोर कौन है ?

उत्तर - माया ।

सम्बन्ध - पूर्वश्लोक में भगवान ने यह बतलाया कि पापात्मा आसुरी प्रकृतिवाले मूढ लोग मेरा भजन नहीं करते। इससे यह जिज्ञासा होती है कि फिर कैसे मनुष्य आपका भजन करते हैं ? इस पर भगवान् कहते हैं -

१६. चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

शब्दार्थ - भरतर्षभः = भरतवंश के श्रेष्ठ। अर्जुन = हे अर्जुन। आर्तः = आर्त। जिज्ञासुः = जिज्ञासु। अर्थार्थी = अर्थ चाहनेवाला। ज्ञानी च = ज्ञानी। चतुर्विधाः = चार प्रकार के। सुकृतिनः = पुण्यात्मा। जनाः = जन। माम् = मुझे। भजन्ते = भजते हैं।

भावार्थ - हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! उत्तम कर्म करनेवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी - ऐसे चार प्रकार के भक्तजन मुझ को भजते हैं।

व्याख्या - जो भगवान का सेवन नहीं करते, उनके बारे में पिछले श्लोक में बताया गया। अब सेवन करनेवालों के बारे में बताया जा रहा है। ऐसे भक्त चार प्रकार के होते हैं। (१) आर्त (२) जिज्ञासु (३) धनार्थी (४) ज्ञानी। यहाँ बताया गया कि ये सब किसी न किसी तरह भगवान का स्मरण करते हैं। इसलिए ये सभी पुण्यात्मा हैं। परन्तु जिस हेतु को लेकर वे परमात्मा का सेवन करते हैं, उसके अनुसार उनमें अंतर होता है।

इनमें पहला **आर्त** है। मुसीबत आ जाय, तो यह आर्त भगवान का स्मरण करता है। प्रार्थना करता है। विपत्ति के समय बालाजी या और किसी भगवान का स्मरण करता है। ऐसे लोग आम तौर पर ज्यादा रहते हैं। विपत्ति के समय भगवान की प्रार्थना करनेवाले आदि सब इस श्रेणी में आते हैं। जो कुछ भी हो, ऐसे आर्त लोग भगवान का स्मरण करने के कारण पुण्यात्मा ही माने जाते हैं।

दूसरा **जिज्ञासु** है। संसार में यद्यपि भगवान का तत्व जानने के इच्छुक

बहुत ज्यादा रहते हैं, तथापि दैव संबंधी जिज्ञासु बहुत कम रहते हैं। आमतौर पर ज्यादा लोग दृश्य पदार्थों का चिंतन तथा अन्वेषण करते रहते हैं। उनके आधार पर कमाई के पीछे पडे रहते हैं। वे किसीकी बात की चिंता नहीं करते। वे कभी नहीं सोचते कि भगवान है। अत: दैवी जिज्ञासु महान ही हैं। ऐसी जिज्ञासा कई जन्मों के पुण्य का ही फल है।

तीसरा **अर्थार्थी** है। वह केवल धन के लिए, संपत्ति के लिए, वैभव के लिए भगवान का भजन करता है। उसका लक्ष्य भगवान के अनुग्रह के द्वारा सांसारिक संपत्ति को इकट्ठा करना है। यह भी किसी न किसी कारणवश भगवान का भजन करता है, अत: पुण्यात्मा ही माना जाता है।

चौथा **ज्ञानी** है। भगवान के तत्व को अच्छी तरह जाननेवाला, अनुभूति में लानेवाला, आत्मा और अनात्मा संबंधी विवेक से संपन्न और स्व स्वरूप से अच्छी तरह परिचित महात्मा ही ज्ञानी है। वह निरंतर आत्मा में स्थित रहता है। आत्मा का स्मरण करते हुए भगवान के ध्यान में लीन रहता है। आर्त तथा अर्थार्थी की तरह वह किसी कामना को लेकर भगवान का स्मरण नहीं करता। किसी तरह की काम्य बुद्धि नहीं रखता। इसीलिए अगले श्लोक में भगवान बताते हैं कि यह ज्ञानी ही उत्तम है। यहाँ बताया गया कि ये चारों किसी न किसी कारणवश भगवान का स्मरण करते रहते हैं। अत: ये चारों पुण्यात्मा ही हैं।

आर्तभक्तों में गजेन्द्र आदि आते हैं। जिज्ञासु भक्तों में परीक्षित तथा उद्धव आदि आते हैं। अर्थार्थी भक्तों में सुग्रीव तथा ध्रुव आदि आते हैं। ज्ञानी भक्तों में शुक, सनक, नारद, भीष्म एवं प्रह्लाद आदि आते हैं।

प्रश्न - भगवान की सेवा करनेवाले कितने प्रकार के हैं ? वे कौन हैं ?

उत्तर - वे चार प्रकार के हैं। (१) आर्त (२) जिज्ञासु (३) अर्थार्थी (४) ज्ञानी।

सम्बन्ध - चार प्रकार के भक्तों की बात कहकर अब उनमें ज्ञानी भक्त के

प्रेम की प्रशंसा और अन्यान्य भक्तों की अपेक्षा उसकी श्रेष्ठता का निरूपण करते हैं -

१७. तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रिय: ॥

शब्दार्थ - तेषां = उनमें। नित्ययुक्त: = सदा परमात्मा में स्थित। एक भक्ति: = एकीभाव से भक्तियुक्त। ज्ञानी = ज्ञानी। विशिष्यते = श्रेष्ठ ठहरता है। ज्ञानिन: = ज्ञानी को। अहम् = मैं। आत्यर्थम् = अत्यंत। प्रिय: हि = प्रिय हूँ। स: च = वह भी। मम = मेरा। प्रिय = प्रिय है।

भावार्थ - उनमें नित्य मुझ में एकीभाव से स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्व से जाननेवाले ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।

व्याख्या - पिछले श्लोक में चार प्रकार के भक्तों के बारे में कहा गया। इस श्लोक में बताया गया कि उनमें श्रेष्ठ कौन है। उनमें से ज्ञानी को उत्तम कहा गया। क्यों कि उसमें अन्य तीनों की अपेक्षा दो विशेषताएँ हैं। (१) नित्ययुक्तत्व (२) एकैक भक्ति।

(१) **नित्य युक्तत्व** का मतलब है, निरंतर परमात्मा से संबंधित रहना अर्थात् ज्ञानी का निरंतर आत्म ध्यानी बनकर आत्मा में स्थित रहना। आर्त, जिज्ञासु एवं अर्थार्थी कभी कभी भगवान का स्मरण करते रहते हैं। वे अनित्य युक्त हैं। (Part Timed Devotees) वे कुछ समय तक भगवान का स्मरण कर फिर सांसारिक मामलों में लीन होकर भगवान को भूल जाते हैं। परन्तु ज्ञानी सदा भगवान (आत्मा) से संबंध जोडकर रहते हैं। उसीको नित्य युक्तत्व कहते हैं। वे हमेशा प्रकाश में रहते हैं। इसलिए अंधेरा (अज्ञान) उनके पास नहीं आता। अत: वे मायामोह से मुक्त होकर उत्कृष्ट बनते हैं। बाकी लोग नित्ययुक्त नहीं हैं। कुछ समय तक भगवान को भूलते हैं। इसलिए अविद्या

उनके पास आ सकती है। पहले यद्यपि कुछ समय तक भगवान का ध्यान एवं स्मरण करते हैं, तथापि उन्हें धीरे-धीरे आगे बढ कर दैव स्मरण का समय बढाते जाना चाहिए। तब वे भगवान के भक्तों में अग्रगण्य बनते हैं। वही नित्ययुक्त ज्ञानी है। उस ज्ञानी को ही भगवान सभी भक्तों में श्रेष्ठ मानते हैं।

ज्ञानी का दूसरा लक्षण है, एकैक भक्ति। इसका मतलब है कि ज्ञानी की दो तीन भक्तियाँ नहीं होतीं। उसकी एक ही भक्ति होती है। उसकी पंचभक्ति, नवभक्ति, शतभक्ति नहीं होती, उसकी तो एक ही भक्ति होती है। मतलब है कि एक परमात्मा के प्रति ही उसकी भक्ति होती है और किसीके प्रति नहीं होती। लोगों में कुछ की धन के प्रति भक्ति होती है, कुछ की यश के प्रति भक्ति होती है, कुछ की पद के प्रति भक्ति होती है, कुछ की भार्या के प्रति भक्ति होती है। परन्तु ज्ञानी की एक मात्र परमात्मा के प्रति ही भक्ति होती है। और किसी के प्रति उसकी भक्ति नहीं होती। बाकी लोगों की भक्ति एकनिष्ठ नहीं होती। वे अलग अलग विषयों में लगे रहते हैं। अत: उनकी भक्ति अलग अलग बंटी रहती है। एक भक्ति के न होने से मन चंचल रहता है। ध्यान निष्ठा में चंचलता का स्थान नहीं रहता। एक ही दैवी वस्तु में, आत्मा में दृष्टि को एकाग्र बनाना चाहिए। भगवान के प्रति विरक्ति पैदा करनेवाली वस्तुओं में मन को नहीं लगाना चाहिए। यही एक भक्ति है। ज्ञानी की भक्ति ऐसी ही होती है, इसीलिए उसे सर्वोत्कृष्ट स्थान दिया गया है।

अत्यर्थम् (अत्यधिक) कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञानी के मन में भगवान के प्रति भक्ति अत्यधिक होती है। ज्ञानी की दृष्टि में दृश्य वस्तु सभीं नश्वर हैं। अतः उनसे वह प्रीति नहीं करता। शाश्वत परमात्मा के प्रति ही वह प्रीति रखता है। जब भक्त इस प्रकार भगवान को प्यार करता है। तब भगवान भी भक्त को प्यार करता है।

“सच मम प्रियः” (वह मेरा अत्यंत प्यारा है) यह वाक्य यही अर्थ

सूचित करता है। भगवान का प्यार पाना मामूली बात नहीं है। भक्त का यह महाभाग्य है। वैसी स्थिति प्राप्त हो तो जन्म सार्थक बन जाएगा। भगवान की कृपा हो तो मोक्ष ही मिलेगा।

कहा गया कि ज्ञानी की एक भक्ति होती है। इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञान और भक्ति में अंतर नहीं है। ज्ञानी में भक्ति होती है। भक्त में ज्ञान होता है। अनुभव में लावें, तो इस बात का पता लग जाएगा। चरमसीमा में भक्ति, ज्ञान एवं ध्यान सब एक समान होते हैं।

प्रश्न - उपर्युक्त चार भक्तों में श्रेष्ठ कौन है ?

उत्तर - ज्ञानी।

प्रश्न - क्यों ?

उत्तर - क्योंकि ज्ञानी की दो विशेषताएं होती हैं (१) नित्ययुक्तत्व (निरंतर दैव संबन्ध)। (२) एक भक्ति। ये अन्य लोगों में नहीं हैं अतः ज्ञानी ही श्रेष्ठ है।

प्रश्न - इस संसार में ज्ञानी का अत्यंत प्रिय कौन है ?

उत्तर - भगवान।

प्रश्न - भगवान का अत्यंत प्रिय कौन है ?

उत्तर - ज्ञानी।

प्रश्न - अतः लोगों का कर्तव्य क्या है ?

उत्तर - एक भक्ति रूपी ज्ञान का अर्जन कर भगवान के अत्यंत प्रीति पात्र बनने का प्रयास करना चाहिए।

सम्बन्ध - भगवान् ने ज्ञानी भक्तको सबसे श्रेष्ठ और अत्यन्त प्रिय बतलाया। इस पर यह शंका हो सकती है कि क्या दूसरे भक्त श्रेष्ठ और प्रिय नहीं हैं ? इस पर भगवान् कहते हैं -

१८. उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥

शब्दार्थ - एते सर्वे = ये सब भी। उदाराः एव = उत्तम हैं। ज्ञानी तु = ज्ञानी तो। आत्म एव = मैं ही हूँ। (यह) मे = मेरा। मतम् = मत है। हि = क्यों कि। सः= वह। युक्तात्मा = मुझमें ही स्थित। मां एव = मुझको ही। अनुत्तमाम् = सर्वोत्तम। गतिम् = लक्ष्य स्थान। अस्थितः = आश्रित है।

भावार्थ - ये सभी उदार हैं, परंतु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है, ऐसा मेरा मत है, क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है।

व्याख्या - ऊपर कहा गया कि चार प्रकार के भक्तों में ज्ञानी श्रेष्ठ है। इसका मतलब यह नहीं कि बाकी लोग बेकार हैं। वे भी अच्छे ही हैं। भक्ति रहित लोगों से वे बढकर हैं। क्योंकि वे किसी न किसी समय भगवान को उदार कहा है। परन्तु उन सब में ज्ञानी का स्तर बडा है। क्योंकि निरंतर भगवान के ध्यान में लगे रहने से वह भगवत्सवरूप बनता है। समुद्र में गिरने पर ओले समुद्र बनते हैं। इसी तरह ज्ञानी का हृदय ब्रह्म में लीन होकर ब्रह्माकार में परिणत होता है। इसीलिए यहाँ कहा गया कि ज्ञानी और भगवान में अंतर नहीं है। "मे मतम्" (यह मेरा निश्चय) कहा गया। भगवान के इस वाक्य से परम सत्यता प्रकट होती है।

बाकी तीनों भक्त द्वैत जगत् में घूमते रहते हैं। ज्ञानी अद्वैत लोक में विहार करता रहता है। आरंभ में भक्त यह समझकर कि भगवान मुझसे अलग हैं, उसका ध्यान करने लगता है। आरूढ स्थिति में भगवान अपने से अलग नहीं लगता, तब जीव शिव बन जाता है। यह स्थिति निरंतर भगवान का ध्यान करते रहने, अहंभाव के निर्मूलन एवं वासना क्षय से प्राप्त होती है। इसीलिए "युक्तात्मा" कहा गया है। इसका मतलब है कि ज्ञानी आत्मा में ही अपने चित्त को संलग्न करता है।

आत्मपद एवं दैवपद को 'अनुत्तमां गतिम्' सर्वोत्तम गति माना है। इससे स्पष्ट है कि संसार की सभी चीजें और सभी पद उसके सामने कुछ भी

नहीं है, निस्सार हैं। अत: सभी साधकों को उस पद की प्राप्ति के लिए अनवरत प्रयास करना चाहिए। तब उनका जीवन सार्थक बन जाएगा।

गीता के इस श्लोक में पूर्ण अद्वैत की स्थिति का वर्णन किया गया है। यहाँ बताया गया कि भक्त स्वयं भगवान बन जाएगा। जीवन का लक्ष्य यंही है। द्वैत में भगवान थोडी दूर रहता है। विशिष्टाद्वैत में और निकट आता है। अद्वैत में और नजदीक आने के कारण भक्त ही भगवान के रूप में बदल जाता है। इसीलिए जीवन्मुक्त महापुरुषों को लोग भगवान समझकर उनकी आराधना किया करते हैं। उनमें और भगवान में दूरी नहीं रहती। उस अद्वैत स्थिति की प्राप्ति होने तक मुमुक्षु को निरंतर अध्यात्म साधना करते रहना चाहिए। कर्म, भक्ति, ध्यान आदि अंत में इस ज्ञान की स्थिति प्राप्त कराकर मुक्ति के साधन बनते हैं। इसी कारण से भगवान ज्ञान एवं ज्ञानी को इतनी प्रधानता देते हैं।

प्रश्न - उपर्युक्त चारों भक्त कैसे हैं ?

उत्तर - चारों भक्त अच्छे हैं।

प्रश्न - उनमें ज्ञानी को क्यों प्रधानता दी गयी ?

उत्तर - ज्ञानी एवं भगवान में भेद नहीं रहता। ज्ञानी साक्षात् भगवान का रूप धारण करता है। अत: उसे प्रधानता दी गयी।

प्रश्न - किस कारण से ज्ञानी उस भगवत्स्वरूप को प्राप्त करता है ?

उत्तर - वह अपने मन को अच्छी तरह वश में कर लेता है। उसे आत्मा में स्थापित करता है। (युक्तात्मा) आत्मा को ही परम लक्ष्य मानकर उसीमें स्थित रहता है। अत: ज्ञानी भगवत्स्वरूप को प्राप्त करता है।

सम्बन्ध - अब उस ज्ञानी भक्त की दुर्लभता बतलाने के लिए भगवान कहते हैं -

१९. बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ: ॥

शब्दार्थ - बहूनां = अनेक। जन्मनाम् = जन्मों के। अन्ते = अन्त में।

ज्ञानवान् = ज्ञानी। (होकर)। सर्वम् = सब कुछ। वासुदेव इति = वासुदेव ही है। (जानकर)। माम् = मुझको। प्रपद्यते = पाता है। सः महात्मा = वैसा महात्मा। सुदुर्लभः = अत्यंत दुर्लभ है।

भावार्थ - कई जन्मों के अन्त के जन्म में तत्त्वज्ञान को प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है - इस प्रकार मुझको जो भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

व्याख्या - अनादिकाल से जीव इस संसार चक्र में फंसकर परिभ्रमण कर रहा है। कीडे मकोडे के विभिन्न जन्म पा पाकर अंत में पुण्य के प्रभाव से मनुष्य का जन्म पाता है। इस प्रकार मानव जन्म लेनेवाले सभी लोग, मोक्ष के लिए प्रयत्न नहीं करते। इक्के दुक्के पुण्यात्मा ही प्रयत्न करते हैं। इनमें भी एक या दो धीर पुरुष ही आत्मज्ञान पाकर तर जाते हैं। जैसे -

(१) यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः। (७-३)

(२) अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परांगतिम्। (६-१५)

एक एक जन्म में जीव कुछ न कुछ अधिक पुण्य कमाता रहता है। अंत में किसी न किसी एक जन्म में आध्यात्मिक साधना तीव्र रूप से करने के कारण, भगवान के अनुग्रह से उसके हृदय में ज्ञान का उदय होता है। तब सब कुछ उसे भगवन्मय, आत्ममय एवं वासुदेवमय दीखता है। वह ज्ञानी भगवान के दर्शन करता है। कई जन्मों के पुण्य के प्रताप एवं पुरुष प्रयत्न के बल और साधना की तीव्रता से जीव को ऐसा महान् पद प्राप्त होता है। ज्ञानवान बनने का सौभाग्य जीव को प्राप्त होता है। इसीलिए ज्ञानवान महात्मा संसार में बहुत कम होते हैं। दुर्लभः न कह कर सुदुर्लभः कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि ऐसे महान् ज्ञानी करोडों में एक या दो होते हैं।

जीव को नहीं समझना चाहिए कि और भी जन्म पाने के बाद ही ज्ञानी बनूँगा। ऐसा सोचकर उसे कभी भी आलसी नहीं बनना चाहिए। पिछले जन्मों पर ध्यान न देकर साधना की तीव्रता के बल पर इसी जन्म में ज्ञानी बनकर तरने का प्रयत्न करना चाहिए। ज्ञानी की एक परीक्षा की

व्यवस्था भगवान ने यहाँ की। साधक को अपने आप से प्रश्न करना चाहिए कि मुझे सब कुछ वासुदेवमय दीख रहा है कि नहीं ? ऐसा न दीखे, केवल नामरूप ही दिखायी दे, तो समझना चाहिए कि अभी साधना पूर्ण नहीं हुयी। साधना की प्रक्रिया को तीव्र बनाना चाहिए। ज्ञान प्राप्ति की एक ही पहचान है। ज्ञानी को 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (सब कुछ ब्रह्म ही है) इस बात की अनुभूति होनी चाहिए। आरंभ की स्थिति में जीव ब्रह्म को किसी मंदिर, किसी तीर्थ एवं किसी मूर्ति में देखता है। धीरे-धीरे आरूढ स्थिति में पहुँचते-पहुँचते उसे 'सर्वं राममयं' की स्थिति प्राप्त होती है।

इस श्लोक में कहा गया कि 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्'। इसका अर्थ 'अनेक जन्मों के बाद ज्ञानी मोक्ष पाएगा' नहीं है। 'अनेक जन्मों में मनुष्य ज्ञानवान् बनकर मोक्ष पाएगा' यही इसका अर्थ है। जिस क्षण जीव ज्ञान पाता है, उसी क्षण मोक्ष मिल सकता है। जो ज्ञानी समस्त जगत् को भगवन्मय देखता है, उसे गीताचार्य 'महात्मा' की उपाधि देते हैं। उस उपाधि की प्राप्ति के लिए सभी साधकों को यत्न करना चाहिए। महात्मा के रूप में बदलना चाहिए। तभी जन्म सार्थक होगा।

प्रश्न - जीव कब मोक्ष पा सकता है ?

उत्तर - जब वह ज्ञानवान बनता है, तब मोक्ष पा सकता है।

प्रश्न - ज्ञान कब पाएगा ?

उत्तर - अनेक जन्मों के शुभ प्रयत्नों से अंत में किसी एक जन्म में ज्ञान पाएगा।

प्रश्न - ज्ञानी की भावना कैसी होती है ?

उत्तर - सब वासुदेवमय की भावना होती है।

प्रश्न - संसार में 'महात्मा' कहलाने के योग्य कौन है ?

उत्तर - ज्ञानी ही महात्मा कहलाने के योग्य है।

प्रश्न - क्या ऐसे ज्ञानी संसार में अधिक होते हैं ?

उत्तर - नहीं। करोडों में एक या दो ऐसे ज्ञानी मिलते हैं। ऐसे ज्ञानियों का मिलना दुर्लभ है।

प्रश्न - ज्ञानी की पहचान क्या है ?

उत्तर - उसे सोच लेना चाहिए कि मुझे सब कुछ वासुदेवमय दीख रहा है कि नहीं ?

२०. कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना: प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता:।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियता: स्वया॥

शब्दार्थ - स्वया = अपनी। प्रकृत्या = प्रकृति से। नियता: = प्रेरित जन। तै: तै: कामै: = उन उन कामनाओं से। हृतज्ञाना: = हरे जा चुके ज्ञानवाले। तं तं नियमम् = उस उस नियम का। आस्थाय = धारण कर। अन्य देवता: = अन्य देवताओं को। प्रपद्यन्ते = भजते हैं।

भावार्थ - उन-उन भोगों की कामना द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, वे लोग अपने स्वभाव से प्रेरित होकर उस-उस नियम को धारण करके अन्य देवताओं को भजते हैं, अर्थात् पूजते हैं।

व्याख्या - कुछ लोग परमात्मा का ध्यान न करके विषय संबंधी इच्छाओं की पूर्ति के लिए अन्य देवताओं की आराधना करते हैं। यहाँ बताया गया कि इसका कारण उनका अपने विवेक से हाथ धोना है। इच्छाएँ रूपी चोर उनके हृदय में प्रवेश कर उनके ज्ञान व विवेक को हर लेते हैं। फलस्वरूप वे आत्मा की गंभीरता न जान कर परमात्मा की सेवा छोडकर अन्य देवताओं की आराधना करते हैं। उनसे संबंधित व्रतों और नियमों का पालन करते हुए उनका भजन करते रहते हैं। उनकी इस आराधना का लक्ष्य इच्छाओं की पूर्ति ही है, न कि मोक्ष की प्राप्ति। अत: जो मोक्ष पाना चाहते हैं और उस दिशा में तीव्र प्रयत्न करना चाहते हैं उनकी पद्धति यह नहीं हैं। उन्हें इच्छाओं को मिटा लेना चाहिए। इन्द्रियों को वश में कर लेना चाहिए। हृदय में स्थित परमात्मा का निरंतर ध्यान करना चाहिए। यही मुक्ति का मार्ग है।

"कामैः हृतज्ञाना:" कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि विषय वासनाएँ विज्ञान को हर लेती हैं। नष्ट कर देती हैं। अत: भगवान के मार्ग में खतरनाक प्रयत्नों को अपनाना नहीं चाहिए। यह विज्ञ पुरुषों का लक्षण नहीं है।

इस अध्याय के १५ वें श्लोक में कहे गये "माययाऽपहृत ज्ञाना:" अर्थात् इच्छाओं से अपहृत ज्ञानी मूर्खों और इस २०वें श्लोक में कहे गये "कामैः हृतज्ञाना:" कामनाओं से अपहृत ज्ञानियों में बडा अंतर है। पहली तरह के मूर्ख तमोगुण से प्रेरित हैं। पर दूसरी तरह के ज्ञानी सत्व एवं रजोगुण मिश्रित गुणवाले हैं। इन्हें भगवान पर विश्वास रहता है। मगर उन्हें विश्वास नहीं रहता।

प्रश्न - जीव के ज्ञान को हरनेवाला क्या है ?

उत्तर - इच्छाएँ, विषय संबंधी आशाएँ।

प्रश्न - वे कैसे उत्पन्न होती हैं ?

उत्तर - जन्म जन्म के विषय संबंधी संस्कारों से उत्पन्न होती हैं।

प्रश्न - फलस्वरूप मनुष्य क्या करता है ?

उत्तर - ज्ञान खोकर, परमात्मा को छोडकर, अन्य देवताओं की आराधना करता है।

२१. *यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।*
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥

शब्दार्थ - यः यः भक्तः = जो जो भक्त। यां यां तनुं = जो जो रूप की। श्रद्धया = श्रद्धा से। अर्चितुम् = पूजा करना। इच्छति = चाहता है। तस्य तस्य = उस उसको। तां श्रद्धां एव = उसको अनुकूल श्रद्धा ही। अचलम् = स्थिर। विदधामि = करता हूँ।

भावार्थ - जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस देवता के स्वरूप को श्रद्धा से

पूजना चाहता है, उस-उस भक्त की श्रद्धा को मैं उसी देवता के प्रति स्थिर करता हूँ।

व्याख्या - मनुष्य परमात्मा को छोडकर इतर देवताओं की आराधना करता रहे, तो भगवान उस पर नाराज नहीं होते। उन उन देवताओं के प्रति उसकी भक्ति को सुदृढ बनाते हैं। परमेश्वर बहुत दयालु हैं। फिर भी भक्ति एवं श्रद्धा के साथ जो उनकी पूजा करते हैं, वे उन्हींकी सहाय़ता करते हैं। इसीलिए 'श्रद्धया' शब्द का प्रयोग किया गया है। भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा कि श्रद्धालुओं की श्रद्धा को मैं बल देता हूँ।

हिन्दू धर्म की विशेषता यही है। हर कोई अपने-अपने संस्कारों के अनुसार मार्ग एवं देवता का वरण कर सकता है। स्वेच्छा के साथ उसकी पूजा कर सकता है। चाहे किसी भी मार्ग पर क्यों न चलें, अंत में एक ही मंजिल आत्मा के पास ही पहुँचना पडता है। वहाँ तक पहुँचने के लिए स्वेच्छा के साथ मार्ग और देवता का चयन वह कर सकता है। मगर भक्ति और श्रद्धा के साथ आगे बढना पडता है। धीरे-धीरे चले या तेजी से चले, पर मंजिल तक चलना ही चाहिए। बीच में चलना बंद नहीं करना चाहिए। इससे मनुष्य मंजिल तक अवश्य पहुँच सकता है। अब प्रश्न उठ सकता है कि भगवान दूसरे देवताओं की आराधना करनेवालों को भी क्यों मानते हैं ? जवाब में कहा जा सकता है कि भक्त किसी भी मार्ग पर क्यों न चलें, मंजिल तो आत्मा ही है। स्वयं परमात्मा ही है। इससे स्पष्ट होता है, कि जो साधक अध्यात्म के मार्ग में चलते हुए जितना यत्न व श्रम करता है उतना ही फल वह पाता है। जो प्रयत्न ही नहीं करता, उसे फल प्राप्त नहीं होता। जीव खुद प्रयत्न ही न करे, तो परमात्मा भी क्या कर सकते हैं ? अत: मुमुक्षुओं को तीव्रता के साथ प्रयत्न करके मंजिल तक शीघ्र पहुँचना चाहिए।

प्रश्न - भगवान या अन्य देवताओं की आराधना करते समय भक्त के लिए आवश्यक गुण क्या हैं ?

उत्तर - भक्ति और श्रद्धा आवश्यक हैं।

प्रश्न - भक्ति और श्रद्धा से देवताओं की आराधना करनेवालों की भगवान क्या सहायता करते हैं ?

उत्तर - उन उन देवताओं के प्रति भक्तों के हृदय में जो श्रद्धा और भक्ति होती है, भगवान उनको और सुदृढ बनाते हैं।

२२. *स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।*
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥

शब्दार्थ - सः = वह। तया श्रद्धया = वैसी श्रद्धा से। युक्तः = युक्त होकर। तस्य = उस देवता की। आराधनम् = पूजा। ईहते = करता है। मया एव = मुझसे ही। विहितान् = विधान की हुयी। तानकामान् हि = उन उन कामनाओं को ही। ततः = उन देवताओं से। लभते = पाता है।

भावार्थ - वह पुरुष उस श्रद्धा से युक्त उस देवता का पूजन करता है, और उस देवता से मेरे द्वारा ही विधान किये हुए उन इच्छित भोगों को निःसन्देह प्राप्त करता है।

व्याख्या - इस प्रकार भक्त, भक्ति और श्रद्धा के साथ अपने अपने इष्ट देवताओं की आराधना करके उसके फल के रूप में उन उन देवताओं से इच्छित कामनाओं की यद्यपि पूर्ति करता है, तथापि वे भगवान के द्वारा ही निर्देशित होते हैं। वास्तव में भगवान के द्वारा ही उसकी इच्छाओं की पूर्ति होती है। चराचर यह संसार सारा एक प्रभुता का यंत्रांग (Universal Government) है। परमात्मा इसके अधिपति हैं। इन्द्र आदि देवता सब अलग अलग विभाग चलानेवाले अधिकारी हैं। जगत् के शासन एवं पालन के लिए आवश्यक नियम जगत्पतिने पहले ही बना दिये। उनके अनुसार ही नीचे के अधिकारियों को कार्याचरण करना पडता है। इसलिए यद्यपि भक्त अलग अलग देवताओं से अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर लेते हैं, तथापि उसी जगत्पति के द्वारा ही उन्हें प्राप्त समझना चाहिए। सही स्थिति यही है।

भगवान कल्पतरु जैसा है। उनकी शरण में जाकर भक्त जो मांगेगा, उसे पा जाएगा। इसलिए नश्वर चीजों को मांगने के बदले भक्तों को चाहिए कि वे भगवान से शाश्वत पदार्थ मोक्ष प्राप्त करें।

इस श्लोक के अंत में 'हि तान' दो शब्द हैं। इन्हें मिलाकर कुछ विद्वानों ने "हितान्-कामान्" इच्छित भोग्य वस्तु का अर्थ निकाला। यहाँ एक बात है। अनिच्छित भोग वस्तु कौन चाहेंगे ? अतः लगता है कि विशेष अर्थ उससे निकालना अनावश्यक है।

प्रश्न - उन उन देवताओं पर भक्ति अधिक हो, तो भक्त क्या करेगा ?

उत्तर - इतोधिक श्रद्धा के साथ उनकी आराधना करेगा।

प्रश्न - फलस्वरूप वह क्या पाएगा ?

उत्तर - उनसे इच्छित फल वह पाएगा।

प्रश्न - उन फलों का निर्णय कौन करते हैं ?

उत्तर - देवों के देव परमात्मा ही उनका निर्णय करते हैं। इसलिए समझना चाहिए कि वही उन उन देवताओं के द्वारा उन उन भक्तों को इच्छित फल प्राप्त कराते हैं।

सम्बन्ध - अब उपर्युक्त अन्य देवताओं की उपासना के फल को विनाशी बतलाकर भगवदुपासनाके फल की महत्ताका प्रतिपादन करते हैं -

२३. *अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।*
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥

शब्दार्थ - अल्पमेधसां = अल्पबुद्धिवाले। तेषाम् = उनके। तत् फलम् तु = वह फल तो। अन्तवत् = नाशवान्। भवति = होता है। देवयजः = देवताओं की पूजा करनेवाले। देवान् = देवताओं को। यान्ति = पाते हैं। मद्भक्ताः = मेरे भक्त। माम् अपि यान्ति = मुझको ही पाते हैं।

भावार्थ - परंतु उन अल्प बुद्धिवालों का वह फल नाशवान् है, तथा वे

देवताओं को पूजनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें, अन्त में वे मुझ को ही प्राप्त होते हैं।

व्याख्या - इस श्लोक में बताया गया कि परमात्मा को छोडकर अन्य देवताओं की आराधना करनेवाले कैसे लोग हैं, वे कैसे फल पा सकते हैं, परमात्मा के भक्त कैसे फल पासकते हैं। जो परमात्मा को छोड अन्य देवताओं की आराधना करते हैं, वे अल्प फल ही पाते हैं। यहाँ बताया गया कि अल्प फलों के पीछे पडनेवाले अल्पबुद्धि वाले हैं। क्यों कि पूर्णबुद्धिवाले होते, तो शाश्वत फल प्रदान करनेवाले, जन्म राहित्य के प्रदाता परमात्मा के ही आश्रय में जाते। अल्प जीवनवाले देवताओं पर विश्वास कर शाश्वत परमात्मा को भुलादेनेवाले लोग, अल्पबुद्धिवाले नहीं तो और क्या हैं ? वे जो फल पाते हैं, वे भी अल्प ही होते हैं। गंगानदी को छोडकर छोटे नालों के पीछे पडनेवाले, कल्पतरु को छोडकर छोटे पेड के पीछे पडनेवाले जितने अल्प हैं, उतने ही अल्प परमात्मा को छोड छोटे छोटे देवताओं के पीछे पडनेवाले होते हैं। इसीलिए वे अल्प फलों से ही खुश होते हैं।

संसार में कोई भी चीज या कोई भी व्यक्ति चाहे वह इन्द्र हो या चन्द्र हो, दृश्य वर्ग में ही शामिल होते हैं। कालक्रम में वे नष्ट होते हैं। पर आत्मा एक ही अविनाशी है। इसलिए विज्ञ लोग उसी के आश्रय में जाते हैं। अल्प बुद्धिवाले ही अस्थाई सुख देनेवाले देवताओं के आश्रय में जाते हैं। यहाँ भगवानने स्पष्ट बता दिया कि जो देवताओं की आराधना करते हैं, वे देवताओं के आश्रय में जाते हैं। जो मेरी आराधना करते हैं, वे मेरे आश्रय में आते हैं। अतः विज्ञ लोगों को चाहिए कि वे निर्णय कर लें कि शाश्वत मोक्ष सुख प्रदान करनेवाले परमात्मा के आश्रय में जाना अच्छा है या नश्वर सुख देनेवाले अन्य देवताओं के आश्रय में जाना अच्छा है। फिर शाश्वत सुख देनेवाले, जन्म राहित्य का अमोघ फल प्रदान करनेवाले परमात्मा के ही आश्रय में जाकर अपना जीवन धन्य बना लें। स्पष्ट है कि बन्धन, स्वर्ग तथा

मोक्ष सब मनुष्य के ही हाथों में है। उन्हें चाहिए कि वे परमात्मा के चरण कमलों की शरण में जाकर जन्मराहित्य और मोक्ष सुख प्राप्त करें।

प्रश्न - देवताओं की आराधना करनेवाला कैसा फल पाता है ?

उत्तर - नाशवान फल पाता है।

प्रश्न - ऐसे नाशवान फल के लिए यत्न करनेवाले कैसे लोग हैं ?

उत्तर - अल्पबुद्धिवाले हैं।

प्रश्न - देवताओं की आराधना करनेवाले क्या पाते हैं ? परमात्मा की आराधना करनेवाले क्या पाते हैं ?

उत्तर - देवताओं के आराधक उन उन देवताओं को पाते हैं। परमात्मा के आराधक परमात्मा को ही पाते हैं।

प्रश्न - विज्ञ पुरुष को क्या करना चाहिए ?

उत्तर - शाश्वत मोक्ष प्रदान करनेवाले परमात्मा के आश्रय में जाना चाहिए।

सम्बन्ध - जब भगवान् इतने प्रेमी और दयासागर हैं कि जिस किसी प्रकार से भजनेवालों को अपने स्वरूप की प्राप्ति करा ही देते हैं, तो फिर सभी लोग उनको क्यों नहीं भजते ? इस जिज्ञासा पर कहते हैं -

२४. *अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।*
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

शब्दार्थ - अव्ययम् = नाशरहित। अनुत्तमम् = सर्वोत्तम। परम् = प्राकृतिक। मम = मेरे। भावम् = स्वरूप को। अजानन्तः = न जानते हुए। अबुद्धयः = अविवेकी। अव्यक्तम् = मन इन्द्रियों से परे। माम् = मुझ को। व्यक्तिं = आपन्नं = व्यक्ति भाव को प्राप्त हुआ। मन्यन्ते = मानते हैं।

भावार्थ - बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम अविनाशी परम भाव को न जानते हुए मन-इन्द्रियों से परे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा को मनुष्य की भाँति जानकर व्यक्तिभावको प्राप्त हुआ मानते हैं।

व्यख्या - परमात्मा वास्तव में निराकार है। सर्वव्यापी है। प्रकृति से विलक्षण है। अविनाशी है। लोक के कल्याणार्थ वह कभी कभी उदित होता है। दुष्ट हनन, शिष्ट रक्षण कर जगत् में धर्म की रक्षा करता है। माया को अपने वश में कर लेने के कारण देह को धारने और त्यागने में समर्थ होता है।

भगवान ने स्वयं कहा कि "प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्म मायया" (४-६)। इसलिए जब उस प्रकार अवतरित होते हैं, तब उसके समिष्टि तत्व का नुकसान नहीं होता। व्यष्टि और समिष्टि दोनों वे ही हैं। आरंभ में भक्ति और श्रद्धा के लिए उसे साकार रूप में लेते हैं। परन्तु उसीसे तृप्त न होकर निराकार के रूप में भी उन्हें समझने का प्रयत्न करना चाहिए। परमात्मा के 'परा एवं अपरा' दोनों रूप हैं। भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए राम और कृष्ण के रूप में वे अवतरित हुए। वे दोनों अपरा रूप हैं। अव्यक्त, अनंत, सद्धन एवं चिद्धन स्वरूप परारूप हैं। इसीलिए उसके बारे में "परंभावम्" कहा गया। वही भगवान का वास्तविक रूप है। उस पर विश्वास न करके जो समझते हैं कि पांचभौतिक स्वरूप ही भगवान हैं, वे अविवेकी हैं। अल्प बुद्धिवाले (अबुद्धयः) हैं। क्यों कि वे दृश्य से परे, अव्यय एवं अविच्छिन्न स्वरूप को नहीं जानते। परिच्छिन्न स्वरूप को ही भगवान मानते हैं। यह गलत है। इसीलिए वे मंदबुद्धिवाले कहलाते हैं। यहाँ भगवान की चार विशेषताएँ बतायी गयी। (१) अव्यक्तत्व (२) विश्वातीतत्व (३) अव्ययत्व (४) सर्वोत्तमत्व। भगवान वास्तव में अव्यक्त हैं। अर्थात् स्थूल नेत्रों को दिखायी नहीं देते। क्यों कि हर व्यक्त-वस्तु एक न एक दिन नष्ट होती है। परमात्मा को भी व्यक्त वस्तु मानें, तो उन्हें भी एक न एक दिन नष्ट होना पडेगा। ऐसा समझना ठीक नहीं है। क्योंकि भगवान अविनाशी हैं। अति सूक्ष्म हैं। जब स्थूल आसमान ही ठीक तरह से दिखायी नहीं देता, तब मन से भी सूक्ष्म चिदाकाश रूप भगवान आँखों को कैसे दिखायी देंगे ? इसीलिए अव्यक्त कहे गये। दृश्य के परे रहकर दृक्स्वरूप होने के कारण

विश्वातीत कहे गये। अविनाशी होने के कारण अव्यय कहे गये। देश काल से परे, दृश्य दोष से रहित एवं नाश रहित होने के कारण सर्वोत्तम कहे गये।

इस श्लोक से सूचित होता है कि साकारोपासकों, मूर्तिपूजकों, तथा व्यक्ति समझकर भगवान की पूजा करनेवालों को धीरे-धीरे अपनी दृष्टि को विशाल बनाना होगा। एक सीढी ऊपर चढकर समझना चाहिए कि भगवान मूर्ति में ही नहीं, बल्कि सभी चराचरों में व्याप्त हैं। भूत, भविष्य एवं वर्तमान में विद्यामान हैं। वही उनका यथार्थ रूप है।

प्रश्न - भगवान का वास्तविक स्वरूप क्या है ?

उत्तर - (१) अव्यक्त है (२) विश्वातीत है (३) नाश रहित है। (४) सर्वोत्तम है।

प्रश्न - भगवान को एक देह माननेवाले कैसे लोग हैं ?

उत्तर - अविवेकी हैं ?

सम्बन्ध - इस प्रकार मनुष्य के रूप में प्रकट सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को लोग साधारण मनुष्य क्यों समझते हैं ? इस पर कहते हैं -

२५. *नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।*
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

शब्दार्थ - योग माया समावृतः = योग माया से छिपा हुआ। अहम् = मैं। सर्वस्य = सब को। प्रकाशः न = दिखायी नहीं देता। मूढः = विवेकहीन। अयं लोकः = ये लोग। माम् = मुझको। अजम् = जन्म रहित। अव्ययम् = अविनाशी। नाभिजानाति = नहीं जानते।

भावार्थ - अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सब को प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वर को नहीं जानता, अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है।

व्याख्या - प्रश्न उठता है कि अगर भगवान सर्वव्यापी हैं, तो सब लोग उन्हें क्यों नहीं समझ पाते ? इस प्रश्न का उत्तर यहाँ दिया गया। परमात्मा योग

माया से ढके हुए हैं। इसलिए लोगों को प्रत्यक्षरूप से दिखायी नहीं देते। विवेक आदि से जो उनका विश्लेषण करते हैं, वे उनको देख पाते हैं। भगवान और अन्य लोगों के बीच एक पर्दा है। वह त्रिगुणात्मक है, अर्थात् वह पर्दा सत्व, रज एवं तमोगुण से बना हुआ है। तमोगुण काला और मजबूत होता है। रजोगुण लाल साधारण पर्दा है। सत्वगुण सफेद महीन पर्दा है। माया का आवरण इन तीन पर्दों से युक्त है। निष्काम कर्म, भक्ति, वैराग्य एवं विचार आदि से, साधना की तीव्रता से जीव एक एक पर्दे को फाडते हुए आगे बढता है। जब तीनों पर्दों को फाडकर आगे बढेगा, तब पर्दे के उस पार जो परमात्मा हैं, उनके दर्शन कर सकेगा। आध्यात्मिक क्षेत्र की सब साधनाएँ माया के उस पर्दे का निर्मूलन करने के काम आती हैं। क्यों कि माया का यह पर्दा भगवान एवं जीव के बीच एक मजबूत दीवार की तरह खडा है। जब माया का पर्दा हट जाएगा, तब जीव परमात्मा को पा जाएगा। उसे अपने में ही देख सकेगा। परन्तु अविवेकियों को भगवान दिखायी नहीं देता। सूर्य है, पर वह अन्धों को दिखायी नहीं देता। दीप है, पर घडे से वह ढका हुआ है। इसलिए दीप किसीको दिखायी नहीं देता। घडा हटानेवाले को दिखायी देता है। यही माया का मोह, भंग है। वास्तव में भगवान जन्मरहित है। अविनाशी है। यह बात माया को जीतनेवाले ही जान सकते हैं। परन्तु माया में फंसे मूर्ख देख नहीं पाते। यही बात गीताचार्य ने यहाँ बतायी।

अविवेकी या अज्ञानी माया का पोषण कर रहे हैं। विषय वासनाओं, भोग लालसाओं तथा काम क्रोध आदि से वे माया को और बल पहुँचाते हैं। इससे वह भगवान एवं जीव के बीच में मजबूत दीवार बनकर खडी हो रही है। यह सत्य अच्छी तरह जानकर माया के उसे पर्दे को फाडने का प्रयत्न विज्ञ लोगों को करना चाहिए। जब माया रूपी कुंभ फूट जाएगा, तब उसके अंदर का जल बाहरी जल से मिलकर एक हो जाएगा। अर्थात् भगवान एवं जीव का सम्मिलन होगा।

इस श्लोक में ''सर्वस्य'' (किसीको दिखायी नहीं देता) कहा गया। इसका अर्थ है कि अज्ञानियों को दिखायी नहीं देता। द्वैत के अनुसार भगवान योग माया से ढका हुआ है। क्योंकि वास्तव में परमात्मा का कोई आवरण नहीं है। वह निरावरणवाला है। शुद्ध चिन्मय मूर्ति है। वास्तव में सूर्य और मेघों का कोई संबंध नहीं रहता। परन्तु नीचे खडे लोगों को लगता है कि सूर्य बादलों से ढका हुआ है। भगवान की भी यही बात है। कुछ विद्वान ''योगमाया समावृतः'' शब्द मूर्ख के लिए विशेषण के रूप में लेते हैं। कहते हैं कि योग मायावृत मूर्ख (अज्ञानी) भगवान को जान नहीं पाता।

प्रश्न - भगवान सबको क्यों दिखायी नहीं देता ?

उत्तर - चूंकि योगमाया से ढका है, अतः दिखायी नहीं देता।

प्रश्न - भगवान का स्वरूप कैसा है ?

उत्तर - (१) जन्म रहित है (२) नाश वर्जित है।

प्रश्न - भगवत्स्वरूप को कौन नहीं जान पाते ?

उत्तर - अज्ञानी जान नहीं पाते।

प्रश्न - क्यों ?

उत्तर - भगवान को घेरे पडे मायाजाल को वे फाड नहीं पाते। इसलिए भगवान को जान नहीं पाते।

प्रश्न - विज्ञ पुरुष को क्या करना चाहिए ?

उत्तर - उसके और भगवान के बीच माया की जो दीवार है, उसे तोड देनी चाहिए। वह काम इसी जन्म में करना चाहिए। भगवान के दर्शन करना चाहिए।

२६. *वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।*
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

शब्दार्थ - अर्जुन = हे अर्जुन। अहम् = मैं। समतीतानि = व्यतीत हुए।

वर्तमानानि च = वर्तमान में स्थित। भविष्याणि च = भविष्य में होनेवाले। भूतानि = प्राणियों को। वेद = जानता हूँ। मांतु = मुझे तो। कश्चन = कोई भी। न वेद = नहीं जानता।

भावार्थ - हे अर्जुन ! पूर्व में व्यतीत हुए और वर्तमान में स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतों को मैं जानता हूँ, परन्तु मुझ को कोई भी श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष नहीं जानता।

व्याख्या - यहाँ भगवान की शक्ति सूचित की गयी। सब प्राणी, काल के गर्भ में हैं। वह काल भगवान की कुक्षि में है। मतलब यह कि समस्त चराचर सर्वेश्वर में ही विद्यमान हैं। ऐसा एक भी प्राणी नहीं, जिसे भगवान नहीं जानते हों। भूत, भविष्य एवं वर्तमान भी भगवान से छिपे नहीं हैं। सब की देखरेख भगवान बडी सावधानी से करते रहते हैं। जो यह सत्य जानता है, वह पाप कर्म कैसे कर सकेगा ? वह पाप से डरेगा और धर्ममार्ग का अनुगामी बनेगा।

इस श्लोक में जीव की अल्पज्ञता का भी बोध कराया गया। जीव, काल के अधीन है। मृत्यु के अधीन है। वह क्षणभंगुर जीवन बितानेवाला है। भूत भविष्य से अपरिचित है। परन्तु भगवान तो कालातीत है। अमर है। सर्वज्ञ है। उनके सामने जीव की शक्ति ही क्या है ? फिर भी अल्पजीव अपने धन, पद, बल, शिक्षा तथा सौंदर्य को देखकर घमंड करता है। धनमद एवं अधिकार के मद से भगवान की परवाह नहीं करता। यह केवल अज्ञान का ही प्रभाव है। जो मनुष्य सत्य जानता है, वह अपनी अल्पज्ञता पहचानता है। भगवान का बडप्पन भी जानकर उनकी स्तुति करता है। भक्ति भरे हृदय से भगवान को प्रणाम करता है। संसार में थोडी भी शक्ति एवं सामर्थ्य रहे, तो लोग उसकी प्रशंसा करते हैं। ऐसी हालत में अपार शक्ति संपन्न भगवान का तो आदर ज्यादा करना चाहिए। इस श्लोक के द्वारा जीव को चाहिए कि वह परमात्मा के त्रिकाल ज्ञान एवं अपार शक्ति सामर्थ्य को जान ले, अनुपम

भक्ति से उनकी सेवा करे और अपने जीवन को धन्य बना ले। इस श्लोक में कहा गया कि मुझे कोई नहीं समझ रहा है। (मां तु वेद न कश्चन)। इसका अर्थ है कि जो श्रद्धा भक्ति रहित है, जो आत्मज्ञान विहीन है, वही भगवान को नहीं समझ रहा है। संसार में भगवान को समझनेवाले बहुत कम है, न समझनेवाले अत्यधिक हैं, इसीलिए ऐसा कहा गया है। अन्तःपुर की ऊपरी मंजिल की खिडकी से बाहर देखनेवाली नारी नीचे रास्ते पर चलनेवालों को देख सकती है। परन्तु नीचे चलनेवाले उस नारी को देख नहीं सकते। इसी तरह भगवान सब को देख सकते हैं। पर उन्हें देख सकनेवाले बहुत कम हैं। अतः जीव कृतार्थ बनना चाहे, संसार सागर को तरना चाहे, तो पहले अपनी अल्पज्ञता एवं भगवान की महानता को अच्छी तरह जान ले, भक्ति श्रद्धा से अपना हृदय भर ले और अपने को भगवान में लीन कर ले, यह अत्यंत आवश्यक है। जिस तरह जल की बूंद समुंदर में मिल जाती है, उसी तरह जीव को ब्रह्म में लीन होना चाहिए। जिस प्रकार भगवान जीव को जानता है, उसी प्रकार जीव को चाहिए कि वह भगवान को अच्छी तरह जान ले। तब उसे मुक्ति मिल जाएगी। तब तक जीव बंधन में बंधा ही रहेगा।

प्रश्न - भगवान की शक्ति और सामर्थ्य का वर्णन करो ?

उत्तर - भगवान त्रिकालज्ञ है। भूंत भविष्य एवं वर्तमान को जाननेवाला है। समस्त प्राणियों और पदार्थों से अच्छी तरह परिचित है।

सम्बन्ध - श्रद्धा-भक्तिरहित मूढ मनुष्यों में से कोई भी भगवान् को नहीं जानता, इसका क्या कारण है ? यही बतलानेके लिये भगवान् कहते हैं -

२७. *इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।*
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप॥

शब्दार्थ - परंतप = शतृओं के हृदय को तडपानेवाले। भारत = हे अर्जुन। सर्गे = जन्म से। इच्छाद्वेष समुत्थेन = रागद्वेष से जन्मे। द्वन्द्वमोहेन = सुख

दुःख आदि द्वन्द्वरूप मोह से । सर्वभूतानि = समस्त प्राणी । सम्मोहम् = अत्यन्त अज्ञता को । यान्ति = पाते हैं ।

भावार्थ - हे भरतवंशी अर्जुन ! संसार में इच्छा और द्वेष से उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञता को प्राप्त हो रहे हैं ।

व्याख्या - सभी जीव जन्म से बडे अज्ञानी होते हैं । माया उन्हें ढक देती है । इसीलिए वे भगवान के दर्शन नहीं कर पाते । सांसारिक मोह जाल में फंस जाते हैं । मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाते । वह साधारण अज्ञान नहीं है । वह बडा घना होता है । इसीलिए 'मोहं' न कहकर 'सम्मोहं' कहा गया है । इस अज्ञान का कारण क्या है ? सुख दुःख आदि द्वंद्वरूप व्यामोह ही अज्ञान है । वह इच्छा, द्वेष, काम तथा क्रोध से उत्पन्न होता है । इसलिए मोक्ष के लिए अवरोधक अज्ञान को पहले दूर कर लेना चाहिए । इच्छा द्वेष दोनों को मिटा लेना चाहिए । जब चित्त में किसी वस्तु को पाने की इच्छा होती है तब उसे पाने की चिंता हमेशा चित्त में होती है । तब एकाग्रता दूर होती है, चित्त इतना चंचल होता है कि शांति भंग हो जाती है । इच्छाओं को भोगते भोगते वे और भी बढ जाती हैं । इसलिए विवेक के द्वारा इच्छाओं को हृदय से निकाल कर बाहर कर देना चाहिए ।

द्वेष - जिसके प्रति रुचि नहीं होती, उसके प्रति द्वेष होता है । इच्छित वस्तु के मार्ग में जो अवरोध पैदा करता है, उसके प्रति द्वेष होता है । वह द्वेष ही क्रोध में बदल जाता है । क्रोध से सम्मोह, सम्मोह से स्मृतिविभ्रम होता है । उससे बुद्धि का नाश होता है । इससे सर्वनाश होता है । अतः इच्छा द्वेष काम क्रोध आदि को तिलांजलि देकर मनुष्य को अभ्यास एवं विवेक के द्वारा विकारों को मिटा लेने का प्रयत्न करना चाहिए । तभी जीव मोक्षप्राप्ति का अधिकारी बनता है ।

''**सर्गे**'' कहा गया । इससे स्पष्ट है कि मनुष्य को माँ के गर्भ से निकलते ही अज्ञान ढक लेता है । इसलिए बाल्यकाल से ही पारमार्थिक प्रयत्न करके जो

अज्ञान को दूर करते हैं वे धन्य हैं। चोर को जितनी जल्दी घर से निकाल दें उतनी जल्दी जीव की भलाई होती है।

यहाँ '**परंतप**' शब्द का विशेष प्रयोजन है। इसका मतलब है कि अर्जुन से कहा गया कि हे अर्जुन ! तुम शत्रु को तप्त करनेवाले हो। अतः अंतः शत्रु इच्छा द्वेष का निर्मूलन कर दो।

"**सर्वभूतानि**" शब्द का अर्थ है श्रद्धा भक्ति से भगवान की अर्चना करनेवाले और ज्ञानियों को छोड कर बाकी सब। (देखो श्लोक २८)

प्रश्न - सुख दुःख आदि द्वंद्व किनसे पैदा होते हैं ?

उत्तर - इच्छा और द्वेष से पैदा होते हैं।

प्रश्न - समस्त प्राणी कब अज्ञान में पडते हैं ?

उत्तर - जन्म से ही अज्ञान में फंसते हैं।

सम्बन्ध - 'भूतानि' के साथ 'सर्व' शब्द का प्रयोग होने से ऐसा भ्रम हो सकता है कि सभी प्राणी द्वन्द्वमोह से मोहित हो रहे हैं, कोई भी उससे बचा नहीं है, अतएव ऐसे भ्रम की निवृत्ति के लिये भगवान् कहते हैं -

२८. *येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।*
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥

शब्दार्थ - पुण्यकर्मणाम् = पुण्यकर्म करनेवाले। येषां जनानां = जिन लोगों के। पापन्तु = पाप। अन्तगतम् = नष्ट होते हैं। ते = वे। द्वन्द्वमोह निर्मुक्ताः = द्वन्द्वरूप अज्ञान से मुक्त होकर। दृढव्रताः = दृढनिश्चयी होकर। माम् = मुझे। भजन्ते = भजते हैं।

भावार्थ - परन्तु निष्कामभाव से श्रेष्ठ कर्मों का आचरण करनेवाले जिन पुरुषों का पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषजनित द्वन्द्वरूप मोह से मुक्त दृढनिश्चयी भक्त मुझ को सब प्रकार से भजते हैं।

व्याख्या - दृढव्रती होकर जो भगवान की सेवा करते हैं, वे ही सांसारिक

बन्धनों से मुक्त हो सकते हैं। इसी दृष्टि से कई साधक विविध व्रतों का अनुष्ठान करते हैं। मौनव्रत, उपवास व्रत, ब्रह्मचर्यव्रत एवं स्वाध्यायव्रत आदि इन व्रतों में से हैं। फिर भी कइयों को इन व्रतों के अनुष्ठान में दृढता या स्थिरता नहीं होती। इसके कारणों पर भगवान ने यहाँ प्रकाश डाला। कई जन्मों से जमा पाप ही इसका कारण है। जब तक वे पाप मन में जमे रहेंगे, तब तक पारमार्थिक साधना में रुकावट आती ही रहेगी। जिस प्रकार मैले कपडे में रंग नहीं लगता, जिस प्रकार ऊसर क्षेत्र में बीज अंकुरित नहीं होता, उसी प्रकार पापों से भरे हृदय में पारमार्थिक बातें उदित नहीं होतीं। ऐसे लोग व्रत शुरू करें, तोभी उनका अनुष्ठान ठीक तरह से कर नहीं पाते। उनमें स्थिरता नहीं आ पाती। पेचिश का रोग जिसे पकड लेता है, वह एक जगह बैठ नहीं सकता। दवा लेने पर भी पेट में दर्द होता है। बार बार उसे पाखाना जाना पडता है। इसी प्रकार जिसके चित्त में पाप एवं रजोगुण होते हैं, वे जितना भी प्रयत्न करें, पर उनमें स्थिरता नहीं आती। उनका चित्त बहिर्मुखी होता ही रहेगा। इसलिए भगवान की सेवा दृढव्रती होकर करें, तभी स्थिरता आ सकती है। चित्त में जमा पाप कैसे नष्ट होगा, इसका विवरण इस श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण ने दिया।

पुण्य कर्म एवं निष्कामकर्म करने तथा योगानुष्ठान से सारा पाप नष्ट होता है। इसलिए साधक को पहले दान धर्म, परोपकार तथा दिव्यमंत्रों का जप आदि करना चाहिए। कुछ शुष्क वेदान्ती कहा करते हैं कि पुण्यकार्य भी मनुष्य को बन्धनों में जकडते हैं। अतः उनका आचरण ठीक नहीं है। उनके कथन में सचाई नहीं है। क्यों कि भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कई बार सत्कर्म करने के लिए कहा है। उन्हें न छोडने का भी आदेश दिया है। जैसे -

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ (१८-५)

उनके आदेश का अवश्य पालन करना चाहिए। भगवान ने यह भी

कहा कि पुण्य कार्य करनेवालों की कभी दुर्गति नहीं होगी। जैसे -

"न हि कल्याण कृत्कश्चि दुर्गतिं तात गच्छति।" जो अतीत स्थिति में रहते हैं, जो मन एवं इन्द्रियों पर विजय पाते हैं, जो निश्चल समाधिष्ट रहते हैं, उनके लिए पुण्य और पाप नहीं होते। यह वाक्य साधारण मनुष्यों के लिए लाग नहीं होता। उनकी उभयभ्रष्टता होती है। तुरीयस्थिति में रहनेवाले ऐसे जीवन्मुक्त महापुरुष भी व्युत्थान दशा में लोक हितार्थ पुण्य कार्य करते ही रहते हैं।

इस प्रकार जो पुण्य कार्य करते हुए पापों को मिटा लेते हैं, वे सुख-दुःख आदि के द्वंद्वों के मोह से मुक्त होकर दृढव्रती बनकर भगवान की सेवा करते हैं। इससे आत्मसाक्षात्कार कर वे बन्धनों से मुक्त होते हैं। इस श्लोक के द्वारा भगवान श्रीकृष्ण लोगों को सन्देश देते हैं कि "हे जीव ! पहले अपने चित्त को पाप के कीचड एवं जन्म जन्म के पाप कर्मों की गंदगी से बचा, सत्कर्मों के द्वारा उसे शुद्ध कर। तभी सुख-दुःख आदि द्वंद्वों से छुटकारा मिलेगा। तब दैव संबन्धी व्रत में सुदृढ बनेगा। इससे मोक्ष निकट आएगा। "इसलिए साधकों को भगवान के वाक्यों पर विश्वास करके व्यवहार करना चाहिए।

इस श्लोक के द्वारा और एक बात स्पष्ट होती है। पारमार्थिक क्षेत्र में साधकों को दृढ निश्चय एवं व्रतों का पालन करना चाहिए। नहीं तो माया अवरोध पैदा करेगी। लोहे की कुल्हाडी से ही पेड कटता है। अतः साधकों को दृढता के साथ निर्णय कर लेना चाहिए कि आज इतने मंत्रों का जप करके ही भोजन करूँगा। इतने अध्यायों का पारायण करने के बाद ही पानी पिऊँगा।" तभी साधक अपने प्रयत्न में सफलता प्राप्त कर सकेंगे। इस श्लोक से निम्नलिखित विषयों का स्पष्टीकरण होता है -

१. मोक्ष प्राप्त करने के लिए साधक को दृढव्रती बनना चाहिए।

२. दृढव्रती बनने के लिए पहले चित्त से पापों को मिटा लेना चाहिए।

३. पाप को मिटाना हो तो पुण्य कार्य याने सत्कर्म अधिक से अधिक करना चाहिए।

प्रश्न - दृढव्रती बनकर कौन भगवान की सेवा कर सकते हैं ?

उत्तर - जिनके पापों का नाश होता है, वे ही भगवान की सेवा में लीन हो सकते हैं।

प्रश्न - पाप का नाश कैसे होता है ?

उत्तर - पुण्य कर्मों से पाप का नाश होता है।

प्रश्न - पाप के नाश से कौन से फल प्राप्त होते हैं ?

उत्तर - १. मोह का नाश होता है।

२. ध्यान में दृढता आती है।

सम्बन्ध - अब भगवान् का भजन करनेवालों के भजन के प्रकार और फल बतलाते हैं -

२९. ***जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।***
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥

शब्दार्थ - ये = जो। जरामरण मोक्षाय = जरा और मरण से छूटने के लिए। माम् = मुझे। आश्रित्य = आश्रित होकर। यतन्ति = यत्न करते हैं। ते = वे। कृत्स्नं = समस्त। अध्यात्मं = अध्यात्म को। अखिलं कर्म च = सम्पूर्ण कर्म को। तत् ब्रह्म = उस ब्रह्म को। विदुः = जानते हैं।

भावार्थ - जो मेरी शरण होकर जरा और मरण से छूटने के लिये यत्न करते हैं, वे पुरुष उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को, सम्पूर्ण कर्म को जानते हैं।

व्याख्या - जीव सांसारिक दुःखों से मुक्ति पाने के लिए भगवान के आश्रय में जाकर लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। जनन-मरण, जरा-व्याधि आदि भयंकर हैं। उनसे मुक्ति पाने के लिए ही लोग भगवान के आश्रय में

जाते हैं। आध्यात्मिक साधनाएँ सब इसी के लिए बनी हैं। यहाँ बताया गया कि जरा-व्याधि एवं जनन-मरण आदि के दुःखों से मुक्ति पाने, निरतिशय आत्मानंद की प्राप्ति के लिए सर्वेश्वर की शरण में जाकर ध्यान आदि का यत्न करते हैं। धीरे धीरे जब उनके यत्न सफल होने लगते हैं और जब उनकी साधना सफल होने लगती है, तब आरूढ स्थिति प्राप्त करते हैं। तब वे सभी को परब्रह्म स्वरूप समझते हैं। उनकी दृष्टि में ब्रह्मेतर वस्तु कुछ भी नहीं रहती। सब को ब्रह्ममय एवं आत्ममय पाते हैं।

लेकिन ऐसी ब्रह्मानुभूति सभी नहीं पाते। जो मोक्ष के लिए तीव्र प्रयत्न करते हैं, जो बन्धनों से मुक्त होने के लिए सर्वेश्वर की शरण में जाकर ध्यान आदि करते हैं, उन्हींको ब्रह्म की अनुभूतिं होती है। तभी वे समझ सकते हैं कि सब जीवों की आत्मा और अपनी आत्मा एक है। यही "अहं ब्रह्मास्मि" की स्थिति है।

इस श्लोक में "यतन्ति" - (प्रयत्न करते हैं) कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि ब्रह्म की अनुभूति बातों से प्राप्त नहीं होती, तीव्र यत्न करने पर ही प्राप्त होती है। फिर "आश्रित्य" "यतन्ति" दो शब्द जोडे गये हैं। इससे ज्ञात होता है कि भगवान का आश्रय ही ब्रह्म की अनुभूति पाने के लिए काफी नहीं है। इस के लिए यत्न भी करना है। भगवान की शरण में जाने से अनुग्रह करके वे मार्ग दिखाते हैं। उस मार्ग पर उसे चलना चाहिए। प्रयत्न करते हुए अपने मन को शुद्ध बनाकर ब्रह्म की अनुभूति पानी चाहिए।

प्रश्न - भगवान के आश्रय में क्यों जाना चाहिए ?

उत्तर - जरा मरण से भरे संसार के बंधनों से छूटने के लिए भगवान के आश्रय में जाना चाहिए।

प्रश्न - भगवान की प्राप्ति कैसे होती है ?

उत्तर - प्रयत्न से होती है। खुद आध्यात्मिक साधना का अभ्यास करने से होती है।

प्रश्न - फलस्वरूप उसे क्या मिलता है ?

उत्तर - भगवान के आश्रय में जाने, भगवान के दर्शन के लिए यत्न करने से जीव को ब्रह्म की प्राप्ति होती है, तब समझता है कि समस्त जीव और समस्त कर्म परब्रह्म ही हैं।

३०. *साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।*
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥

शब्दार्थ - ये = जो। साधिभूताधि दैवं = अधिभूत और अधिदैव सहित। माम् = मुझे। विदुः = जानते हैं। ते = वे। प्रयाणकाले अपि च = अन्तकाल में। युक्तचेतसः = युक्त चित्तवाले। माम् = मुझे। विदुः = जानते हैं।

भावार्थ - जो पुरुष अधिभूत और अधिदेव सहित तथा अधियज्ञ सहित (सबका आत्मरूप) मुझे अन्तकाल में भी जानते हैं, वे युक्तचित्तवाले पुरुष मुझे जानते हैं, अर्थात् प्राप्त हो जाते हैं।

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि जो साधक जीवन भर आत्मचिंतन में लीन रहते हैं, वे अंत समय में भी (देह के वियोग के समय) नियमित चित्त होकर, वही दैविक अनुभूति प्राप्त करते हैं। जीवन में जो लोग समझ सकते हैं कि अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ रूप समस्त पदार्थ परमात्मा के ही स्वरूप हैं, वे अपने जीवन के अंत समय में भी उस ब्रह्मानुभूति को ही पाते हैं। "सब कुछ ब्रह्म ही है, वह ब्रह्म मैं ही हूँ" इस ब्रह्मानुभव की प्राप्ति लोग सदा करते रहें, यह अत्यंत आवश्यक है।

वह अनुभव कैसे प्राप्त होगा ? इसका उत्तर इस श्लोक में दिया गया है। "युक्त चेतसः" मन के निग्रह से (मन की विजय से) वह प्राप्त होता है। जो साधक मन और इन्द्रियों को जीत नहीं सकता, उसे वैसा अनुभव प्राप्त नहीं हो सकता। जीवन भर नियमित चित्त होकर रहनेवालों का ही चित्त अंतिम काल में भी आत्मा में लीन रह सकता है। यहाँ अंतिम काल में ही नहीं कहा

गया, अंतिम काल में भी कहा गया है। इसलिए स्वास्थ्य के ठीक रहते समय ही, इन्द्रियों के शिथिल होने के पूर्व ही सब साधनाएँ कर आत्मानुभव प्राप्त करना चाहिए। तभी अंतिम काल में भी दैव की स्मृति हो सकती है। यात्रा के पूर्व ही जिस प्रकार सामान आदि ठीक कर लेते हैं, आवश्यक संबल का बन्दोबस्त करते हैं, उसी प्रकार लंबी यात्रा के पूर्व, देहावसान के समय दैवी अनुभव पूर्ण रूप से प्राप्त कर लेना चाहिए। बचपन एवं जवानी के समय से उसे जमा करके रख लेना चाहिए। बुढापे में शक्ति क्षीण होती है। तब मनुष्य अध्यात्म साधना ठीक तरह से कर नहीं पाता। इसीलिए इस श्लोक में बताया गया कि आत्मसाक्षात्कार के लक्ष्य की पूर्ति जीवन काल में ही कर लेनी चाहिए।

भगवान ने यहाँ कहा है कि जीवन काल में जो मुझे अच्छी तरह जानते हैं, वे अंत्यकाल में भी अच्छी तरह जान सकते हैं। इससे स्पष्ट रूप से चेतावनी मिलती है कि मात्र अन्त्यकाल पर विश्वास करके जीवन भर हमें आलसी बनकर नहीं रहना चाहिए। इसके अलावा किसीको पता नहीं कि अन्त्यकाल कब आएगा। इसलिए जीवन भर भगवान का ध्यान निरंतर करते रहना चाहिए। तब मृत्यु के आने पर भी कोई दिक्कत नहीं होती। जो लोग कहते हैं कि अन्त्यकाल में भगवान का चिंतन करना चाहिए, वह सही नहीं है। गीताचार्य अध्यात्म क्षेत्र में आलसियों को मौका नहीं देते। जीवन भर प्रयत्न करते रहने पर वे जोर देते हैं।

अधिभूत, अधिदैव एवं अधियज्ञ के बारे में अगले अध्याय में बताया गया है।

प्रश्न - देह के वियोग के समय भी कौन नियमितचित्त होकर आत्मानुभव प्राप्त करते हैं ?

उत्तर - जो जीवनपर्यंत अनेक साधनाएँ करके परमात्मानुभव प्राप्त करते हैं वे

देह के अवसान के समय भी नियमित चित्त रहकर आत्मानुभव प्राप्त करते हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः।

उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित, ब्रह्मविद्या, योगशास्त्र एवं श्रीकृष्णार्जुन संवाद में स्थित श्री भगवद्गीता का विज्ञानयोग शीर्षक यह सातवाँ अध्याय है।

ॐ तत् सत्

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ अष्टमोऽध्यायः

आठवाँ अध्याय

अक्षर परब्रह्मयोगः

अक्षर परब्रह्म योग

इस अध्याय का शीर्षक

इस अध्याय का शीर्षक है "अक्षर परब्रह्मयोग"। क्षर का अर्थ है नाशवान। अक्षर का अर्थ है अविनाशी। यह अविनाशी परब्रह्म का बोध करानेवाला अध्याय है। अतः इसका नाम "अक्षर परब्रह्म योग" रखा गया।

इस अध्याय के प्रधान विषय

१. ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म आदि के बारे में अर्जुन के प्रश्न और उनके लिए भगवान के द्वारा दिये गये उत्तर (श्लोक १ से श्लोक ७ तक)।
२. प्रणवोपासना और उसके अद्भुत फल (श्लोक ८ से श्लोक १६ तक)
३. सृष्टि तथा प्रलय का विवरण (श्लोक १७ से श्लोक १९ तक)।
४. भगवान का सनातन स्वरूप और उसकी प्राप्ति (श्लोक २० से श्लोक २२ तक)।
५. शुक्ल कृष्ण मार्गों का वर्णन (श्लोक २३ से श्लोक २६ तक)।
६. योगी की महिमा का वर्णन (श्लोक 27 से श्लोक २८ तक)।

पूर्वाध्याय से इस अध्याय का सम्बन्ध

पिछले अध्याय के अंत में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा कि जरा मरण से मुक्ति चाहनेवाले मेरी शरण में आवें, तो ब्रह्म को अच्छी तरह समझ सकते हैं। फिर उस ब्रह्म की कुछ विशेषताएँ भी बतायीं। उन्होंने कहा कि ब्रह्म समस्त अध्यात्म रूप है। समस्त कर्म स्वरूप है। अधिभूत सहित है।

अधिदैवयुक्त है। अधियज्ञ सहित है। यह भी कहा कि जो ब्रह्म को जाननेवाले हैं, वे अंतिम समय में भी उस परमात्मा को अच्छी तरह याद रखते हैं। उनके वाक्य सुन अर्जुन को सन्देह हुआ। उन्होंने पूछा कि ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? इस प्रकार के अर्जुन के सात प्रश्नों से इस अध्याय का आरंभ होता है।

अर्जुन उवाच

१. किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥

२. अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥

शब्दार्थ - अर्जुन उवाच = अर्जुन ने पूछा। पुरुषोत्तम = पुरुषों में श्रेष्ठ हे कृष्ण। तत् ब्रह्म = वह ब्रह्म। किम् = क्या है ? अध्यात्मं = अध्यात्म। किम् = क्या है ? कर्म = कर्म। किम् = क्या है ? अधिभूतं च = अधिभूत। किम् = क्या। प्रोक्तम = कहा गया। अधिदैवम = अधिदेव। किम् = क्या। उच्यते = कहा जाता है ? मधुसूदन = हे अर्जुन। अस्मिन देहे = इस देह में। अधियज्ञः = अधियज्ञ। कः = कौन है ? अत्र = इसके बारे में। कथम् = कैसे (मालूम करना चाहिए)। प्रयाणकाले च = प्राण के प्रयाण के समय। नियतात्मभिः = नियमित मनवालों के द्वारा। (त्वम् = तुम)। कथम् = कैसे। ज्ञेयः = समझे जानेवाले। अपि = होते हो।

भावार्थ - अर्जुन ने कहा - हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत नाम से क्या कहा गया है और अधिदैव किसको कहते हैं।

हे मधुसूदन ! यहाँ अधियज्ञ कौन है ? और वह इस शरीर में कैसे है ? युक्तचित्तवाले पुरुषों द्वारा अन्त समय में आप किस प्रकार जानने में आते हैं।

व्याख्या - पिछले अध्याय के अंतिम दो श्लोकों में भगवान श्रीकृष्ण ने अध्यात्म एवं ब्रह्म के बारे में संक्षेप में बताया। तुरन्त अर्जुन ने भगवान से प्रार्थना की कि उसका वृत्तांत सविस्तार बतावें। भगवानने अर्जुन के छः प्रश्नों का संक्षेप में उत्तर दिया। फिर सातवें प्रश्न का उत्तर विस्तार से दिया। इस प्रकार पिछले अध्याय के अंत में सूचना के रूप में थोडा बताना, उसी को अगले अध्याय में विस्तार से बताना, इस पद्धति को समासव्यास पद्धति कहते हैं। अर्जुन के प्रश्न से इस अध्याय का आरंभ होता है और श्रीकृष्ण के उत्तरों से अध्याय समाप्त होता है। अत्यंत मुख्य विषय यह है कि अंत्य समय में योगनिष्ठा किस तरह प्राप्त होगी और मोक्ष कैसे मिलेगा ? जीवन भर योग निष्ठा में लीन रहकर ध्यान करते रहने से उस प्रकार की भगवत् स्थिति प्राप्त होती है। इन बातों का विस्तृत विवरण गीताचार्यने दिया। श्रीकृष्ण को मधुसूदन, पुरुषोत्तम कहकर अर्जुन ने संबोधित किया। इससे अर्जुन के हृदय की भक्तिभावना ज्ञात होती है।

पिछले अध्याय के अंतिम वाक्य में भगवान ने "युक्तचेतसः" (नियंत्रित चित्तवाले) कहा। इस अध्याय के आरंभ में नियतात्मभिः (मनोनियमनवाले) कहा। इससे स्पष्ट होता है कि नियंत्रितचित्तवालों तथा मन को वश में करनेवालों को ही आध्यात्मिक क्षेत्र में उत्तम फल प्राप्त हो सकते हैं। मोक्ष की प्राप्ति के लिए मन का नियमन बहुत आवश्यक है।

सम्बन्ध - अर्जुन के सात प्रश्नों में से भगवान् अब पहले ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मविषयक तीन प्रश्नों का उत्तर अगले श्लोक में क्रमशः संक्षेप में देते हैं।

श्रीभगवानुवाच

३. अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥

शब्दार्थ - श्री भगवान उवाच = श्री भगवान बोले। परमम् = सर्वोत्तम।

अक्षरम् = नाशरहित। ब्रह्म = ब्रह्म। स्वभावः = प्रत्यगात्मभाव। आध्यात्मम् = अध्यात्म। उच्यते = कहा जाता है। भूत भावोद्भवकरः = समस्त प्राणियों तथा वस्तुओं को उत्पन्न करनेवाली। विसर्गः = त्यागमय क्रिया। कर्मसंज्ञितः = कर्म का नाम प्राप्त है।

भावार्थ - श्रीभगवान् ने कहा - परम अक्षर 'ब्रह्म' है। अपना स्वरूप अर्थात् जीवात्मा 'अध्यात्म' नाम से कहा जाता है तथा भूतों के भाव को उत्पन्न करनेवाला जो त्याग है, वह 'कर्म' नाम से कहा गया है।

व्याख्या - अर्जुन के सात प्रश्नों का उत्तर क्रमशः भगवान यहाँ दे रहे हैं। पहला प्रश्न है कि ब्रह्म माने क्या है ? भगवान ने उत्तर दिया कि सर्वोत्तम नाशरहित वस्तु ही ब्रह्म है। संसार में सभी दृश्य पदार्थ कालक्रम में नष्ट होते हैं। वे क्षर हैं। अविनाशी वस्तु एक ही है। वह दृग्रूप परब्रह्म है। वह अक्षर है। नाशरहित है। परमम्, अक्षरम् कहा गया। इससे ज्ञात होता है कि वह निरतिशय अक्षरस्वरूप है। किसी भी काल में वह नष्ट नहीं होता, देश काल आदि से कभी विच्छिन्न नहीं होता।

दूसरा प्रश्न है कि अध्यात्म माने क्या है ? उसका उत्तर देते हुए कहा कि स्वभाव ही अध्यात्म है। स्व+भाव=स्वभाव, अपना भाव। अर्थात् प्रत्यगात्म रूप ही अध्यात्म है। आम तौर पर लोग अज्ञान के कारण समझते हैं कि मैं देह हूँ। मैं मन हूँ। वही मेरा स्वरूप है। वही मेरा स्वभाव है। इस श्लोक से ज्ञात होता है कि वह विचार गलत है। जीव का वास्तविक स्वरूप स्वभाव है। अर्थात् प्रत्यगात्मा केवल भाव है न कि देह। जब तक मनुष्य समझता रहेगा कि मैं देह हूँ, मन हूँ, जगत् का पदार्थ हूँ, तब तक वह शांति व सुख नहीं पा सकता। क्योंकि वे क्षर हैं। अक्षर पदार्थ से ही शांति एवं सुख की प्राप्ति होगी। अतः निश्चय कर लेना चाहिए कि अपना स्वभाव तथा स्वरूप आत्मा ही है, न कि नश्वर वस्तु समूह।

तीसरा प्रश्न है कि कर्म माने क्या है ? भगवाने कहा कि भूतकोटि की उत्पत्ति के मूल कारण यज्ञ आदि कर्म हैं। क्योंकि यज्ञ से वर्षा होती है। विसर्गः का अर्थ है छोडना। त्यागना। यज्ञ में होमद्रव्य डालते हैं। होम में आज्य डालते हैं। अतः विसर्गः का अर्थ होम आदि से युक्त यज्ञादिक्रियाएँ हैं। "विसर्गः कर्म संज्ञितः" कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि त्याग से युक्त क्रिया ही सच्ची क्रिया है। वही उत्तम जन्म एवं मोक्ष की प्राप्ति का कारण भी है।

प्रश्न - ब्रह्म माने क्या है ?

उत्तर - सर्वोत्तम एवं निरतिशय वस्तु ही ब्रह्म है।

प्रश्न - अध्यात्म माने क्या है ?

उत्तर - स्वभाव, प्रत्यगात्मा का भाव ही अध्यात्म है।

प्रश्न - कर्म माने क्या है ?

उत्तर - प्राणिकोटि की उत्पत्ति के लिए हेतु कारक त्यागमय क्रिया ही कर्म है।

सम्बन्ध - अब भगवान् अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञविषयक प्रश्नों का उत्तर क्रमशः देते हैं -

४. ***अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।***
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥

शब्दार्थ - देहभृतां वर = देहधारियों में श्रेष्ठ हे अर्जुन। क्षरः = नाशवान। भावः = पदार्थ। अधिभूतम् = अधिभूत (कहा जाता है)। पुरुषः च = विराट् पुरुष या हिरण्यगर्भ। अधिदैवतम् = अधिदेव (कहा जाता है) अत्र देहे = इस देह में। अहमेव = मैं ही। (परमात्मा ही) अधियज्ञः = अधियज्ञ (कहा जाता है)

भावार्थ - उत्पत्ति-विनाशधर्मवाले सब पदार्थ अधिभूत हैं, हिरण्यमय पुरुष

अधिदैव है और हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! इस शरीर में मैं वासुदेव ही अन्तर्यामी रूप से अधियज्ञ हूँ।

व्याख्या - भगवान ने कहा कि इस देह का अधियज्ञ मैं ही हूँ। इससे स्पष्ट होता है कि शरीर में अधियज्ञ के रूप में स्वयं भगवान रहते हैं। यह समझना कि भगवान आकाश में है या पाताल में है या हमसे बहुत दूर है, बिल्कुल गलत है। वह देह के अंदर ही है, अति समीप है। अतः आत्मशोधन कर पंच कोशों को अलग कर उसे प्राप्त कर परम शांति पानी चाहिए। भगवान को समीप जानकर कभी पाप कर्म नहीं करना चाहिए। चूँकि सभी जीवों में भगवान व्याप्त है, अतः कोई व्यक्ति छोटा या बडा नहीं होता। सब बराबर हैं। इसीलिए सब को समान मानकर समता बुद्धि से व्यवहार करना चाहिए। दीनता छोडकर जीव को गंभीरता से व्यवहार करना चाहिए। "देह भृतां वर" (देहधारियों में श्रेष्ठ) कहा गया। इस शब्द के द्वारा ज्ञात होता है कि मनुष्य जो देह धारण करता है, वास्तव में वह देह नहीं है।

प्रश्न - अधिभूत माने क्या है ?
उत्तर - नाशवान पदार्थ ही अधिभूत कहा जाता है।
प्रश्न- अधिदेव क्क्या है ?
उत्तर - विराट पुरुष या हिरण्यगर्भ ही अधिदेव है।
प्रश्न- अधियज्ञ कौन है ?
उत्तर - श्रीकृष्ण ही (स्वयं परमात्मा ही) अधियज्ञ है।

सम्बन्ध - इस प्रकार अर्जुनके छः प्रश्नोंका उत्तर देकर अब भगवान् अन्तकालसम्बन्धी सातवें प्रश्नका उत्तर आरम्भ करते हैं -

५. अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ।।

शब्दार्थ - यः = जो। अन्तकाले च = मरणकाल में भी। मां एव = मुझको ही। स्मरन = स्मरण करते हुए। कलेबरम = शरीर को। मुक्त्वा = छोडकर।

प्रयाति = निकलता है। सः = वह। मद्भावम् = मेरा स्वरूप। याति = पाता है। अत्र = इस विषय में। संशयः = सन्देह। नास्ति = नहीं है।

भावार्थ - जो पुरुष अन्तकाल में भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त होता है - इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

व्याख्या - भगवान श्रीकृष्ण सातवें प्रश्न का उत्तर यहाँ देते हैं। यहाँ बताया गया कि अन्त्य काल में नियमितचित्त होकर परमात्मा को कैसे जाना जा सकता है! बताया गया कि अन्तकाल में भी जो भगवान का स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, वह उस परमात्मा को पाता है। 'अन्तकाले च' कहा गया। यहाँ 'च' वर्ण पर ध्यान देना आवश्यक है। संस्कृत में च का अर्थ हैं भी। श्रीकृष्णने कहा कि जो अन्तकाल में भी मेरा स्मरण करता है, वह मुझे पा सकता है। इससे स्पष्ट है कि जीवनकाल एवं अन्त्यकाल दोनों समयों में परमात्मा का स्मरण करना चाहिए। नहीं तो 'भी' का कोई विशेष महत्व नहीं रहता। भगवानने अन्तकाल एव (अन्तकाल में ही) नहीं कहा। ऐसा कहते तो आलसियों को अच्छा मौका मिलता। मनुष्यों को आलसी बनाना भगवान का लक्ष्य नहीं है। "तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर" (इसलिए सभी कालों में मेरा स्मरण करो।) कहकर आगे गीताचार्य इस श्लोक का भावार्थ भली-भांति समझाते हैं। जीवन भर जो भगवान का चिन्तन करते हैं उन्हींको अन्तिम समय में भगवान का स्मरण होता है। पूर्वजन्म के पुण्यबल के प्रताप से किसी एक महानुभाव को छोड कर बाकी लोगों को मरणकाल में भगवान का स्मरण नहीं होता। इसके लिए पहले से अभ्यास होना चाहिए। एक नाटक का मंचन करना चाहें, तो उस नाटक का पूर्वाभ्यास कई बार करना पडता है। विद्यार्थी परीक्षा पास करना चाहे, तो साल भर उसे प्रयत्न करना पडता है। इसी तरह मरण के पूर्व मनुष्य को चाहिए कि वह अपने चित्त को भगवान में लीन करे। तब मृत्यु के समय भगवान का स्मरण

आसानी से हो सकता है। दिन भर मनुष्य जिस बात का स्मरण करता रहता है, स्वप्न में उसी बात को वह देखता है। इसी तरह जिन्दगी भर जिन बातों का स्मरण करता रहता है, वे ही बातें अन्तकाल में भी याद आती हैं। मन को उत्तम दैवी भावों से भर लेना चाहिए। मरण के समय कभी कभी देह वात पित्त कफ से पीडित रहती है, स्मृतिविहीन रहती है। उस समय भगवान का स्मरण करना संभव नहीं। अतः अन्त्यकाल के सत्संस्कार के लिए जीवन भर चित्त को पारमार्थिक कार्यों में लगा रखना चाहिए। "अन्तकाले च" कहने में और एक रहस्य भी है। माया बलवान है। वह जीव को धोखा देने के लिए सदा तत्पर रहती है। इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि अंतिम सांस तक सचेत रहे। भगवानने कहा कि अंतिम सांस तक भी जो भगवान का स्मरण एवं ध्यान करता रहता है, वह मुक्ति पा सकता है। जरा भी असावधान रहे, तो माया मनुष्य को पतन के गर्त में गिरा देती है। नाव के द्वारा बडी सावधानी से सागर पार करने का प्रयत्न कर जीव किनारे पहुंचता है। पर वहाँ असावधानी बरते तो डूब जाता है। इसी प्रकार सीढियाँ चढ चढ कर अंतिम सीढी तक पहुंचता है। पर वहाँ असावधानी से काम ले, तो धडाम करके नीचे गिर जाता है। इसी प्रकार जीवनपर्यंत भगवान का ध्यान करते हुए अन्तकाल में जरा भी असावधान रहे, तो माया बडा नुकसान पहुंचा सकती है। इसीलिए यहाँ कडी चेतावनी दी गयी है।

इस अवसर पर महर्षि वसिष्ठ के ज्ञानबोध को जो उन्होंने श्री रामचन्द्र को कराया, याद रखना चाहिए।

तव नावहित चित्तं कामः कवलयिष्यति।
सावधानस्य बुद्धस्य पिशाचः किं करिष्यति॥ (योग वासिष्ठ)।

हे रामचन्द्र! असावधान रहेगा, तो तेरे चित्त को काम निगल सकता है। विवेकयुक्त होकर सावधान रहनेवाले के चित्त को (काम) पिशाच कुछ नहीं कर सकता।

"मामेव" (मेरा ही स्मरण करते हुए) शब्द का प्रयोग किया गया। 'एव' कहने से स्पष्ट है कि केवल भगवान का ही स्मरण करना चाहिए और किसी दूसरे का नहीं, क्योंकि इस तरह दृश्यवस्तुओं का स्मरण करते रहें, तो चित्त उच्चट जाएगा। भगवान का ध्यान ठीक तरह से नहीं हो पाएगा। मन लक्ष्य पर केन्द्रित नहीं रह पाएगा। मन जब एकाग्र रहेगा, तब उसकी शक्ति बढेगी। इसलिए कहा गया कि एक ही विषय पर चित्त को एकाग्र रखना चाहिए। अब प्रश्न उठता है कि इस प्रकार अन्त समय में भगवान का स्मरण करनेवाले को क्या फल मिलेगा ? भगवान ने कहा कि 'मद्‌भावंयाति' मेरा स्वरूप ही पाएगा। फल का पता पहले ही लगे, तो कार्य करने में तत्परता बढेगी। भगवान के स्मरण का फल भगवान का साक्षात्कार ही है। मोक्ष ही है। अतः यहाँ कहा गया कि जीवन भर भगवान का ध्यान करते हुए अन्तकाल में भी जो साधक भगवान का स्मरण करेगा, वह भवसागर को पारकर स्वयं परमात्मा का साक्षात्कार करेगा। शाश्वत ब्रह्म पद प्राप्त करेगा। किसीको भी किसी प्रकार का सन्देह न हो, इसीलिए भगवानने यहाँ स्पष्ट कहा कि " ना स्त्यत्र संशयः" अर्थात् इसमें संशय करने की जरूरत नहीं, निश्चितरूप से वे परमात्मा को पा सकते हैं। बिलकुल दयालु भगवानने भक्तों पर आर्द्र होकर उन पर दया की और जनता को अपने वचनों का विश्वास दिलाया। अतः मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे अपने चित्त से सन्देहों को दूर करें, छोटे छोटे लक्ष्यों के पीछे न पडें, मोक्ष को ही फल के रूप में प्रदान करनेवाले भगवान का स्मरण श्रद्धा और भक्ति से सदा करते रहें।

प्रश्न- जीव को अन्तिम समय में भी किस भावना से भरे रहना चाहिए ?

उत्तर - भगवान का ही स्मरण करते हुए किसी दूसरी भावना को हृदय में स्थान न देकर सावधान रहना चाहिए।

प्रश्न - उसका फल क्या है ?

उत्तर - इससे वह परमात्मा का स्वरूप पाएगा।

प्रश्न- अतः जीव को कैसा बर्ताव करना चाहिए ?

उत्तर - जीवन भर। अन्तकाल में भी भगवान का चिन्तन करते रहना चाहिए।

६. यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

शब्दार्थ - कौन्तेय = हे अर्जुन। (यः = जो)। अन्ते = मरण काल में। यं यं वापि भावं = जिस जिस भाव का। स्मरन् = स्मरण करते हुए। कलेवरम् = शरीर को। त्यजति = छोड देता है। (सः = वह)। सदा = हमेशा। तद्भाव भावितः (सन्) = उस उस भाव के स्मरण से प्राप्त संस्कारयुक्त होकर। तं तं एव (भावम्) = उस उस रूप को ही। एनि = पाता है।

भावार्थ - हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह मनुष्य अन्तकाल में जिस-जिस भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग करता है, उस उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भाव से भावित रहा है।

व्याख्या - मनुष्य सदा जिसके बारे में चिन्तन करता है, उसीका प्रभाव उसके चित्त पर पडता है। इसलिए अन्तिमकाल में चित्त में जो संस्कार रहता है, उसीके अनुकूल जन्म वह पाता है। इसीबात का स्पष्टीकरण यहाँ किया गया। जडभरत ने अन्त्यकाल में हिरन का चिन्तन किया, तो दूसरे जन्म में हिरन के रूप में पैदा हुआ। भागवत में ऐसा ही कहा गया। "यद्भावं तद्भवति" जिस भावना से भरा रहेगा, वही रूप प्राप्त करेगा। परन्तु अन्त्यकाल का संस्कार जीवन भर किये जानेवाले अभ्यास पर निर्भर रहेगा। अतः नश्वर वस्तुओं को मन में स्थान नहीं देना चाहिए। परमात्मा का चिंतन करना चाहिए। इससे अंतिम समय में भी परमात्मा का ही ध्यान चित्त में रहेगा। तब साधक परमात्मा को पाने में सफल होगा। संसार में सब से उत्तम स्थिति दुःखरहित निरतिशयानन्द की प्राप्ति है। इसलिए जीवन भर भगवान का चिन्तन, ध्यान, स्मरण करते रहना चाहिए। यह एक क्षण में होनेवाली

बात नहीं है। जीवन भर प्रयास करते रहने से भगवान की कृपा से भगवान के स्मरण में चित्त लगा रहेगा। फलस्वरूप मोक्ष को प्राप्त कर सकेगा। नहीं तो पश्चात्ताप करना पडेगा।

उपर्युक्त कारणों से मनुष्य को चाहिए कि बाल्य एवं यौवनकाल में ही, बुढापे के आगमन के पूर्व ही सतर्क होकर चित्त को भगवान के चिन्तन मनन, ध्यान और स्मरण में लीन रखना चाहिए। सारांश यह कि जीव ही स्वयं कर्ता है। वह जो चाहेगा, वह बन सकेगा। इसलिए उसका भाग्य अन्त्यसमय के उसके व्यवहार पर निर्भर रहेगा। अन्त्यसमय का संस्कार उसके जीवन भर के संस्कारों पर निर्भर रहेगा। इसलिए जीव को बाल्यकाल से ही सतर्क होकर भगवान के चिन्तन मनन में चित्त को लगा रखना चाहिए। यहाँ एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है। जीवन भर साधक भगवान के चिन्तन मनन में लीन रहेगा। जीवन को सन्मार्ग पर चलाएगा। परन्तु अंतिम समय में वातपित्त कफ के कारण वह विवश हो जाएगा। भगवान का स्मरण नहीं कर पाएगा। तब भी उसका कोई नुकसान नहीं होगा। पहले के पुण्यस्मरण के प्रताप से वह सद्गति प्राप्त करेगा।

प्रश्न - जीव मृत्यु के बाद कौन सा रूप पाएगा ?

उत्तर - मरण के समय वह जिन जिन भावों का स्मरण करेगा, जिन जिन रूपों का चिन्तन करेगा, उन उन भावों या रूपों को ही पाएगा।

प्रश्न- अन्तिम समय में दैवीसंस्कार जीव को कैसे प्राप्त होगा ?

उत्तर - जीवन भर दैवीस्मरण, दैवीचिन्तन आदि करते रहने से अन्तिम समय में दैवी संस्कार प्राप्त होगा।

सम्बन्ध - अन्तकालमें जिसका स्मरण करते हुए मनुष्य मरता है, उसीको प्राप्त होता है और अन्तकाल में प्रायः उसी भावका स्मरण होता है, जिसका जीवनमें अधिक स्मरण किया जाता है। यह निर्णय हो जानेपर भगवत्प्राप्ति चाहनेवाले के लिये अन्तकाल में भगवान् का स्मरण रखना अत्यन्त

आवश्यक हो जाता है और अन्तकाल अचानक ही कब आ जाय, इसका कुछ पता नहीं है। अतएव अब भगवान् निरन्तर भजन करते हुए ही युद्ध करनेके लिये अर्जुनको आदेश देते हैं -

७. तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

शब्दार्थ - तस्मात् = इस कारण। सर्वेषु कालेषु = सभी कालों में। मामू = मुझे। अनुस्मर = स्मरण करो। युद्ध च = युद्ध भी करते हुए। मयि = मुझमें। अर्पित = समर्पित। मनोबुद्धिः = मन औरबुद्धि से। माम् एव = मुझको ही एष्यः = पा सकते हो। असंशयः = सन्देह नहीं है।

भावार्थ - इसलिये हे अर्जुन्! तू सब समय में निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।

व्याख्या - पांचवें श्लोक में गीताचार्यने बताया कि अन्त्यकाल में भी भगवान का चिंतन करनेवालों को परमात्मा का पद प्राप्त होगा। संभव है कि भगवान श्रीकृष्णने सोचा होगा कि अन्त्यकाल में ही भगवान का स्मरण करनेवालों को परमात्मा का पद प्राप्त होगा। कुछ आलसी लोग सारा जीवन विषयवासनाओं में बिताकर अन्त्य काल में भगवान का स्मरण करेंगे। अतः इस श्लोक में भगवानने उन्हें सचेत किया। "अन्तकाले च" वाले उपर्युक्त श्लोक का, तस्मात् सर्वेषु कालेषु वाला यह श्लोक भाष्य जैसा है। भगवान् ने कहा कि सभी कालों में मेरा स्मरण करो। 'तस्मात्' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट होता है कि निरंतर दैव चिंतन करने से अन्त्यकाल में स्मरण कर सकेगा। भगवान का स्मरण करना बन्द कर दें, तो तुरन्त माया मनुष्य के चित्त में घुस जाएगी। अतः महोत्सवों के अवसर पर जिस तरह अखंड दीप जलाया जाता है, उसी तरह हृदय कुहर में दैवस्मृति रूपी दीप को जलाना चाहिए।

अनुस्मरन् - 'स्मरन्' न कह कर 'अनुस्मरन्' कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि भगवान का स्मरण बार बार करना चाहिए। किसी एक भाव को हृदय में स्थाई रूप से स्थिर रखना चाहें, तो केवल स्मरण मात्र काफी नहीं है। अनुस्मरण (बार बार स्मरण करना) आवश्यक है। कुछ लोग पूछ सकते हैं कि जीवन भर हमेशा भगवान का स्मरण करते हुए बैठे रहें, तो पेट कैसे भरेगा ? हमारे परिवार का पोषण कौन करेगा ? "ऐसे प्रश्नों का उत्तर भगवानने इस श्लोक में दिया। उन्होंने बताया कि "मा मनुस्मरण युध्य च" मेरा स्मरण करते हुए युद्ध भी करो।" अर्जुन क्षत्रिय हैं। इसीलिए स्वधर्म का आचरण करने को कहा गया। इससे स्पष्ट है कि हर किसीको भगवान का स्मरण करते हुए स्वधर्म का पालन करना चाहिए। अर्जुन ने श्रीकृष्ण को आगे रख कर उन्हीं को देखते हुए युद्ध रूपी भयानक कार्य को किया। इसी तरह लोगों को भगवान का स्मरण करते हुए अपने धर्म का पालन करना चाहिए। भगवान का आदेश यही है।

"मय्यर्पित मनोबुद्धिः" - मनुष्य के मन एवं दिमाग जब निरंतर भगवान में ही लीन रहेंगे, तब वह मनुष्य भगवत्सायुज्य अवश्य पा सकेगा। यहाँ मन के साथ मस्तिष्क को भी शामिल किया गया। इसकी एक विशेषता है। मन सकल्प करता है। निश्चय करती है। मन जो संकल्प करता है, यदि बुद्धि उसका निश्चय न करे, तो मन निश्चल नहीं रहता। अतः मन के साथ बुद्धि को भी शामिल करके दोनों को परमात्मा में स्थित करना चाहिए।

"असंशयः" - जोर देकर कहा गया कि ऐसा करने से भगवान का साक्षात्कार होगा। पांचवें श्लोक में कहा गया कि "नास्त्यत्रसंशयः" (इस विषय में सन्देह नहीं है)। फिर कहा गया कि असंशयः। इससे स्पष्ट है कि ये विषय सत्य हैं। उन पर विश्वास कर अनुष्ठान करना चाहिए। जीवन अपना कार्य करे, तो ईश्वर अपना कार्य अवश्य करेंगे। जो देना है, सो दे देंगे। इसलिए लोगों को चाहिए कि अपने मन एवं बुद्धि भगवान को समर्पित करें। तब अपने आप उन्हें ब्रह्म सायुज्य प्राप्त होगा।

प्रश्न - दैव का स्मरण कब करना चाहिए ?

उत्तर - सभी कालों में बार-बार स्मरण करना चाहिए।

प्रश्न - निरंतर भगवान का स्मरण करते बैठे रहें, तो जीवन का निर्वाह कैसे होगा ?

उत्तर - दैव का स्मरण करते हुए अपने अपने कार्यों और पेशों का निर्वाह धर्म पूर्वक कर सकते हैं। (मामनुस्मर युध्य च)

प्रश्न - भगवान को पाने का उपाय क्या है ?

उत्तर - अपने मन एवं बुद्धि भगवान के सुपुर्द करना चाहिए।

८. ***अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।***
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥

शब्दार्थ - पार्थ = हे अर्जुन। अभ्यास योग युक्तेन = अभ्यास रूपी योग से युक्त। न अन्यगामिना = दूसरी ओर न जानेवाले। चेतसा = मन से। दिव्यम् = दिव्य। परमम् = सर्वोत्तम। पुरुषम् = परम पुरुष को। अनुचिन्तयन् = बार बार चिन्तन करता हुआ। (तम एव = उस परब्रह्म को) याति = पाता है।

भावार्थ - हे पार्थ ! यह नियम है कि परमेश्वर के ध्यान के अभ्यास रूप योग से युक्त, दूसरी ओर न जानेवाला चिन्तन करता हुआ मनुष्य परम प्रकाशस्वरूप दिव्य पुरुष को अर्थात् परमेश्वर को ही प्राप्त होता है।

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि किस प्रकार का आचरण करने से मनुष्य आत्मसाक्षात्कार कर सकेगा। इस श्लोक में आत्मरूप पुरम परुष तक पहुँचने के लिए तीन सदुपदेश दिये गये हैं।

(१) अभ्यास योग का परिशीलन करना चाहिए।

(२) परमात्मा को छोड और किसी पदार्थ में चित्त को स्थित नहीं करना चाहिए।

(३) आत्मा के बारे में ही बार बार चिंतन करना चाहिए।

(१) अभ्यासयोग - गीता में भगवान ने मोक्ष की प्राप्ति के लिए कर्म, भक्ति, ध्यान एवं ज्ञान आदि विविध योगों के बारे में बताया। अब इस श्लोक में और एक विचित्र योग के बारे में बताते हैं। वह अभ्यास योगहै। यद्यपि यह एक योग नहीं है तथापि सब योगों से मिला रहता है। अभ्यास को एक योग का स्तर देकर भगवानने इसका बडा आदर किया। इससे स्पष्ट होता है कि मुमुक्षुओं के लिए यह महत्वपूर्ण है। योग अभ्यास के बिना सफल नहीं होगा। इसलिए सभी योगों के लिए अभ्यास जरूरी है। भगवान ने छठे अध्याय में कहा कि मनोनिग्रह के लिए अभ्यास एवं वैराग्य आवश्यक हैं। उन्होंने कहा-

"अभ्यासेनतु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते" (६-३५) महर्षि पतंजलिने भी कहा कि अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः। इस प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में अभ्यास का बडा महत्व है। लौकिक क्षेत्र में भी उसकी आवश्यकता सब लोग जानते हैं। अभ्यास से दुर्वासनाएँ और दुःसंकल्प दृढ होते हैं। कपडे को साफ करने के लिए साबुन के होने पर भी पानी के बिना वह काम नहीं आता। इसी प्रकार हर योग अभ्यास से ही सत्फल होगा।

"चेतसानान्यगामिना" - अब दूसरा विषय है चित्त का अन्यत्र कहीं न भागना। अर्थात् अव्यभिचारि बना रहना। चित्त को दृश्यविषयों में लीन न होकर ध्येय वस्तु परमात्मा में स्थिर रहना चाहिए। दृश्यपदार्थ सब नाशवान हैं। इसलिए मन को विवेक के साथ मोड कर आत्मा में स्थिर करना चाहिए। चित्त चुपचाप नहीं रहता। इसलिए उसे चिन्तन के लिए कोई वस्तु देनी चाहिए। अतः सांसारिक वस्तुओं की ओर उसे जाने न देकर दैव सम्बन्धी वस्तुओं पर केन्द्रित करना चाहिए।

"अनुचिन्तयन्" - बताया गया कि सदा आत्मा के बारे में चिन्तन करना चाहिए। चिन्तयन् न कहकर अनुचिन्तयन् कहा गया। मतलब है कि बार-बार परमात्मा का चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार साधना करते रहने से

मनुष्य परमात्मा को अवश्य पा सकेगा। 'याति' शब्द के द्वारा भगवान ने इस बात को स्पष्ट कर दिया। अतः मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे भगवान के वाक्यों पर विश्वास करें और आवश्यक साधनाएँ करके कृतार्थ बनें।

प्रश्न - भगवान कैसा है ?

उत्तर - प्रकाशवान है। सर्वोत्तम है।

प्रश्न - उसे पाने के उपाय क्या है ?

उत्तर - (१) चित्त को दृश्य पदार्थों की ओर नहीं जाने देना चाहिए। (२) परमात्मा का सदा चिन्तन करते हुए अभ्यास करते रहना चाहिए। यही मोक्ष प्राप्ति का उपाय है।

प्रश्न - भगवान का ध्यान करनेवाले के चित्त को कैसे रहना चाहिए ?

उत्तर - ध्येयरूप परमात्मा को छोड और किसी विषय में उसे रमना नहीं चाहिए।

सम्बन्ध - दिव्यपुरुष की प्राप्ति बतलाकर अब उसका स्वरूप बतलाते हैं -

९. *कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।*
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥

१०. *प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।*
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

शब्दार्थ - यः = जो। भक्त्या = भक्ति से। युक्तः = युक्त। प्रयाणकाले = अन्तिम काल में। योग बलेन = ध्यान अभ्यास के संस्कारों से। प्राणम् = प्राण वायु को। भ्रुवोः = भृकुटियों के। मध्ये = बीच। सम्यक् = अच्छी तरह। आवेश्य = स्थापित कर। च = फिर। कविम् = सर्वज्ञ। पुराणम् = पुरातन। अनुशासितारम् = सर्वलोक नियामक। अणोः = अणु से। अणीयांसम् = अतिसूक्ष्म। सर्वस्य = समस्त जगत् को। धातारम् = आधार-भूत। अचिन्त्यरूपम् = अचिन्त्य स्वरूप। आदित्यवर्णम् = सूर्य के सदृश्य

कांतिवाला। तमसः = अज्ञान रूपी अंधकार के। परस्तात = परे रहनेवाला। पुरुषम् = परमात्मा को। अचलेन मनसा = निश्चल मन से। अनुस्मरेत् = लगातार चिंतन करने से। सः = वह। दिव्यम् = प्रकाशरूप। परम् = सर्वोत्तम। तम् एव = उस परमात्मा को। उपैति = पाता है।

भावार्थ - जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता, सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करनेवाले अचिन्त्यस्वरूप, सूर्य के सदृश नित्य चेतन प्रकाशरूप और अविद्या से अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्द घन परमेश्वर का स्मरण करता है। वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकाल में भी योगबल से भृकुटीके मध्य में प्राणको स्थापित करके, फिर निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ उस दिव्यस्वरूप परम पुरुष परमात्मा को ही प्राप्त होता है।

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि परमात्मा कैसा है और उसका ध्यान किस प्रकार करना है। ध्यान पर विश्वास जमाना है। किसी वस्तु, व्यक्ति या विषय पर ध्याता को तभी विश्वास होगा, जब कि उसका स्वरूप एवं स्वभाव उसे मालूम हो। यहाँ ध्येय रूप परमात्मा के स्वरूप का विवरण 'कविं पुराणं' वाले श्लोक के द्वारा दिया गया।

१. **कवि** - परमात्मा कवि है। अर्थात् सर्वज्ञ है। कवियों का कवि है। उस परम कवि को जानना ही मुख्य कविता है।

२. **पुराणपुरुष** - वह सनातन है। अनादि स्वरूप है। जगत् के सभी दृश्य पदार्थों का वही मूल है। जिसकी आदि होती है, उसका अंत भी होता है। अतः दृश्यवस्तु नश्वर है। परमात्मा शाश्वत हैं।

३. **शासक** - सभी जीवों और समस्त लोक का वह शासक है। प्रभु है। छोटे छोटे राज्यों के शासकों का लोग आदर करते हैं तो ब्रह्मांड के नायक परमेश्वर का आदर और भी बडे स्तर पर करना चाहिए।

४. **सूक्ष्मरूप** - अणु से भी बढकर सूक्ष्म रूप है। परमात्मा के बारे में उपनिषद् घोषित करते हैं कि वह "अणोरणीयान् महतो महीयान्"

अर्थात् अणु से भी सूक्ष्म एवं महद्वस्तुओं से महान् है। इसलिए हर सूक्ष्मवस्तु में व्याप्त उस परमात्मा की समीपता का अनुभव करते हुए भक्तियुक्त रहना चाहिए।

५. **सर्वाधार** - समस्त विश्व का धारक, पोषक, संरक्षक, आधारभूत हैं परमात्मा। दृश्य पदार्थ सब जड हैं। चैतन्य के आधार के बिना वे टिके नहीं रह सकते। उस चेतनता का आधार परमात्मा है।

६. **अचिंत्यरूप** - वे इन्द्रियातीत हैं। इसलिए मन से चिंतन करने के लिए सुलभ नहीं हैं। फिर भी शुद्ध मन से निरंतर ध्यान करते हुए परमात्मा में लीन रहे, तो समुंदर की नदी की भांति उसी रूप का बन सकता है। मलिनचित्तवाले के ध्यान का केन्द्र परमात्मा नहीं बन सकते। शुद्ध चित्त के द्वारा ही परमात्मा जाने जा सकते हैं। परन्तु एक बात है। आत्मा में लीन होकर, तद्रूप बनकर, व्यवहार करें, तो परमात्मा की अनुभूति हो सकती है। इसीलिए छठे अध्याय में "बुद्धिग्राह्य" और इस श्लोक में अनुस्मरेत् कहा गया है।

७. **आदित्यवर्ण** - इसका अर्थ है प्रकाश स्वरूप। सूर्यो को भी प्रकाशित करनेवाला वह ज्ञानसूर्य है। (तस्य भासा सर्वमिदं विभाति)।

८. **तमस् के परे** - माया एवं अज्ञानरूपी अंधकार के परे रहनेवाले विलक्षण रूप परमात्मा हैं।

ऐसे लक्षणों से विलसित परमात्मा का अपने अन्त्यकाल में मनुष्य को एकाग्रचित्त हो कर भक्तिभाव से चिंतन करना चाहिए। यहाँ अन्त्यकाल को प्रयाण समय कहा गया। दीर्घ प्रयाण समझना चाहिए। जिस तरह यात्रा के अवसर पर आवश्यक सामग्री एवं पाथेय लेकर यात्री चलते हैं, उसी तरह परलोक की यात्रा के लिए आवश्यक पुण्य संपत्ति पहले से ही इकट्ठा कर रख लेनी चाहिए। यहाँ यह स्पष्ट बताया गया कि अन्त्यकाल में परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। यहाँ भक्ति और योग दोनों का विवरण दिया गया

है। बताया गया कि (१) भक्ति से युक्त होकर (२) योग के बल से प्राणवायु या दृष्टि को भृकुटियों के बीच स्थित कर निश्चल मन से परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि ध्यान-योगी के लिए भक्तिं एवं योग दोनों आवश्यक हैं। अहंकार के नाश और भगवान के अनुग्रह की प्राप्ति के लिए भक्ति अत्यंत आवश्यक है। इसी तरह चित्त की एकाग्रता के लिए इन्द्रियों एवं मन का निग्रह आवश्यक है। इसीलिए 'भक्त्या तथा योग बलेन' शब्दों के द्वारा भक्ति एवं योग दोनों का बोध कराया गया। 'अनुस्मरन' कहा गया। इससे स्पष्ट है कि भगवान का सदा सर्वदा चिन्तन करना चाहिए। 'अचलेन मनसा' कहा गया। इससे स्पष्ट है कि मन को निश्चल रहना चाहिए। यह भी स्पष्ट है कि चपलचित्त परमात्मा का ग्रहण नहीं कर सकता।

यद्यपि अन्त्यकाल में परमात्मा के नाम स्मरण की बात कही गयी है, तथापि जीव को शुरू से ही परमात्मा के ध्यान एवं स्मरण को महत्व देना चाहिए। नहीं तो योगबल एकदम अन्त्यकाल में कैसे प्राप्त होगा ? अतः जीवन में सदा सर्वदा निश्चल मन एवं भक्तिभाव से परमात्मा का स्मरण करते हुए अन्त्यकाल में भी ऐसे ही करना चाहिए। इसका फल मोक्ष ही है। (पुरुष मुपैति दिव्यम्)। अतः समस्त प्राणियों को चाहिए कि वे नश्वर सांसारिक वस्तुओं के पीछे न पड कर शाश्वत परमात्मा की प्राप्ति के लिए नित्य यत्न करें।

प्रश्न - परमात्मा कैसा है ?

उत्तर - (१) सर्वज्ञ है (२) अनादिस्वरूप है (३) जगन्नियामक है (४) अणु से भी बढकर सूक्ष्म है (५) सर्वाधार है (६)अचिंत्य रूप है (७) आदित्यवर्ण है (८) तमस् के परे है।

प्रश्न - अन्त्यकाल में उनका ध्यान किस प्रकार करना चाहिए ?

उत्तर - (१) निश्चल मन से (२) भक्तिभाव से (३) योग बल से (४) प्राण वायु या दृष्टि को भृकुटियों के बीच स्थित करके परमात्मा का ध्यान निरंतर करना चाहिए।

प्रश्न - ऐसा करने से फल क्या मिलेगा ?

उत्तर - परमात्मा का पद मिलेगा।

प्रश्न - भगवान की प्राप्ति के लिए उपाय क्या है ?

उत्तर - निश्चिल चित्त तथा निर्मल भक्ति से परमात्मा का सदा ध्यान करते रहना ही उत्तम उपाय है।

सम्बन्ध - पाँचवें श्लोक में भगवान् का चिन्तन करते-करते मरनेवाले साधारण मनुष्य की गति का संक्षेप में वर्णन किया गया, फिर आठवें से दसवें श्लोक तक भगवान् के 'अधियज्ञ' नामक सगुण निराकार दिव्य अव्यक्त स्वरूप का चिन्तन करनेवाले योगियों की अन्तकालीन गतिके सम्बन्ध में बतलाया। अब ग्यारहवें श्लोक से तेरहवें तक परम अक्षर निर्गुण निराकार परब्रह्म की उपासना करनेवाले योगियों की अन्तकालीन गति का वर्णन करने के लिये पहले उस अक्षर ब्रह्म की प्रशंसा करके उसे बतलाने की प्रतिज्ञा करते हैं -

११. यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥

शब्दार्थ - वेदविदः = वेदार्थ जाननेवाले। यत् = जिसे। अक्षरम् = अविनाशी। वदन्ति = कहते हैं। वीतरागाः = रागरहित। यतयः = यत्नशील। यत् = जिसे। विशन्ति = प्रवेश करते हैं। यत् = जिसे। इच्छन्तः = चाहनेवाले। ब्रह्मचर्यम् = ब्रह्मचर्य को। चरन्ति = आचरण करते हैं। तत् पदम = उस स्थान को। ते = तुझे। संग्रहेण = संक्षेप में। प्रवक्ष्ये = कहूँगा।

भावार्थ - वेद कें जाननेवाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परमपद को अविनाशी कहते हैं, आसक्तिरहित यत्नशील संन्यासी महात्माजन जिसमें प्रवेश करते हैं और जिस परमपद को चाहनेवाले ब्रह्मचारी लोग ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, उस परम पद को मैं तेरे लिये संक्षेप से कहूँगा।

व्याख्या - वह युद्ध का समय था। इसलिए विस्तार से कहना संभव नहीं था। ब्रह्मपद का जितना भी वर्णन किया जाय, कम पडता है। अतः भगवान ने

शब्दार्थ - (ये) जनाः = जो लोग। ब्रह्मणः = ब्रह्म के। यत् अहः = जो दिन है, (उसे)। सहस्रयुग पर्यन्तम् = एक हजार युगों की अवधिवाला। रात्रिं युगसहस्रांता = रात को भी एक हजार चतुर्युगी तक की अवधि। विदुः = जानते हैं। ते = वे। अहोरात्रविदुः = रात दिन के तत्व को जाननेवाले होते हैं।

भावार्थ - ब्रह्म का जो एक दिन है, उसको एक हजार चतुर्युगी तक की अवधिवाला और रात्रि को भी एक हजार चतुर्युगी तक की अवधिवाली जो पुरुष तत्त्वसे जानते हैं, वे योगीजन काल के तत्त्व को जाननेवाले हैं।

व्याख्या - पिछले श्लोक में बताया गया कि सभी लोक काल के वश में हैं। क्षयशील हैं। परिणामकारक हैं। जनन के कारक हैं। इस श्लोक में ब्रह्मलोक के काल की सीमा का विवरण देकर भगवान बतलाते हैं कि ब्रह्मलोक भी काल के वश में है। ब्रह्मदेव का एक दिन हजार महायुगों का रूप है। इस तरह उनकी एक रात भी हजार महायुगों का काल है। इस प्रकार ब्रह्म देव के एक दिन के काल की सीमा दो हजार वर्षों की है। महायुग माने तैंतालीस लाख बीस हजार वर्षों का है। इसका विवरण निम्न प्रकार है -

कलियुग	४३२०००	वर्ष।
द्वापरयुग	८६४०००	वर्ष। (कलियुग से दो गुना ज्यादा)।
त्रेतायुग	१२९६०००	वर्ष। (कलियुग से तीन गुना ज्यादा)।
कृतयुग य सत्ययुग	१७२८०००	वर्ष। (कलियुग से चार गुना ज्यादा)।
कुल	४३२००००	वर्ष = १ महायुग।

इस प्रकार कुल ४३२०००० वर्षों का एक महाकाल है। ऐसे एक हजार महायुग ब्रह्मदेव का एक दिन है। और एक हजार महायुग एक रात है।

अर्थात् ४३२०००० x १००० = ४३२००००००० वर्ष ब्रह्मदेव का एक दिन है। ४३२००००००० x २ = ८६४००००००० वर्ष ब्रह्मदेव का एक दिवस है व एक रोज है।

ऐसे ३६० दिवस ब्रह्मदेव का एक वर्ष होता है। ऐसे १०० वर्षों की आयु ब्रह्मदेव की है। इससे स्पष्ट होता है कि ब्रह्मलोक भी काल के गर्भ के अंतर्गत ही है। अतः विज्ञ को चाहिए कि ऐसे कालांतर्गत भोग समुदायों तथा नश्वर लोकों की इच्छा न करे, कालातीत परमात्मा के आश्रय में जाकर मुक्ति प्राप्त करे। समस्त पदार्थों तथा ब्रह्मांडों को काल ग्रसता है। काल को परमात्मा ग्रसते हैं। अतः जिस महानुभाव में देश, काल आदि सब कल्पित हैं, उस सत्य स्वरूप परमात्मा के आश्रय में जाना, काल के वशवर्तियों के प्रति विरक्त रहना कालतत्व को जाननेवालों का लक्षण है। इस तरह दृश्य जगत् की नश्वरता और आत्मा की शाश्वतता जाननेवाला ही कालज्ञान को जान सकता है।

प्रश्न- ब्रह्मदेव का एक दिन और एक रात का परिमाण कितना है ?

उत्तर - एक एक का कालपरिमाण एक हजार महायुगों का है।

प्रश्न - इससे कौन सा विषय स्पष्ट होता है ?

उत्तर - इससे स्पष्ट होता है कि ब्रह्मलोक भी काल के अंतर्गत है। काल के वश में एक मात्र परमात्मा ही नहीं है। अतः जन्मराहित्य एवं मोक्ष केलिए परमात्मा के आश्रय में जाना चाहिए।

सम्बन्ध - ब्रह्माके दिन-रात्रि का परिमाण बतलाकर अब उस दिन और रातके आरम्भमें बार-बार होनेवाली समस्त भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलय का वर्णन करते हुए उन सब की अनित्यता का कथन करते हैं -

१८. अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

शब्दार्थ - अहरागमे = दिन के आरंभ में। अव्यक्तात् = अव्यक्त (प्रकृति) से। सर्वाः = समस्त। व्यक्तयः = चराचर वस्तु। प्रभवन्ति = पैदा होती हैं।

रात्र्यागमे = रात के आरंभ में। अव्यक्त संज्ञा के = अव्यक्त नामी। तत्रैव = उसी में। प्रलीयन्ते = लीन होती हैं।

भावार्थ - सम्पूर्ण चराचर भूतगण ब्रह्मा के दिन के प्रवेशकाल में अव्यक्त से अर्थात् ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर से उत्पन्न होते हैं और ब्रह्मा की रात्रिके प्रवेशकाल में उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीर में ही लीन हो जाते हैं।

व्याख्या - एक मात्र परमात्मा को छोड बाकी सब जनन एवं मरण से युक्त हैं। ये सब पदार्थ माया से उत्पन्न होकर उसीमें लीन होते हैं। जिस प्रकार निद्रारूपी तमस में स्वप्न पदार्थ सब सृजित होकर फिर उसी में विलीन होते हैं, उसी प्रकार यह समस्त जगत परमात्मा में आभास के रूप में रहकर प्रकृति में पैदा होकर फिर उसीमें विलीन होता है। अतः सृष्टि एवं लय से वास्तव में परमात्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भी सब का आधारभूत एवं अधिष्ठान बनकर भगवान विराजमान हैं।

प्रश्न- समस्त जगत् के पदार्थ किससे पैदा होते हैं ?

उत्तर - अव्यक्त (मूल प्रकृति, माया) से पैदा होते हैं।

प्रश्न- कब पैदा होते हैं ?

उत्तर - जब ब्रह्मदेव का दिन शुरू होता है, तब जगत् के पदार्थ पैदा होते हैं।

प्रश्न- उनका लय कब और कहाँ होता हैं ?

उत्तर - जब ब्रह्मदेव की रात शुरू होती है, तब जगत् के पदार्थों का लय होता है। जिस अव्यक्त से वे पैदा होते हैं, फिर उसी अव्यक्त में विलीन होते हैं।

सम्बन्ध - यद्यपि ब्रह्मा की रात्रि के आरम्भ में समस्त भूत अव्यक्त में लीन हो जाते हैं, तथापि जब तक वे परम पुरुष परमेश्वर को प्राप्त नहीं होते, तब तक उनका पुनर्जन्म से पिंड नहीं छूटता। वे आवागमन के चक्कर में घूमते ही रहते हैं। इसी भावको दिखलानेके लिये भगवान् कहते हैं -

१९. भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥

शब्दार्थ - पार्थ = हे अर्जुन। स एव अयम् भूतग्रामः = वैसा यह प्राणि समुदाय। अवशः = कर्मपराधीन होकर। भूत्वा भूत्वा = पैदा हो होकर। रात्र्यागमे = (ब्रह्मकी) रात के आरंभ में। प्रलीयते = लय होता है। अहरागमे= (ब्रह्म के) दिन के आरंभ में। प्रभवति = पैदा होता है।

भावार्थ - हे पार्थ ! वही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर प्रकृतिके वश में हुआ रात्रिके प्रवेशकाल में लीन होता है और दिन के प्रवेशकाल में फिर उत्पन्न होता है।

व्याख्या - यहाँ स्पष्ट किया गया कि गत कल्प का प्राणि समुदाय ही कर्मपराधीन होकर फिर इस कल्प में पैदा होता है। फिर मरते हुए पैदा होते हुए संसार के चक्र में घूमता रहता है। भूत्वा भूत्वा कहा गया। इससे स्पष्ट है कि दो जन्म नहीं, कर्म के अंत न होने तक कई जन्म जीव पाता है। कर्मबद्ध होने के कारण जीव 'अवश' कहा गया। आशा के पाश में बंधा हुआ है, अतः वह अस्वतंत्र है। यत्न करके आत्मज्ञान प्राप्त करना, उसके द्वारा कर्मपाश को छेद डालना और इस जनन मरण रूपी भव के चक्रभ्रमण से छुटकारा पाना हर साधक का कर्तव्य है। जीव अभी तक करोडों जन्म ले चुका है। किसी पुण्य के प्रभाव से मनुष्य जन्म उसे मिल चुका है। ऐसे मानव जन्म का सदुपयोग कर पारमार्थिक विज्ञान पाकर जन्म परंपरा को पूर्णविराम लगाना चाहिए। अब तक जीव अज्ञान में पड कर अपूर्ण विराम ही लगाते रहे हैं। इसलिए अब जरूरी है कि जीव सचेत होकर भगवान के आश्रय में जावें और जन्मपरंपरा को समाप्त कर लें।

प्रश्न- (कार्य राहित्य तक) जीव की गति कैसी है ?

उत्तर - सृष्टि के आरंभ में पैदा होकर प्रलय में लय होना जीव की गति है।

प्रश्न- कर्म बन्धन कैसे छूटता है ?

उत्तर - आत्मज्ञान से, स्वस्वरूप के ज्ञान से कर्म बन्धन छूटता है।

सम्बन्ध - ब्रह्मा की रात्रि के आरम्भ में जिस अव्यक्त में समस्त भूत लीन होते हैं और दिन का आरम्भ होते ही जिस अव्यक्त से उत्पन्न होते हैं, वही अव्यक्त सर्वश्रेष्ठ है? या उससे बढ़कर कोई दूसरा और है ? इस जिज्ञासा पर कहते हैं -

२०. परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

शब्दार्थ - यः भावः = जो परमात्मा पदार्थ। तस्मात् अव्यक्तात्तु = वह अव्यक्त (प्रकृति से बढ़कर)। अन्यः = अलग। परः = उत्तम। अव्यक्तः = इन्द्रियों के लिए अगोचर। सनातनः = पुरातन है। सः = वह परमात्मा पदार्थ। सर्वेषु भूतेषु = समस्त प्राणिकोटि। नश्यत्सु = नाश होते हुए भी। न विनश्यति = नष्ट नहीं होता।

भावार्थ - उस अव्यक्त से भी अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण जो सनातन अव्यक्त भाव है, वह परम दिव्य पुरुष सब भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता।

व्याख्या - पिछले श्लोक में अव्यक्त (माया प्रकृति) के बारे में कहा गया। यहाँ बताया गया कि उस अव्यक्त से परे और एक वस्तु है, वही शाश्वत है। मायांतर्गत जगत् के समस्त प्राणियों में तथा उस परमात्मा में बडा अंतर है।

प्राणि समुदाय	**परमात्मा**
	मायातीत। प्रकृति को वश में किया हुआ।
२. अल्प रूप	महान् चिद्रूप।
३. इन्द्रियों को गोचरित होनेवाला	इन्द्रियों के लिए अगोचर (अव्यक्तरूप)

४. 'आदि' वाला — अनादिरूप (सनातन)

५. नाशवान — अविनाशी

इससे स्पष्ट होता है कि परमात्मा का ध्यान, स्मरण क्यों करना चाहिए? नाशवान पदार्थ का कर्तव्य है कि वह अविनाशी पदार्थ का ध्यान करे। अतः जीव को चाहिए कि वह सांसारिक चक्कर में न पडे, अपने हृदय में स्थित प्रकाशवान परमात्मा का ध्यान करे, उसमें मिलकर एक हो जावे।

प्रश्न - परमात्मा कैसा है ?

उत्तर - (१) अव्यक्त है (२) सर्वश्रेष्ठ है (३) इन्द्रियों के लिए अगोचर है। (४) अनादि स्वरूप है। (५) समस्त भूतकोटि नष्ट होती है, पर वह कभी नष्ट नहीं होता।

२१. अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

शब्दार्थ - (यः = जो परमात्मा)। अव्यक्तः = अगोचर। अक्षरः इति = नाशरहित। उक्तः = कहा गया। तम् = उसे। परमाम् = सर्वोत्तम। गतिम् = प्राप्य स्थान। आहुः = (वेदविद्) कहते हैं। यम् = जिसे। प्राप्य = पाकर। ननिवर्तन्ते = फिर पैदा नहीं होते। तत् = वह। मम = मेरे। परमम् = श्रेष्ठ। धाम = स्थान है।

भावार्थ - जो अव्यक्त 'अक्षर' इस नाम से कहा गया, उसी अक्षर नामक अव्यक्त भावको परमगति कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्त भाव को प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते, वह मेरा परम धाम है।

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि संसार में सर्वोत्तम पद कौन सा है ? किसे प्राप्त करने से जीव को पुनर्जन्म की प्राप्ति नहीं होती। स्थूल दृष्टि के लिए अगोचर और सूक्ष्म दृष्टि के लिए गोचर होनेवाले भगवान ही सर्वोत्तम हैं। वेदशास्त्रों का कथन यही है। अतः क्षर वास्तु की आराधना करना व्यर्थ है।

अक्षर वस्तु की आराधना करना ही श्रेष्ठ है। यहाँ कहा गया कि वह परमगति स्वयं परमात्मा ही हैं। अतः विवेकी मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे माया के जाल में न फंसें, सर्वश्रेष्ठ परमात्मा के स्थान का अवलंबन करें।

फिर बताया गया कि उस परमात्मा को पाने से प्रयोजन क्या मिलेगा ? सब से महान् प्रयोजन जन्मराहित्य है। संसार के किसी भी लोक में पैदा होकर जीव पुनर्जन्म पाता है। परन्तु परमात्मा को जो पाता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। सांसारिक दुःख नहीं होता। अतः उस परमधाम की प्राप्ति के लिए हर जीव को प्रयत्न करना चाहिए। जन्म - दुःख, जरा-दुख एवं मरण - दुःख भयंकर होते हैं। उस अति भयंकर गर्त में न पडकर हर जीव को परमात्मा के आश्रय में जाना चाहिए।

प्रश्न - संसार में सब से श्रेष्ठ स्थान कौन सा है ?

उत्तर - अव्यक्त एवं अविनाशी परमात्मा का स्थान ही श्रेष्ठ है।

प्रश्न - उसे पानेवाले को मिलनेवाला प्रयोजन क्या है ?

उत्तर - वे जनन मरण के चंगुल से मुक्त होते हैं। पुनर्जन्म नहीं लेता।

प्रश्न - किसे प्राप्त कर जीव पुनर्जन्म प्राप्त नहीं करता ?

उत्तर - परमात्मा का स्थान प्राप्त कर जीव पुनर्जन्म नहीं पाता।

प्रश्न - परमात्मा कैसा है ?

उत्तर- परमात्मा अव्यक्त है। अविनाशी है।

सम्बन्ध - इस प्रकार सनातन अव्यक्त पुरुष की परम गति और परम धाम के साथ एकता दिखलाकर, अब उस सनातन अव्यक्त परम पुरुष की प्रप्ति का उपाय बतलाते हैं -

२२. पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥

शब्दार्थ - पार्थ = हे अर्जुन। भूतानि = प्राणी। यस्य = जिसके। अन्तःस्थानि = अंतर्गत हैं। येन = जिससे। सः परः पुरुषः = वह परम पुरुष। अनन्यया = अनन्य। भक्त्यातु = भक्ति से ही। लभ्यः = प्राप्त होने योग्य है।

भावार्थ - हे पार्थ ! जिस परमात्मा के अन्तर्गत सर्वभूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मा से यह सब जगत् परिपूर्ण है, वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्य भक्ति से ही प्राप्त होने योग्य हैं।

व्याख्या - इस श्लोक में बताया गया कि परमात्मा का स्वरूप क्या है ? उसे पाने का मार्ग क्या है ? अर्थात् साध्यवस्तु एवं साधन दोनों का स्पष्टीकरण यहाँ किया गया। चराचर प्राणियों का समूह इस जगत् में है। उसका आधार परमात्मा ही है। उसी में जगत् स्थित है। जिस प्रकार मक्खन दूध में सम्मिलित है, उसी प्रकार परमात्मा समस्त जगत् में व्याप्त है।

अब प्रश्न उठता है कि वह परमात्मा जीवों को कैसे प्राप्त होगा ? गीताचार्य ने स्पष्ट बताया कि "भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया" अर्थात् अनन्य भक्ति से ही परमात्मा पाया जा सकता है। अनन्य शब्द के प्रयोग से स्पष्ट होता है कि परमात्मा की प्राप्ति के लिए अनन्य याने तीव्र भक्ति आवश्यक है। अनन्य का मतलब है कि भगवान पर ही अनन्य भक्ति होनी चाहिए। अन्य किसी भी वस्तु पर आसक्ति नहीं होनी चाहिए। भक्तिमार्ग सब के लिए सुलभ है। इसीलिए गीताचार्य कई बार भक्तिमार्ग पर प्रकाश डाल रहे हैं। क्योंकि सभी योगों में किसी न किसी रूप में भक्ति होती है। सब लोग पूछा करते हैं कि भगवान को पाने का मार्ग क्या है ? उनको इस श्लोक के द्वारा उत्तर मिल गया है। अनन्य भक्ति ही परमात्मा को पाने का श्रेष्ठ उपाय है। उस पर विश्वास करके साधकों को उस अनन्य भक्ति का अनुष्ठान करना चाहिए।

यहाँ भगवान को "परमपुरुष" कहा गया। बाकी सब सामान्य पुरुष हैं। परमात्मा एक ही परम पुरुष हैं। पुरुष को चाहिए कि वह भक्ति

आदि साधनों का आश्रय लेकर परमात्मा में लीन होकर परमपुरुष बने। सभी को याद रखनी चाहिए कि वही वास्तव में जीवन का लक्ष्य है।

प्रश्न - समस्त जगत् किस में स्थित है ? किसके द्वारा व्याप्त है ?
उत्तर - परमात्मा में स्थित है ? उसीके द्वारा व्याप्त है।
प्रश्न - वह परमात्मा कैसे पाया जा सकता है ?
उत्तर - अनन्य भक्ति से परमात्मा पाया जा सकता है।

२३. *यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।*
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥

शब्दार्थ - भरतर्षभ = भरतवंश के श्रेष्ठ हे अर्जुन। यत्रकाले = जिस काल में। प्रयाताः = (शरीरत्याग कर) गए हुए। योगिनः = योगी। अनावृत्तिंतु = पुनर्जन्मराहित्य को। आवृत्तिं च एव = पुनर्जन्म को। यान्ति = पाते हैं। तं कालम् = उस काल को। वक्ष्यामि = कहता हूँ।

भावार्थ - हे अर्जुन ! जिस काल में शरीर त्यागकर गये हुए योगीजन तो वापस न लौटनेवाली गतिको और जिस काल में गये हुए वापस लौटनेवाली गति कों ही प्राप्त होते हैं, उस काल को अर्थात् दोनों मार्गों को कहूँगा।

सम्बन्ध - पूर्व श्लोकमें जिन दो मार्गों का वर्णन करने की प्रतिज्ञा की गयी, उनमेंसे जिस मार्ग से गये हुए साधक वापस नहीं लौटते, उसका वर्णन पहले किया जाता है -

२४. अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥

शब्दार्थ - अग्निः = अग्नि। ज्योतिः = प्रकाश। अहः = दिन। शुक्लः = शुक्लपक्ष। षण्मासाः = छः मासवाला। उत्तरायणम् = उत्तरायण। (यत्र सन्ति = जिस मार्ग में हैं)। तत्र = उस मार्ग में। प्रयाताः = निकले हुए।

ब्रह्मविदः = ब्रह्मविद्। जनाः = जन। ब्रह्म = ब्रह्म को। गच्छन्ति = पाते हैं।

भावार्थ - जिस मार्ग में ज्योतिर्मय अग्नि अभिमानी देवता है, दिन का अभिमानी देवता है, शुक्लपक्ष का अभिमानी देवता है और उत्तरायण के छः महीनों का अभिमानी देवता है, उस मार्ग में मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता योगीजन उपर्युक्त देवताओं द्वारा क्रम से ले जाये जाकर ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या - ज्ञान प्रकाश है, तो अज्ञान अंधकार है। प्रकाशरूप ब्रह्मज्ञान पानेवाला ब्रह्म को ही पाता है। देह को त्यागने एवं देहधारी होने पर भी वह ब्रह्मरूप ही रहेगा।

इस श्लोक में "ब्रह्मविदो जनाः" कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि जो ब्रह्म को जानते हैं, वे ही उस महोन्नत स्थिति तक पहुँच सकते हैं। बाकी लोग पहुँच नहीं सकते। "जनाः" कहने से स्पष्ट होता है कि ब्रह्मपद प्राप्त करने में जात-पांत, ऊंच-नीच आदि का कोई भेद नहीं। हर जीव साधना करके ब्रह्मपद प्राप्त कर सकता है।

ब्रह्मज्ञान तेजोमय होता है। इसलिए निम्नलिखित कुछ तेजोमय वस्तुओं का उल्लेख यहाँ किया गया है। (१) अग्नि (२) ज्योति (३) दिन (४) शुक्लपक्ष (५) उत्तरायण। इनमें से प्रथम चार प्रकाश को सूचित करते हैं। पांचवाँ है- उत्तरायण। वह ऊर्ध्व गति को सूचित करता है। जो मुमुक्षु प्रकाशवन ज्ञान के आश्रय में जाएगा, वह ब्रह्म को अवश्य पा सकेगा। यही इस श्लोक का अंतरार्ष है। जीव परमात्मा को पाना चाहे, तो उसे प्रकाश में, ज्ञान में तथा स्वस्वरूप विज्ञान में पा सकेगा।

अंधकारमय अज्ञान में पा नहीं सकेगा। ऊर्ध्वमार्ग अर्थात् ज्ञानमार्ग पर ही उसे चलना चाहिए न कि अधोमार्ग पर, याने अज्ञान के मार्ग पर। ऐसे ऊर्ध्वमार्ग के सूचक हैं अग्नि, ज्योति आदि।

प्रश्न - ब्रह्मज्ञानी किस मार्ग से चलेंगे ?

उत्तर - (१) अग्नि (२) ज्योति (३) दिन (४) शुक्लपक्ष (५) उत्तरायण। इन पांच के तेजोमय मार्ग से चलेंगे।

प्रश्न - ब्रह्मज्ञानी क्या पाते हैं ?

उत्तर - ब्रह्म को पाते हैं।

सम्बन्ध - इस प्रकार वापस न लौटनेवालों के मार्ग का वर्णन करके अब जिस मार्ग से गये हुए साधक वापस लौटते हैं, उसका वर्णन किया जाता है-

२५. धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥

शब्दार्थ - धूमः = धुआँ। रात्रि = रात। तथा = उसी प्रकार। कृष्णः = कृष्णपक्ष। षण्मासाः = छः मासवाला। दक्षिणायनम् = दक्षिणायन (यत्र सन्ति = जिस मार्ग में हैं)। तत्र = उस मार्ग में। (निकले हुए) योगी = योगी। चान्द्रमसं = चन्द्र सम्बन्धी। ज्योतिः = प्रकाश को। प्राप्त = पाकर। निवर्तते = लौट आता है।

भावार्थ - जिस मार्ग में धूमाभिमानी देवता है, रात्रि-अभिमानी देवता है तथा कृष्णपक्ष का अभिमानी देवता है और दक्षिणायन के छः महीनों का अभिमानी देवता है, उस मार्ग में मरकर गया हुआ सकाम कर्म करनेवाला योगी उपर्युक्त देवताओं द्वारा क्रम से ले गया हुआ चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त होकर स्वर्ग में अपने शुभकर्मों का फल भोगकर वापस आता है।

व्याख्या - ज्ञान प्रकाश के रूप में है, तो अज्ञान अंधकार के रूप में है। इस अंधकार के मार्ग पर चलनेवाला बार बार जन्म लेता रहता है। यहाँ 'योगी' - कहा गया। इसका अर्थ है फल की अपेक्षा के साथ कर्म करनेवाला। आत्मज्ञान के अभाव में वह फिर जन्म लेता है। अज्ञान के अंधकार को सूचित करने के लिए कुछ पदार्थों का उल्लेख यहाँ किया गया है। (१) धुआँ

(२) रात (३) कृष्णपक्ष (४) दक्षिणायन। इनमें से प्रथम तीनों अंधकार के सूचक हैं। चौथा अधोमार्ग का सूचक है। जो ऐसे अंधकारमय मार्ग पर चलेगा, वह आत्मज्ञान से रहित है। वह अपने कर्मों के अनुसार चन्द्रलोक आदि को पाकर फिर थोडे समय के बाद भूलोक में जन्म लेगा। (क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति)। उपर्युक्त दक्षिणायण अविद्या के कारण प्राप्त होनेवाली अधोगति को सूचित करता है।

इस श्लोक में प्रयुक्त उत्तरायण एवं दक्षिणायन शब्दों का अंतरार्थ जानना चाहिए। क्योंकि कई महापुरुष दक्षिणायन में भी देह त्यागते हैं। कई मूर्ख उत्तरायण में देह त्यागते हैं। केवल बाह्यार्थ मात्र को लें तो कहना पडेगा कि दक्षिणायन में देह त्यागनेवाले ज्ञानी फिर जन्म लेते हैं, उत्तरायन में देह त्यागनेवाले ज्ञानी पुनर्जन्म नहीं पाते। यह वास्तव में सत्य नहीं है। इसलिए उत्तरायन एवं दक्षिणायन का अर्थ उत्तरमार्ग एवं दक्षिणमार्ग अथवा ज्ञान एवं अज्ञान लेना उपयुक्त होगा।

प्रश्न - सकामकर्म करनेवाला योगी (अज्ञानी) किस मार्ग पर चलेगा ?

उत्तर - धुआँ, रात, कृष्णपक्ष एवं दक्षिणायन से भरे अंधकारमय मार्ग पर चलेगा।

प्रश्न - क्या जन्मराहित्य प्राप्त होगा ?

उत्तर - नहीं, वह फिर से जन्म अवश्य लेगा।

प्रश्न - मुमुक्षु को क्या करना होगा ?

उत्तर - आत्मज्ञान प्राप्त कर, अर्ध्वमार्ग पर चल कर पुनरावृत्ति रहित शाश्वत पद प्राप्त करने के लिए निरंतर प्रयत्न करना होगा।

सम्बन्ध - इस प्रकार उत्तरायण और दक्षिणायन - दोनों मार्गों का वर्णन करके अब उन दोनों को सनातन मार्ग बतलाकर इस विषय का उपसंहार करते हैं -

२६. *शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।*
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥

शब्दार्थ - शुक्ल कृष्णे = शुक्ल कृष्ण नामक। एते गती हि = ये दोनों प्रसिद्ध मार्ग। जगतः = जगत् को। शाश्वते मते = शाश्वत माने जाते हैं। एकया = उनमें एक से। अनावृत्तिम् = पुनर्जन्मराहित्य को। (योगी) याति = पाता है। अन्यया = अन्य एक से। पुनः = फिर। आवर्तते = जन्म लेता है।

भावार्थ - क्योंकि जगत् के ये दो प्रकार के - शुक्ल और कृष्ण अर्थात् देवयान और पितृयान मार्ग सनातन माने गये हैं। इनमें एकके द्वारा गया हुआ - जिससे वापस नहीं लौटना पड़ता, उस परम गति को प्राप्त होता है और दूसरे के द्वारा गया हुआ फिर वापस आता है, अर्थात् जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है।

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि संसार में दो ही मार्ग हैं। (१) ऊर्ध्व की ओर ले जानेवाला (२) अधः पतन की ओर ले जानेवाला। उज्वल ज्ञानमार्ग पर चलनेवाला जन्म राहित्य का पात्र बनता है। अंधकारमय अज्ञानमार्ग पर चलनेवाला बार-बार जन्म पाता रहता है। इस प्रकार एक मार्ग मुक्ति प्रदान कराता है, तो दूसरा मार्ग बन्धन प्रदान कराता है। अतः विज्ञ लोगों का कर्तव्य है कि वे श्रेयोदायक प्रथम मार्ग को ही अपनावें और उसी पर चलें।

प्रश्न - संसार में कितने मार्ग हैं ? वे क्या हैं ?

उत्तर - दो मार्ग हैं (१) प्रकाशवान उत्तरायण मार्ग (ज्ञानमार्ग) (२) अंधकार से भरा दक्षिणायन मार्ग (अज्ञानमार्ग)।

प्रश्न - विज्ञ व्यक्ति को क्या करना चाहिए ?

उत्तर - प्रथम प्रकाशवान मार्ग (ज्ञानमार्ग) को अपनाना चाहिए। द्वितीय अंधकारमय मार्ग (अज्ञानमार्ग) को छोडना चाहिए।

सम्बन्ध - अब उन दोनों मार्गोंको जानेवाले योगी की प्रशंसा करके अर्जुन

को योगी बननेके लिये कहते है -

२७. नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ।।

शब्दार्थ - पार्थ = हे अर्जुन। एते सृति = इन दोनों मार्गों को। जानन् = जाननेवाले। योगी कश्चन = कोई भी योगी। समुह्यति = मोह नहीं पाता। तस्तात् = इसलिए। अर्जुन = हे अर्जुन। सर्वेषु कालेषु = सभी कालों में। योग युक्तः = योगयुक्त बनो।

भावार्थ - हे पार्थ ! इस प्रकार इन दोनों मार्गों को तत्त्व से जान कर कोई भी योगी मोहित नहीं होता। इस कारण हे अर्जुन ! तू सब काल में समबुद्धिरूप योग से युक्त हो, अर्थात् निरन्तर मेरी प्राप्ति के लिये साधन करनेवाला होओ।

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि प्रकाशवान मार्ग तथा अंधकारमय मार्ग दोनों में से ज्ञानी मुमुक्षु प्रकाशवान मार्ग को ही अपनाएगा और अंधकारमय मार्ग को त्याग देगा। अच्छा और बुरा दोनों का अंतर जाननेवाला विज्ञ पुरुष कभी भी 'बुरा मार्ग नहीं चाहेगा।

"विषं दृष्ट्वाऽमृतं दृष्टवा विषं त्यजति बुद्धिमान्" अर्थात् विष एवं अमृत देखकर कोई भी बुद्धिमान विष को त्यागकर अमृत ही ग्रहण करेगा। इसी प्रकार आत्मा-अनात्मा, प्रकाश-अंधकार, मोक्ष-बन्धन तथा ज्ञान-अज्ञान को देखकर विज्ञ पुरुष मुक्तदायक ज्ञान के आश्रय में ही जाएगा। वह कभी भी भ्रम में नहीं पडेगा। इसीलिए भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन ! तुम सदा योगनिष्ठ रहो। प्रकाशवान ब्रह्मचैतन्यमय रहो। यहाँ सर्वेषु कालेषु कहा गया। इससे स्पष्ट है कि सभी समयों में दैवीगुणों से युक्त रहना चाहिए। अगर किसी भी समय मनुष्य भगवान का विस्मरण करेगा, तो तुरन्त माया उसे अपने जाल में फंसा लेगी। मनुष्य का अपकार करेगी। अतः इस बात को अच्छी तरह जानना चाहिए। वास्तव में प्रकाश का अभाव ही अंधकार है। भगवान को भूल जाना ही माया को चाहिए। इसीलिए भगवान कहते हैं कि

हे अर्जुन ! तुम सदा सर्वदा दैवयोग में स्थित रहो। तब माया को मौका नहीं मिलेगा।

"योग युक्तो भव" - योग माने एकता है। मन को आत्मा में एक करना, अर्थात् मिलाना ही योग है। ज्ञान, ध्यान, भक्ति या और किसी भी साधन के द्वारा मन को आत्मस्वरूप में मिला देना ही योग है। यहाँ बताया गया कि विज्ञ पुरुष को उस योग की स्थिति का अवलंबन करना चाहिए।

प्रश्न - कैसा व्यक्ति जगत् में माया भ्रम के वशवर्ती नहीं होगा ?

उत्तर - जो व्यक्ति अच्छी तरह जान लेगा कि यह प्रकाशवान ज्ञानमार्ग है और यह अंधकारमय अज्ञानमार्ग है। वह सदा प्रकाशवान मार्ग को ही अपनाएगा। अज्ञानमार्ग को कभी भी नहीं अपनाएगा, तब वह माया भ्रम में नहीं पडेगा।

प्रश्न - मुमुक्षु को कैसा व्यवहार करना चाहिए ?

उत्तर - सभी समयों में, सभी अवसरों पर दैव के चिन्तन में लगे रहना चाहिए। योगयुक्त रहना चाहिए।

प्रश्न - थोडे समय तक योगनिष्ठ रहें, तो क्या काफी नहीं है ?

उत्तर - काफी नहीं है। सभी समयों में (सर्वेषु कालेषु) दैवनिष्ठ रहना चाहिए। क्यों माया महा ठगिनी है। खतरनाक है।

सम्बन्ध - भगवान्ने अर्जुन को योगयुक्त होने के लिये कहा। अब योगयुक्त पुरुष की महिमा और इस अध्याय में वर्णित रहस्य को समझकर उसके अनुसार साधन करने का फल बतलाते हुए इस अध्याय का उपसंहार करते हैं -

२८. वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥

शब्दार्थ - योगी = योगी। इदं विदित्वा = इसे जानकर। वेदेषु = वेदों में।

यज्ञेषु = यज्ञों में। दानेषु = दानों में। तपःसु च = तपों में। यत् = जो। पुण्यफलम् = पुण्यफल। प्रदिष्टम् = कहा गया है। तत् सर्वम् = उन सब का। अत्येति = अतिक्रमण करता है। च = और। आद्यम् = अनादि। परंस्थानम् = सर्वोत्कृष्टस्थान। उपैति = पाता है।

भावार्थ - योगी पुरुष इस रहस्य को तत्त्व से जानकर वेदों के पढ़ने में तथा यज्ञ, तप और दानादि के करने में जो पुण्यकाल कहा है, उन सबका निःसन्देह उल्लङ्घन कर जाता है और सनातन परमपद को प्राप्त होता है।

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि इस अध्याय में वर्णित अक्षरपरब्रह्म तत्व को जाननेवाला व्यक्ति किस प्रकार का पुण्यफल पाता है। यहाँ यह भी स्पष्ट किया गया कि (१) वेदाध्ययन (२) यज्ञाचरण (३) तपः क्रिया (४) दान करने से जीव को जितना पुण्य मिलता है उससे भी ज्यादा पुण्य परब्रह्मतत्व जाननेवाला योगी पाता है। यहाँ स्पष्ट सूचित किया गया कि सब से अधिक पुण्य किससे मिलता है और किसके आश्रय में जाने से सब पुण्यों की पराकाष्ठा तक मनुष्य पहुँच सकता है।

वेदों, यज्ञों, तपस्याओं तथा दानों से थोडा-थोडा पुण्य जीव को अवश्य मिलता है, लेकिन आत्मज्ञानी योगी उन सब को पार करता है। आत्मा की प्राप्ति से वह अपार पुण्य कमाता है। समुंदर के जल में बूंद अंतर्निहित रहती है। "शते पंचाशत्" करा जाता है, सौ में पचास निहित रहता है। इसी तरह ब्रह्मज्ञान से जनित महापुण्य में बाकी सभी पुण्य अंतर्निहित रहते हैं। वे छोटे छोटे पुण्य सब फलानुभव के बाद क्रमशः नष्ट हो जाते हैं। परन्तु ब्रह्मानुभूति से प्राप्त होनेवाला पुण्य अनंत है। वह किसी भी समय में क्षीण नहीं होता। वह निरतिशय है। बाकी सभी पुण्य यद्यपि श्रेष्ठ ही हैं, तथापि यह श्रेष्ठतम है। अतः विज्ञ पुरुषों का कर्तव्य है कि वे इसीकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करें। संसार में ज्यादा लोग अनपढ हैं। इसलिए वे वेदों का अध्ययन नहीं कर पाते। आर्थिक बल के अभाव में यज्ञ आदि नहीं कर पाते।

शारीरिक शक्ति के अभाव में कठोर तपस्या नहीं कर पाते। गरीबी के कारण दान आदि नहीं कर पाते। प्रश्न उठता है कि ऐसे लोगों के लिए पुण्य की प्राप्ति का मार्ग क्या है ? उनके लिए भगवानने यहाँ मार्ग सूचित किया। परमात्मा का ध्यान ही उनके लिए उत्तम एवं उचित मार्ग है। वही ब्रह्मविज्ञान है। उसके लिए विद्या, तपस्या, यज्ञ एवं दान आदि की जरूरत नहीं है। मन की शुद्धि, हृदय की पवित्रता एवं निर्मल भक्ति उसको चाहिए। ऐसे लोग आत्मज्ञान की प्राप्ति के द्वारा बाकी सभी पुण्य पा लेते हैं। उन्हें पार कर जाते हैं। इसका मतलब वेद, यज्ञ, दान तथा तपस्या आदि की उपेक्षा करना नहीं है। निष्काम भावना से उन्हें आचरण में लाते हुए क्रमशः चित्तशुद्धि प्राप्त करनी चाहिए। उसके द्वारा महापुण्य प्राप्त करना चाहिए। यहाँ यह भी बताया गया कि ऐसे ब्रह्मतत्व को जाननेवाला योगी आद्य एवं सर्वोत्तम स्थान उस परब्रह्म को ही पाता है। 'परंस्थानम्' कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि संसार के सभी पदों और स्थानों से ब्रह्मपद सर्वोत्कृष्ट है। बाकी पद, स्थान एवं ऐश्वर्य आदि क्षणभंगुर हैं। देश काल के अधीन हैं। देह के वियोग से बिछुडनेवाले हैं। लेकिन ब्रह्मपद, आत्मस्थान वैसा नहीं है। वे शाश्वत हैं। इसीलिए भगवान श्रीकृष्णने उन्हें "परंस्थानम्" कहा है। अतः मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे छोटे छोटे पुण्यों से तृप्त न हों, परब्रह्मपद पाने का प्रयत्न करें, अपना मनुष्य जन्म सार्थक बना लें।

'योगी' - योग का मतलब है जीव का परमात्मा से मिलने का यत्न। निष्काम कर्म हो, भक्ति हो, ध्यान हो, ज्ञान हो, किसीका भी अनुसरण क्यों न करें, वे योगी ही होंगे। इस श्लोक से स्पष्ट होता है कि वेद, यज्ञ, तप एवं दान, इन सब से ब्रह्मज्ञान, आत्मानुभव श्रेष्ठ एवं सर्वोत्तम है। इसलिए आरंभ में तप एवं दान आदि का आश्रय लेने पर भी उन्हीं से तृप्त न होकर और ऊपर जाना चाहिए। क्रमशः चित्तशुद्धि के द्वारा आत्मज्ञान तथा ब्रह्मानुभूति की प्राप्ति करनी चाहिए।

प्रश्न - (अक्षर) परब्रह्म को जाननेवाला कैसा पुण्य प्राप्त करता है ?

उत्तर - (१) वेदशास्त्रों का अध्ययन करने (२) यज्ञ आदि के आचरण (३) तपस्या आदि के करने (४) दान आदि के करने से जो जो पुण्य जीवन को प्राप्त होते हैं, उनसे अधिक पुण्यफल ब्रह्मज्ञानी को प्राप्त होता है।

प्रश्न - परब्रह्म कैसा है ?

उत्तर - (१) आद्य स्वरूप है (२) सर्वोन्नत है।

प्रश्न - संसार के सभी पदों एवं स्थानों में सर्वश्रेष्ठ कौन सा है ?

उत्तर - परमात्मा का स्थान (परब्रह्म पर) सर्वोन्नत है।

प्रश्न - सब से श्रेष्ठ पुण्य चाहनेवाले को क्या करना चाहिए ?

उत्तर - चित्त शुद्धि के साथ परमात्मा के आश्रय में जाना चाहिए। ऐसा करने से जिस तरह जड में पानी दें, तो वह शाखाओं और पत्तों को पहुँचाता है, उसी प्रकार परमात्मा के आश्रय में से समस्त देवताओं और समस्त पुण्यों के आश्रय में जाने के समान होता है।

ॐ

इति श्रीमद्‌भगवद्गीतानुपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे अक्षर परब्रह्मयोगानाम अष्टमोऽध्यायः

यह उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित, ब्रह्मविद्या, योगशास्त्र, श्रीकृष्णार्जुन संवाद युक्त श्रीमद्भगवद्गीता का अक्षर परब्रह्मयोग शीर्षक आठवाँ अध्याय है।

ॐ तत् सत्

ॐ

श्री भगवद्गीता

अथ नवमोऽध्यायः

नौवाँ अध्याय

राजविद्या राजगुह्य योगः

राजविद्या राजगुह्य योग

इस अध्याय का शीर्षक

"राज विद्या राज गुह्य योग" - राज शब्द श्रेष्ठता को सूचित करता है। राजविद्या का मतलब है- विद्याओं में श्रेष्ठ। राजगुह्य का मतलब है- रहस्यों में परमरहस्य। राजविद्या का मतलब है- पुराने जमाने में राजाओं के द्वारा अमल में लायी गयी विद्या। इस अध्याय में बताये गये आध्यात्मिक ज्ञान सम्बन्धी विद्याओं में यह सर्वोत्कृष्ट है। रहस्यों में परम रहस्य है। इसलिए इस अध्याय का नाम राजविद्या राजगुह्य योग पडा।

इस अध्याय के प्रधान विषय

१. अध्यात्म विद्या का प्रभाव - (श्लोक १ से श्लोक ३ तक)।

२. भगवत्स्वरूप का वर्णन - (श्लोक ४ से श्लोक ६ तक)।

३. जगत् की उत्पत्ति - (श्लोक ७ से श्लोक १० तक)।

४. आसुरी प्रवृत्तिवालों एवं दैवी प्रवृत्तिवालों के लक्षण (श्लोक ११ से श्लोक १५ तक)।

५. भगवान का सर्वात्म स्वरूप - (श्लोक १६ से श्लोक १९ तक)।

६. स्वर्ग आदि कामनारूप सकामोपासना के फल और निष्कामोपासना के फल - (श्लोक २० से श्लोक २५ तक)।

७. भगवद्भक्ति सहित निष्काम कर्म के आचरण की अखंड महिमा
(श्लोक २६ से ३४ तक)

सम्बन्ध - सातवें अध्याय के आरम्भ में भगवान्ने विज्ञानसहित ज्ञान का वर्णन करने की प्रतिज्ञा की थी। उसके अनुसार उस विषय का वर्णन करते हुए अन्त में ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ सहित भगवान् को जानने की एवं अन्तकाल के भगवच्चिन्तन की बात कही। इस पर आठवें अध्याय में अर्जुनने उन तत्त्वों को और अन्तकाल की उपासनाके विषय को समझने के लिये सात प्रश्न किये। उनमें से छः प्रश्नों का उत्तर तो भगवान्ने संक्षेप में तीसरे और चौथे श्लोकों में दिया। किंतु सातवें प्रश्न के उत्तर में उन्होंने जिस उपदेश का आरम्भ किया, उसमें सारा-का-सारा आठवाँ अध्याय पूरा हो गया। इस प्रकर सातवें अध्याय में आरम्भ किये हुए विज्ञानसहित ज्ञान का साङ्गोपाङ्ग वर्णन न होने के कारण उसी विषय को भलीभाँति समझाने के उद्देश्य से भगवान् इस नवम अध्याय का आरम्भ करते हैं। सातवें अध्यायमें वर्णित उपदेश के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध दिखलाने के लिये पहले श्लोक में पुनः उसी विज्ञानसहित ज्ञान का वर्णन करने की प्रतिज्ञा करते हैं -

श्रीभगवानुवाच

१. इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

शब्दार्थ - श्री भगवान उवाच = भगवान् श्रीकृष्ण बोले। यत् = जिसे। ज्ञात्वा = जानकर। अशुभान् =अशुभरूप संसार बन्धन से। मोक्षसे = विमुक्त हो सकोगे (तत् = उस) गुह्यतम् = अतिरहस्यमय। विज्ञानसहितम् = अनुभव के ज्ञान से युक्त। इदं ज्ञानम् तु = इस ब्रह्मज्ञान को तो। अनसूयवे = असूयारहित। ते = तुझे। प्रवक्ष्यामि = भली भांति कहूँगा।

भावार्थ - श्रीभगवान् बोले-तुझ दोषदृष्टिरहित भक्त के लिये इस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको पुनः भलीभाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा।

व्याख्या - भगवान् विद्याओं में श्रेष्ठ, अतिरहस्यमय ब्रह्मविद्या के बारे में अनुभव के साथ बतलाते हैं। "गुह्यतमम्" कहा है। इससे इस ज्ञान के रहस्य की पराकाष्ठा सूचित होती है। आम तौर पर ब्रह्मोपदेश, योग्य व्यक्ति को ही दिया जाता है। वह योग्यता कया है ? ईर्ष्या असूया का न होना चित्तशुद्धि का होना ही योग्यता है। साधन चतुष्टय रूपी संपत्ति से यह योग्यता प्राप्त होती है। अब प्रश्न उठता है कि यहाँ ब्रह्मज्ञान का उपदेश पानेवाले अर्जुन की योग्यता क्या है ? इसके उत्तर में कहना पडता है कि हाँ, अर्जुन की योग्यता संतोषजनक है। कयोंकि इस अध्याय के आरंभ में ही भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुन को असूया रहित (अनसूयवे) कहा। श्रीकृष्ण भलीभांति जानते थे कि अर्जुन असूयारहित हैं। इसीलिए उन्होंने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया। इससे एक बात स्पष्ट होती है। कुछ शिष्य गुरु के पास आते ही कहने लगते हैं कि हमें ब्रह्मज्ञान का बोध कराइए। ऐसे शिष्यों को विचार करना चाहिए कि क्या हममें असूया आदि दुर्गुण नहीं हैं ? जब कपडा शुद्ध और साफ रहता है, तभी उसमें रंग लगता है। शुद्ध चित्तवाले में ब्रह्मज्ञान उदित होता है। मलिनचित्तवालों में वह प्रवेश नहीं करता। इस प्रकार भगवानने 'अनसूयवे' शब्द का प्रयोग करके ब्रह्मविद्या पानेवाले की योग्यता का निर्धारण किया। अतः साधकों को इस बारे में बहुत सचेत होकर सोचना चाहिए कि क्या मेरा हृदय असूया आदि दुर्गुणों से रहित हो गया ? मैं ब्रह्मज्ञान पाने के योग्य बन गया ? नहीं तो उसे चाहिए कि पहले अपने हृदय से दुर्गुणों को मिटा ले। दंभ, दर्प आदि दुर्गुणों का राजा असूया है। इसीलिए असूया का यहाँ उल्लेख किया गया है। असूया जड अर्थात् मूल में चिपके कीडे के बाराबर है। अगर कीडा वृक्ष की जड में चिपकता है, तो वह उसे नहीं

छोडता। धीरे-धीरे उसका रस पीकर उसे थोथला बना देता है। इसी प्रकार असूया साधक के हृदय में घर कर ले, तो वह दुर्गुण धीरे धीरे साधक की शांति तथा योग्यता को ग्रस लेता है। इसीलिए पारमार्थिक क्षेत्र में ऐसे महान तपस्वी एवं साधक मिलते हैं, जो साधना में तो तेज होते हैं, पर शीघ्र ही असूया के वश में होकर अपना सर्वस्व खोकर पतन के गर्त में गिर जाते हैं। यही वजह है कि भगवान श्रीकृष्ण 'अनसूयवे' शब्द के प्रयोग के द्वारा साधकों को सचेत करते हैं और उससे दूर रहने का सन्देश देते हैं। असूयारहित होकर अर्जुन की तरह ब्रह्मज्ञान पाने के योग्य बनने का आदेश देते हैं। ऐसी योग्यता प्राप्त करनेवाले शिष्यों को गुरुदेव अति गोपनीय अंशों का बोध कराते हैं। इसीलिए भगवान वक्ष्यामि न कहकर "प्रवक्ष्यामि" कहते हैं। अर्थात् "भली भांति बताता हूँ सुनो" यही उनके कहने का मतलब है। आम तौर पर लोग गोपनीय बातें विश्वसनीय व्यक्तियों से ही बतलाते हैं। ऐसे विश्वसनीय अर्जुन को अब भगवान गुह्यतम विद्या का बोध कराते हैं। इस अवसर पर भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन, मैं विज्ञान सहित ज्ञान का बोध कराता हूँ। इस कथन की एक विशेषता है। शास्त्र में ज्ञान और विज्ञान नामक दो विषय हैं। ज्ञान का मतलब है शास्त्रजन्य ज्ञान, परोक्षज्ञान। विज्ञान का मतलब है अनुभवजन्यज्ञान, अपरोक्षज्ञान। जब ज्ञान की शिक्षा अनुष्ठान के रूप में परिणत होगी, तब पूर्णफल प्राप्त कराएगा। इसीलिए गीता में ज्ञान की शिक्षा से तृप्त न होकर भगवान श्रीकृष्ण विज्ञान का भी बोध कराने को सिद्ध हुए। अब प्रश्न उठता है कि ऐसे विज्ञान सहित बोध का क्या प्रयोजन है ? भगवानने स्वयं प्रयोजन का स्पष्टीकरण किया। प्रयोजन है जनन मरण के अशुभ से छुटकारा पाना। जनन, मरण, रोग, दुःख, और बुढापा आदि अशुभों से भरे इस भयानक संसार के जाल से वह लोगों को मुक्त कराएगा। अतः जो लोग दुःखों से मुक्त होना चाहते हैं, उनको ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। इस संसार को कुछ लोग शुभ एवं सुखदायक

मानते हैं। परन्तु भगवानने इसे अशुभ कहा। क्यों कि यह असत्य, दृश्यरूप, आत्मेतर, क्षणिक एवं नश्वर है। जो अशुभ का आश्रय लेगा, वह अशुभ ही पाएगा। जो शुभ का आश्रय लेगा, वह शुभ ही पाएगा। इस संसार में आत्मा शुभदायक है। अतः उसीके आश्रय में जाना चाहिए। तब अशुभ से जीव मुक्ति पा सकेगा। इस प्रकार जो साधक ज्ञान और विज्ञान का आश्रय लेगा, वह सांसारिक दुःखों से मुक्त होगा। निरतिशय आत्मानन्द प्राप्त करेगा। अतः विज्ञ पुरुषों को चाहिए कि भगवान के द्वारा बोधित अनुभवजन्य ब्रह्मज्ञान को पाकर अपना जीवन कृतार्थ करें।

प्रश्न - ब्रह्मविद्या कैसी है।

उत्तर - सभी विद्याओं में श्रेष्ठ है। अत्यंत गोपनीय है।

प्रश्न- उसका बोध किसे किया जाता है ?

उत्तर - जिसके हृदय में असूया आदि दुर्गुण नहीं होते, उसे उसका बोध कराया जाता है।

प्रश्न - ब्रह्मविद्या पाने की योग्यता क्या है ?

उत्तर - हृदय की शुद्धि एवं असूया आदि दुर्गुणों का राहित्य ही ब्रह्मविद्या पाने की योग्यता है।

प्रश्न - मनुष्य तरना चाहे तो किसे जानना चाहिए ?

उत्तर - ज्ञान एवं विज्ञान को जानना चाहिए।

प्रश्न - उन्हें जानने से क्या प्रयोजन मिलेगा ?

उत्तर - जीव जनन मरण रूपी शभाशुभ से मुक्त होगा।

प्रश्न - यह संसार कैसा है ?

उत्तर - अशुभदायक है ?

प्रश्न - इससे छुटकारा किस तरह पाया जा सकता है ?

उत्तर - अनुभवजन्य ब्रह्मज्ञान पाने से छुटकारा पाया जा सकता है।

सम्बन्ध - भगवान् ने जिस विज्ञान सहित ज्ञान के उपदेश की प्रतिज्ञा की,

उसके प्रति श्रद्धा, प्रेम, सुनने की उत्कण्ठा और उस उपदेशके अनुसार आचरण करने में अत्यधिक उत्साह उत्पन्न करने के लिये भगवान् अब उसका यथार्थ माहात्म्य सुनाते हैं -

२. राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥

शब्दार्थ - इदम् = इसे। राजविद्या = विद्याओं में श्रेष्ठ। राजगुह्यम् = रहस्यों में अतिरहस्य। उत्तमम् = उत्तम। पवित्रम् = पवित्र। प्रत्यक्षावगमं = प्रत्यक्षरूप से जानने को उपयुक्त। धर्म्यम् = धर्मयुक्त। कर्तुम् = करने को। सुसुखं = बहुत सुलभ। अव्ययम् = अविनाशी है।

भावार्थ - यह विज्ञानसहित ज्ञान सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयों का राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करने में बड़ा सुगम और अविनाशी है।

व्याख्या - इस श्लोक में बताया गया कि ब्रह्मज्ञान की महिमा कैसी है ? संसार में कई विद्याएँ हैं। लेकिन वे जनन मरण से मनुष्य की रक्षा नहीं कर सकतीं। एक ब्रह्मविद्या ही वह काम कर सकती है। दृश्यवस्तुएँ सब नश्वर हैं। इसलिए उनसे सम्बन्धित कोई भी विद्या मनुष्य को पूर्ण शान्ति प्रदान नहीं कर सकती। शाश्वत ब्रह्म (आत्मा) से सम्बन्धित विद्या ही शान्ति प्रदान कर सकती है। इसीलिए कहा गया कि ब्रह्म विद्या सर्वश्रेष्ठ है। वह राजविद्या है। चूँकि सर्वश्रेष्ठ परमात्मा सम्बन्धी वस्तु का प्रतिपादन करती है, इसलिए यह अति पवित्र है।
"**प्रत्यक्षावगम्**" - यह ब्रह्म विद्या प्रत्यक्षरूप से जानी जासकती है। अनुभूति में लायी जासकती है। यह प्रत्यक्षफल प्रदान करती है, न कि परोक्ष फल। जिस क्षण साधक इस ब्रह्मविद्या को अनुभव में लाता है, उसी क्षण वह स्वयं ब्रह्म बन जाता है। सन्देह करने की जरूरत नहीं है।

"सुसुखम्" - इस ब्रह्म विद्या को आचरण में लाना आसान बताया गया है। यदि मन के दुःसंस्कारों और विषय वासनाओं को प्रयत्न करके दूर कर सकें, तो स्वस्वरूप का साक्षात्कार करने में किसी तरह का श्रम नहीं होता। इसीलिए शास्त्रों में कहा गया कि यह आत्मानुभूति सांस लेनें से भी बढकर सुलभ है। गीताचार्य सन्देश देते हैं कि ब्रह्मानुभूति अत्यंत सुलभ है। यहाँ यह भी बताया गया कि यह विद्या धर्मों की जड है। सनातन है। अव्यय है।

इस प्रकार भगवान श्रीकृष्णने ब्रह्मज्ञान की महिमा का वर्णन आरंभ में ही किया। इससे मुमुक्षुओं को उस पर विश्वास पैदा होता है।

प्रश्न - ब्रह्मज्ञान कैसी है ?

उत्तर - (१) सभी विद्याओं में श्रेष्ठ है। (२) अति गोपनीय है (३) पावन है (४) उत्तम है (५) प्रत्यक्षरूप से जानने के योग्य है (६) धर्मयुक्त है (७) आसानी से आचरण में लाने योग्य है। (८) नाशरहित है।

३. *अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।*
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

शब्दार्थः - परंतप = शतृओं को तपानेवाले हे अर्जुन। अस्य = इस। धर्मस्य = धर्म में। अश्रद्ध धानाः = श्रद्धारहित। पुरुषाः = पुरुष। माम् = मुझे। अप्राप्य = न पाकर। मृत्युसंसारवर्त्मनि = मृत्युरूप संसार मार्ग में। निवर्तन्ते = भ्रमण करते हैं।

भावार्थ - हे परन्तप ! इस उपर्युक्त धर्म में श्रद्धारहित पुरुष मुझ को न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसारचक्र में भ्रमण करते रहते हैं।

व्याख्या - वह लौकिक हो या पारलौकिक, हर कार्य में श्रद्धा बहुत जरूरी है। जिसे जिस वस्तु के प्रति श्रद्धा अधिक होती है, उसे वह वस्तु उसी में प्राप्त होती है। भगवान ने इस श्लोक में बताया कि ब्रह्मज्ञान के प्रति जिसकी जैसी श्रद्धा होगी, श्रद्धा के साथ जैसा अनुष्ठान वह करेगा, वह उतनी ही जल्दी

मुझे प्राप्त कर सकेगा। श्रद्धाविहीन व्यक्ति मुझे पा नहीं सकेगा। वह भवसागर में गिरकर तडपता रहेगा। अतः साधकों को चाहिए कि वे श्रद्धालु बनें, परमात्मा के आश्रम में जावें। चिन्तन, मनन एवं स्मरण के द्वारा उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करें। संसार में हम देखते हैं कि रसोई बनानी हो या खेती करनी हो, तो बडी श्रद्धा से तैयारी करनी पडती है। बडा श्रम करना पडता है। ऐसी हालत में ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए कहने की जरूरत नहीं कि साधक को कितनी साधना करनी है। इसीलिए गीताचार्य जगह-जंगह पर श्रद्धा पर जोर देते रहे हैं।

इस श्लोक में संसार मार्ग का भी विवरण दिया गया है। कुछ भोग विलासी इस संसार को स्वर्णतुल्य मानते हैं। अमृततुल्य मानते हैं। परन्तु सर्वज्ञ भगवानने उसे मृत्युतुल्य कहा है। "मृत्यु संसार वर्त्म्यनि" कहा है। वही उसका वास्तविक स्वरूप है। माया से प्रभावित यह संसार ऊपर से यद्यपि सुखी सा लगता है तथापि अन्दर से वह मृत्यु रही है। यह रहस्य इस श्लोक में बताया गया है। अतः विज्ञ लोगों का कर्तव्य है कि वे इस संसार के मोह में न पडें, परमात्मा के आश्रय में जावें, अपना जीवन सार्थक बना लें।

प्रश्न - परमात्मा को कौन पा सकते हैं ?

उत्तर - ब्रह्मज्ञान के प्रति जो श्रद्धालु हैं, वे पा सकते हैं।

प्रश्न - श्रद्धाविहीन व्यक्ति की गति कैसी होती है ?

उत्तर - परमात्मा को नहीं पा सकते अतः मृत्युरूप संसार में ही चक्कर काटते रहते हैं।

प्रश्न - इस संसार का स्वरूप कैसा है ?

उत्तर - वह मृत्यरूप का है। अर्थात् जनन मरण से युक्त है। दुःखदायक है।

सम्बन्ध - पूर्व श्लोक में भगवान्ने जिस विज्ञानसहित ज्ञान का उपदेश करने की प्रतिज्ञा की थी तथा जिसके माहात्म्य का वर्णन किया था, अब उसका

आरम्भ करते हुए वे सबसे पहले दो श्लोकों में प्रभावके साथ अपने अव्यक्त स्वरूप का वर्णन करते हैं -

४. मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ।।

शब्दार्थ - इदम् = इस । सर्वम् = समस्त । जगत् = विश्व । अव्यक्तमूर्तिना = इन्द्रियों को गोचरित न होनेवाले स्वरूप के । मया = मुझसे । ततम् = व्याप्त किया गया है । सर्वभूतानि = समस्त प्राणी । मत्स्थानि = मुझमें हैं । तेषु = उनमें । अहम् = मैं । न च अवस्थितः = नहीं रहता ।

भावार्थ - मुझ निराकार परमात्मा से यह सब जगत् जलमें बरफ के सदृश परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं , किंतु वास्तव में मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।

व्याख्या - "अव्यक्तमूर्तिना" - परमात्मा इन्द्रियों को नहीं सूझता । वह अतिसूक्ष्म है। अव्यक्त है। स्थूल आसमान से जिस तरह जगत् परिव्याप्त है, उसी तरह चिदाकाश से स्थूल एवं सूक्ष्म जगत् एवं जीव राशि ढके हुए हैं। मतलब यह कि वे सब परमात्मा में स्थित हैं। "न चाहं तेष्ववस्थितः" मैं उनमें नहीं हूँ। प्रश्न उठता है कि भगवानने ऐसा क्यों कहा। विचार कर देंखें तो वास्तव में यह सारा नामरूपात्मक दृश्य जगत् स्वप्न की तरह है मिथ्या है। आत्मा एक ही सत्य है। उस आत्मा में यह दृश्य जगत सारा रज्जु में सर्प की तरह आरोपित है। अतः मिथ्यावाले दृश्य पदार्थ में सत्य पदार्थवाला परमात्मा कैसे रह सकता है ? इसीलिए भगवान यहाँ कहते हैं कि मुझमें सभी भूत हैं, पर मैं उनमें नहीं हूँ।

सृष्टि में ऐसी कोई चीज नहीं, जहाँ परमात्मा न हों। इसलिए साधक को चाहिए कि वह परमात्मा के अस्तित्व को अनुभव में लावें, पापकृत्य न करे, जीवराशि पर दया करे, भक्तिभाव से समन्वित रहे।

प्रश्न - परमात्मा का स्वरूप क्या है ?

उत्तर - इन्द्रियों के लिए अगोचर अति सूक्ष्म रूपवाला है।

प्रश्न - वह कहाँ है ?

उत्तर - स्थूल सूक्ष्म समस्त जगत् में व्याप्त है।

प्रश्न - समस्त जीव राशि कहाँ है ?

उत्तर - परमात्मा में स्थित है।

५. ***न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।***
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥

शब्दार्थ - भूतानि = प्राणी। मत्स्थानि न च = मुझ में स्थित नहीं हैं। मे = मेरे। ऐश्वरम् = ईश्वर सम्बन्धी। योगम् = योग की महिमा को। पश्य = देखो। मम = मेरे। आत्मा = आत्मा। भूतभृत = प्राणियों का धारण करनेवाला। भूत भावनः अपि = भूतों को उत्पन्न करनेवाला भी। भूतस्थः = भूतों में स्थित। न च = नहीं है।

भावार्थ - वे सब भूत मुझ में स्थित नहीं हैं। किंतु मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख कि भूतों का धारण-पोषण करनेवाला और भूतों को उत्पन्न करनेवाला मेरी आत्मा वास्तव में भूतों में स्थित नहीं है।

व्याख्या - कुछ लोग पूछ सकते हैं कि पिछले श्लोक में भगवान ने कहा कि मुझ में समस्त प्राणी हैं। इस श्लोक में कहा कि मुझ में कोई प्राणी नहीं हैं। क्या यह एक दूसरे के विपरीत नहीं है ? सामान्य जनों की दृष्टि में दृश्य एक वस्तु है। कहा गया कि वह भगवान में स्थित है। उसका आधार परमात्मा ही हैं। परमार्थ की दृष्टि से द्वैत नहीं रहता। संसार या जीव नहीं रहते। एक चिदूघन परमात्मा ही शेष बचता है। ऐसी अद्वैत स्थिति में "मुझ में ये भूत हैं" वाला वाक्य कैसे समा सकेगा ? भगवान ने सर्वोन्नत अद्वैत दृष्टि से कहा कि मुझ में कोई भूत नहीं हैं, दृश्य मुझ में है ही नहीं, मैं दृश्य में नहीं"। जिस

तरह मनुष्य जागने के बाद कहेगा कि स्वप्न लोक मुझ में नहीं है, मैं स्वप्नलोक में नहीं हूँ, जिस तरह रज्जु सर्प भ्रांति के दूर होने पर मनुष्य कहेगा कि रज्जु में सर्प नहीं, सर्प में रज्जु नहीं, उसी प्रकार भगवान ने दृश्य रहित पूर्ण अद्वैत दृष्टि से उपर्युक्त वाक्य कहे। उस पूर्ण स्थिति में एक ब्रह्म को छोडकर अन्य कोई वस्तु शेष नहीं रहती। अतः द्वैत दृष्टि में यद्यपि परमात्मा प्राणियों को धारण करता है, उनकी रक्षा करता है, तथापि परमार्थ की दृष्टि से प्राणियों एवं जगत् से किसी भी तरह का सम्बन्ध नहीं रखता। इस सत्य को ही भगवान ने इस श्लोक में स्पष्ट किया। जगत् से अपने असंगत्व को व्यक्त करके अर्जुन को आदेश दिया कि मेरी योग महिमा को जानो।

परमार्थ की दृष्टि में जगत् ब्रह्म रूप में ही शेष रहता है। जगत् नामक वस्तु अलग रूप से नहीं रहती। आरोपित वस्तु सत्य की दृष्टि में अधिष्ठान के रूप में ही परिणत होती है। भगवान श्रीकृष्ण ने इस श्लोक में उस परिपूर्ण दृष्टि को प्रकट किया।

प्रश्न - सिद्ध कीजिए कि योग की महिमा क्या है ?

उत्तर - यद्यपि परमात्मा प्राणियों को धारण करता है, तथापि वास्तव में वे उसमें नहीं हैं, वह उनमें नहीं है। यही ईश्वरीय महिमा है।

प्रश्न - पूर्णाद्वैत की दृष्टि में जगत् का क्या स्थान है ?

उत्तर - उस स्थिति में जगत् नामक कोई वस्तु नहीं रहती। सब कुछ ब्रह्मस्वरूप होता है।

६. ***यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।***
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ।।

शब्दार्थ - यथा = जिस प्रकार। सर्वत्रगः = सर्वत्र विचरनेवाला। महान् = महान। वायुः = वायु। नित्यम् = सदा। आकाशस्थितः = आकाश में स्थित है। तथा = उसी प्रकार। सर्वाणि = संपूर्ण। भूतानि = भूत। मत्स्थानि इति = मुझ में स्थित हैं ऐसे। उपधारय = जानो।

भावार्थ - क्योंकि, जैसे आकाश से उत्पन्न हुआ, सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा ही आकाश में स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्प द्वारा उत्पत्तिवाले होने से सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसे जान।

व्याख्या - यहाँ एक उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया कि समस्त प्राणी भगवान में किस प्रकार स्थित हैं। वायु विशाल है। सब जगहों में संचार करती रहती है। फिर भी वह सदा आकाश के एक कोने में दबकर पडी रहती है, आसमान अपने में रहनेवाली वायु के यद्यपि अति समीप रहता है तथापि उससे निर्लिप्त रहता है। इसी तरह भगवान में ही यद्यपि जगत् स्थित है, तथापि उससे निर्लिप्त रहता है। वायु के गुण दोष आसमान को स्पर्श नहीं करते। इसी तरह प्राणियों के गुण दोष या कर्म आदि परमात्मा को स्पर्श नहीं करते। आसमान आंखों को दिखायी नहीं देता। इसी तरह परमात्मा अव्यक्त है। आसमान सूक्ष्म है। सर्वव्यापक है। परमात्मा अति सूक्ष्मरूप है। सर्वव्यापक है। आसमान एवं परमात्मा में कुछ समानताएँ हैं। इसीलिए परमात्मा का वर्णन करते समय स्थूल दृष्टिवालों की समझ में आने के लिए आकाश का दृष्टांत देते हैं। लेकिन वास्तव में परमात्मा आकाश नहीं हैं। क्योंकि आकाश जड है। परमात्मा चैतन्य स्वरूप है।

कहा जाता है कि आसमान की तरह परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है। अतः उसके अस्तित्व को सर्वत्र अनुभव में लाना चाहिए। भगवान कहाँ है? वह सर्वत्र है। अणु अणु में व्याप्त है। यह सत्य जान लें, तो लोग पाप कर्म नहीं कर सकेंगे ? क्योंकि सर्वत्र व्याप्त रहकर भगवान उनके पाप कर्म देखता रहता है। यह भी बताया गया कि समस्त जीव राशि को परमात्मा अपने गर्भ में छिपाकर महान् बना हुआ है। अतः लोगों का कर्तव्य है कि वे अपने धन, बल, सौंदर्य तथा अधिकार आदि को देखकर गर्व न करें, सर्वेश्वर के प्रति भक्ति और श्रद्धा रखें और उनकी सेवा करें।

प्रश्न - समस्त जीव राशि कहाँ स्थित है ?

उत्तर - परमात्मा में स्थित है।

प्रश्न - किस तरह स्थित है ?

उत्तर - आसामान में जैसे वायु स्थित है, वैसे ही समस्त जीव राशि परमात्मा में स्थित है।

सम्बन्ध - पूर्वश्लोकों में भगवान् ने समस्त भूतों को अपने अव्यक्त रूप में व्याप्त और उसीमें स्थित बतलाया। अतः इस विषय को स्पष्ट जानने की इच्छा होने पर अब दृष्टान्त द्वारा भगवान् उसका स्पष्टीकरण करते हैं -

७. ***सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।***
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥

शब्दार्थ - कौन्तेय = हे अर्जुन। सर्वभूतानि = समस्त प्राणी। कल्पक्षये = प्रलय काल में। मामिकाम् = मेरी (स्वतंत्र)। प्रकृतिम् = प्रकृति (माया) को। यान्ति = पाते हैं। कल्पादौ = सृष्टि के काम में। तानि = उन्हें। पुनः = फिर से। अहम् = मैं। विसृजामि = सृजित करता हूँ।

भावार्थ - हे अर्जुन ! कल्पों के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं, अर्थात् प्रकृति में लीन होते हैं और कल्पों के आदि में उनको मैं फिर रचता हूँ।

व्याख्या - जीव प्रकृति (माया) के वश में हैं। प्रकृति परमात्मा के वश में है। इसीलिए भगवान श्रीकृष्णने कहा कि मामिकाम् अर्थात् मुझ से सम्बन्धित प्रकृति या मेरी वशवर्ती प्रकृति। प्रकृतिं ही माया है। उस प्रकृति को माया को वश में करनेवाले महेश्वर हैं। इससे स्पष्ट होता है कि प्रकृति को जीतने के लिए, माया को वश में करने के लिए सर्वेश्वर का अनुग्रह बहुत आवश्यक है। अतः अगर पारमार्थिक क्षेत्र में साधक माया को जीतना चाहे, तो जीवन्मुक्त महात्माओं का अनुग्रह प्राप्त कर लेना चाहिए। तभी वह आसानी से पार पहुँच सकता है। इस श्लोक में जैसे कि बताया गया सब प्राणी सृष्टि के समय

पैदा होते हुए, प्रलय के समय लीन होते हैं। उससे मुक्त होना चाहें, तो जीव को परमात्मा के आश्रय में जाना चाहिए।

प्रश्न - प्रकृति (माया) किसके वश में है ?
उत्तर - परमात्मा के वश में है।
प्रश्न - जो प्रकृति के वश में हैं, उनकी स्थिति कैसी होती है ?
उत्तर - सृष्टि के काल में वे पैदा होते हैं और प्रलय के काल में लीन होते हैं।

८. प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥

शब्दार्थ - प्रकृतेः = प्रकृति के। वशात् = अधीन होने से। अवशम् = अस्वतंत्र। इमम् = यह। कृत्स्नम् = समस्त। भूत ग्रामम् = प्राणि समुदाय को। (अहम् = मैं) स्वाम् = स्वकीय। प्रकृतिम् = प्रकृति को। अवष्टभ्य = अवलंबन कर। पुनः पुनः = बार बार। विसृजामि = सृजित करता हूँ।

भावार्थ - अपनी प्रकृति को अङ्गीकार करके स्वभाव के बल से परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूतसमुदाय को बार-बार उनके कर्मों के अनुसार रचता हूँ।

व्याख्या - इस श्लोक में जीव और ईश्वर का भेद अच्छी तरह वर्णित है। जीव प्रकृति के वश में है। ईश्वर के वश में प्रकृति है। जीव अपने कर्मों के वश में हैं। अपनी मनः प्रकृति के वश में है। जब तक कर्म रहते हैं, जब तक वासनाएँ रहती हैं, तब तक जन्म अनिवार्य है। इसीलिए भगवान कहते हैं कि अज्ञानी जीवों को बार बार रचता हूँ।

अतः जो लोग इस जनन मरण रूपी संसार के बन्धन से छूटना चाहते हैं, उन्हें परमात्मा के आश्रय में जाना चाहिए। अपनी प्रकृति और अपने मन को जीतना चाहिए। बन्ध मुक्ति का यही उपाय है। अज्ञानी लोग भौतिक संपत्तिवाले होते हुए भी प्रकृति के वश में हैं। वे इन्द्रियों के दास बने हुए हैं। इसलिए वे अस्वतंत्र ही हैं। वे जबर्दस्ती जनन मरण के भागीदार बनते हैं।

अतः उन्हें अध्यात्म ज्ञान अर्जित कर, परमात्मा के अनुग्रह के पात्र बनकर, प्रकृति को जीतकर सांसारिक बन्धनों से मुक्त होना चाहिए। झूले पर जो बैठता है, वह लाचार होकर चक्कर काटता ही रहता है। इसी प्रकार जीव अपनी प्रकृति के अधीन होकर अस्वतंत्र बन संसार में चक्कर काटता है। झूले को रोकना हो, तो उसे घुमानेवाले व्यक्ति के आश्रय में जिस तरह जाना पडता है, उसी प्रकार जो सांसारिक बन्धनों से छूटना चाहते हैं, उन्हें मायाचक्र घुमानेवाले परमात्मा के आश्रय में जाना चाहिए।

प्रश्न - जीव किसके वशवर्ती हैं ?

उत्तर - अपनी प्रकृति (कर्म) के वशवर्ती हैं।

प्रश्न - आत्म स्वातंत्र्य के लिए जीव को क्या करना चाहिए ?

उत्तर - मायाधीश परमात्मा के प्रति अनन्य भक्ति रखकर अपनी प्रकृति (मन, इन्द्रिय एवं कर्म) को जीतना चाहिए।

सम्बन्ध - इस प्रकार जगत्-रचनादि समस्त कर्म करते हुए भी भगवान् उन कर्मों के बन्धन में क्यों नहीं पड़ते, अब यही तत्त्व समझानेके लिये भगवान् कहते हैं -

९. ***न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।***
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥

शब्दार्थ - धनंजय = हे अर्जुन। तेषु कर्मसु = उन कर्मों में। असक्तम् = अनासक्त होकर। उदासीनवत् = तटस्थ सा। आसीनम् = रहनेवाले। माम् = मुझे। तानि कर्माणि = वे कर्म। न निबध्नन्ति = नहीं बांधते।

भावार्थ - हे अर्जुन ! उन कर्मों में आसक्तिरहित और उदासीन के सदृश स्थित मुझ परमात्मा को वे कर्म नहीं बाँधते।

व्याख्या - इस प्रकार जीवों का बार बार सृजन करते रहने पर भी उन कर्मों से भगवान का कोई सम्बन्ध नहीं होता। केवल साक्षीमात्र है। सूर्य के समक्ष

लोग यद्यपि कर्म करते हैं, पर उनके साथ सूर्य का सम्बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार भगवान के सान्निध्य होनेवाले प्राकृतिक कर्मों से वास्तव में भगवान का कोई सम्बन्ध नहीं होता। भगवान के इस कथन से स्पष्ट होता है कि जो जीव परमात्मा में लीन होते हैं, उन्हें कर्म के बन्धन नहीं बांध सकते।

सम्बन्ध - 'उदासीनवदासीनम्' इस पद से भगवान् में जो कर्तापन का अभाव दिखलाया गया, अब उसीको स्पष्ट करने के लिये कहते हैं -

१०. मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

शब्दार्थ - कौन्तेय = हे अर्जुन। अध्यक्षेण = अधिष्ठाता बने। मया = मुझ से। प्रकृतिः = प्रकृति (माया)। सचराचरम् = चराचर समस्त विश्व। सूयते = पैदा करती है। अनेन हेतुवा = इस कारण। जगत् = जगत। विपरिवर्तते = प्रवर्तित है।

भावार्थ - हे अर्जुन! मुझ अधिष्ठाता के प्रकाश से प्रकृति चराचरसहित सर्वजगत् को रचती है और इस हेतु से ही यह संसारचक्र घूम रहा है।

व्याख्या - प्रकृति जड है। परमात्मा चेतन है। परमात्मा के सान्निध्य से ही प्रकृति, प्राणियों का सृजन कर पा रही है। चुंबक के पास रहने से लोहे की सुई यद्यपि हिलती है, तथापि चुंबक का उस हिलने से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वह साक्षी मात्र बना रहता है। इसी प्रकार परमात्मा भी जगत् के व्यवहारों का साक्षी मात्र बना हुआ है। उनके सान्निध्य की शक्ति से प्रकृति जगत् के सभी कार्य कर रही है। परमात्मा की इस तटस्थता एवं चेतनाशक्ति का वर्णन करने के लिए इस श्लोक में "अध्यक्षेण" जैसे सुंदर शब्द का प्रयोग किया गया है। सभा में जितने भी लोग जमा हों, पर उन में चेतनता नहीं होती। जब अध्यक्ष आकर आसन पर बैठता है, तब सभा में चेतनता आती है। इसी प्रकार अदालत में चाहे जितने भी लोग आकर बैठ जायँ, पर

जज के आगमन के बाद ही वहाँ का कार्यक्रम शुरू होता है। इसी प्रकार प्रकृति भी ईश्वर के सान्निध्य के बिना जड एवं शक्ति रहित रहती है। परमात्मा की वजह से ही प्रकृति में शक्ति आविर्भूत होती है। इसी कारण प्रकृति परिवर्तनशील बनती है। नहीं तो इंजन रहित रेल के डिब्बों की तरह संसार निर्वीर्य एवं निर्बल बनता है। आम तौर पर लोगों की दृष्टि स्थूल जगत् तक ही सीमित रहती है। इसलिए उसी को सत्य मानकर उसके पीछे लोग पडे रहते हैं। परन्तु इस श्लोक से ज्ञात होता है कि उनका ऐसा समझना गलत है। स्थूल जगत जड है। उसके पीछे उसे घुमानेवाली और उसे शक्ति प्रदान करनेवाली अति सूक्ष्म वस्तु (आत्मा) एक है। स्थूल दृष्टि को वह दिखायी नहीं देती। विज्ञान के नेत्र से ही वह जानी जा सकती है। वही परमात्मा है। सारा संसार उस परमात्मा में आरोपित है। आरोपित वस्तु की अपनी शक्ति नहीं होती। अपना व्यक्तित्व नहीं होता। वह अधिष्ठान वस्तु से शक्ति ग्रहण करती है। इससे स्पष्ट है कि भौतिक शक्ति एवं मानसिक शक्ति बहुत शक्तिशाली हैं। पर आध्यात्मिक शक्ति के सामने वे कुछ नहीं हैं। आत्मशक्ति प्रधान है। बाकी सब शक्तियाँ अप्रधान हैं। इसलिए विज्ञ व्यक्ति को चाहिए कि वह दैवी शक्ति प्राप्त करे। चैतन्यमय परमात्मा के साक्षात्कार के लिए यत्न करे।

प्रश्न - इस जगत् के अध्यक्ष कौन हैं ?

उत्तर - परमात्मा ही इस जगत् के अध्यक्ष हैं। उनके सान्निध्य में इस चराचर जगत् का व्यवहार चलता है।

११. अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

शब्दार्थ - मम = मेरे। परंभावम् = परम तत्व। अजानन्तः = न जाननेवाले। मूढाः = मूढ। भूतमहेश्वरम् = समस्त प्राणियों का नियामक। मानुषीं तनुम = मनुष्य देह। आश्रितम् = आश्रित। माम् = मुझे। अवजानन्ति = अपमानित करते हैं।

भावार्थ - मेरे परमतत्त्व को न जाननेवाले मूढ लोग मनुष्य का शरीर धारण करनेवाले मुझ सम्पूर्ण भूतों के महान् ईश्वर को तुच्छ समझते हैं, अर्थात् अपनी योगमायासे संसार के उद्धार के लिये मनुष्यरूप में विचरते हुए मुझ परमेश्वर को साधारण मनुष्य मानते हैं।

व्याख्या - परमात्मा ही समस्त भूतकोटि के नियामक हैं। प्रभु हैं। ईश्वर हैं। धर्म की रक्षा एवं लोक हितार्थ कभी कभी अवतरित होते हैं। मनुष्य देह में उन्हें देखकर कुछ मूर्ख लोग समझते हैं कि यह सामान्य मानव है। अतः उनका अपमान किया करते हैं। उनके परतत्व को वे समझ नहीं पाते। भगवान श्रीकृष्ण ने ऐसे लोगों को "मूढ" कहा है। क्योंकि विवेकी लोग भगवान से द्वेष नहीं करते। कुछ लोग अहंकारी बनकर अपने धन संपत्ति एवं अधिकार बल को देखकर घमंड करते हैं और महात्माओं तथा साधु जनों का दूषण करते हैं। उनकी दिल्लगी उडाते हैं। शिशुपाल एवं दुर्योधन आदि इस श्रेणी के हैं। इसीलिए उसका फल उन्होंने भोग लिया।

जो आध्यात्मिक क्षेत्र में अपना जीवन बिताने लगते हैं, उन्हें निन्दा और स्तुति का सामना करना पडता है। तब बडी सहनशीलता से उन्हें काम लेना पडता है। अपने में दोष हों, तो उन्हें दूर कर लेना चाहिए। निर्दोष होकर निन्दाओं की परवाह न करते हुए गंभीर रहना चाहिए। यह समझकर कि कुछ लोगों का स्वभाव दूसरों की निन्दा करने का होता है, अपने मन को संयमित कर लेना चाहिए। स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ही कुछ लोगों की व्यर्थ निन्दाओं के पात्र बने, तो दूसरों के बारे में कहने की आवश्यकता ही क्या है? फिर भी साधकों को गंभीर एवं सहनशील होकर व्यवहार करना चाहिए। कभी कभी कुछ मूढ या नास्तिक भगवान की निन्दा करते हैं। इससे साधकों को विचलित या नाराज नहीं होना चाहिए। उनकी बातों पर विश्वास नहीं करना चाहिए। भगवान के प्रति भक्ति को और बढा लेना चाहिए। अपने आचरण के द्वारा ऐसे मूढों को सबक सिखाना चाहिए।

प्रश्न - परमात्मा कैसा है ?

उत्तर - (१) समस्त जीव राशि का नियामक है।
(२) लोक हितार्थ कभी कभी मनुष्य आदि के रूप में अवतरित होता है।

प्रश्न - ईश्वर के तत्व को न जाननेवाले मूर्ख कैसा व्यवहार करते हैं ?

उत्तर - सामान्य मनुष्य समझकर अपमान करते हैं।

प्रश्न - इस पर गौर कर किन विषयों को अपनाना चाहिए ?

उत्तर - (१) मूढता को मिटाना चाहिए।
(२) दूसरों की निन्दा नहीं करनी चाहिए।
(३) भगवान के वास्तविक तत्व को जानकर उनके प्रति भक्तिभाव को बढाना चाहिए।

१२. मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥

शब्दार्थ - (ते = वे) मोघाशाः = व्यर्थ आशावाले। विचेतसः = बुद्धिहीन। मोहिनीम = मोह पैदा करनेवाली। राक्षसीम = राक्षसी प्रवृत्ति से संबंधित। आसुरीं च = आसुरी सम्बन्धी। प्रकृतिम एव = स्वभाव को ही। आश्रितः = आश्रित हैं।

भावार्थ - वे व्यर्थ आशा, व्यर्थ कर्म और व्यर्थ ज्ञानवाले विक्षिप्त चित्त अज्ञानी जन राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृति को ही धारण किये रहते हैं।

व्याख्या - लोगों की प्रकृति आम तौर पर दो प्रकार की होती है (१) दैवी प्रकृति (२) आसुरी प्रकृति। आसुरी प्रवृत्तिवालों के बारे में पिछले श्लोक एवं इस श्लोक में बताया गया। दैवी प्रवृत्तिवालों के बारे में अगले श्लोक में बताएंगे। आसुरी प्रवृत्तिवाले अनावश्यक आशाओं तथा कर्मों से बंधे रहते

हैं। उनका जो थोडा सा ज्ञान है, वह नश्वर दृश्य पदार्थों से संबंधित होता है। अतः परमार्थ की दृष्टि से वह व्यर्थ है। उनके चित्त में सत्यवस्तु से संबंधित ज्ञान तथा विवेक कुछ भी नहीं रहता। इसीलिए उन्हें विचेतसः बुद्धिहीन कहा गया। ऐसे लोग अज्ञान में डालनेवाले स्वभाव के आश्रय में जाते हैं। यहाँ एक ही जगह पर "राक्षसीं तथा आसुरीं" दो शब्दों का प्रयोग किया गया। ऐसे लोगों के राजस एवं तामस तत्त्वों पर ज्यादा प्रकाश इन शब्दों के द्वारा डाला गया। भगवान ने यहाँ स्पष्ट कह दिया कि ऐसे मूढ लोगों का जीवन व्यर्थ है। इसीलिए 'मोघ' शब्द का प्रयोग तीन बार किया गया।

अतः लोगों को राक्षसी प्रकृति, आसुरी स्वभाव, काम आदि दुर्गुणों तथा राजस एवं तामस प्रवृत्तियों को दूर करके दैवी संपत्ति का आश्रय लेकर सत्य वस्तु परमात्मा पर विश्वास कर अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहिए। दैवी आशा, दैवी कर्म एवं दैवी ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

प्रश्न - आसुरी प्रकृति कैसी है ?

उत्तर - लोगों को मोह में डालनेवाली और अज्ञान में डालनेवाली है।

प्रश्न - आसुरी प्रकृतिवालों के गुण क्या है ?

उत्तर - (१) व्यर्थ आशाओं में पडे रहते हैं (२) व्यर्थ कर्म करते रहते हैं (३) व्यर्थ ज्ञान से युक्त होते हैं।

प्रश्न - जीवों को कैसा व्यवहार करना चाहिए ?

उत्तर - आसुरी प्रकृति को छोड दैवी प्रकृति को अपनाना चाहिए। दैव के बारे में इच्छा रखनी चाहिए। दैवी कर्म करना चाहिए। दैवी ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

सम्बन्ध - भगवान् का प्रभाव न जाननेवाले आसुरी प्रकृति के मनुष्यों की निन्दा करके अब सगुणरूप की भक्ति का तत्त्व समझने के लिये भगवान् के प्रभाव को जाननेवाले, दैवी प्रकृति के आश्रित, उच्च श्रेणी के अनन्य भक्तों

के लक्षण बतलाते हैं -

१३. महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

शब्दार्थ - पार्थ = हे अर्जुन । महात्मानः तु = महात्मा तो । दैवीम् = देव सम्बन्धी । प्रकृतीम् = स्वभाव को । आश्रिताः = आश्रित होकर । माम् = मुझे । भूतादिम् = समस्त प्राणियों का कारण भूत । अव्ययम = अविनाशी । ज्ञात्वा = जानकर । अनन्य मनसः = दूसरी चिन्ताओं से रहित होकर । भजन्ति = भजते हैं ।

भावार्थ - हे कुन्तीपुत्र ! दैवी प्रकृति के आश्रित महात्मा जन मुझ को सब भूतों का सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मन से युक्त होकर निरन्तर भजते हैं ।

व्याख्या - पिछले दो श्लोकों में बताया गया कि आसुरी प्रकृतिवालों का स्वभाव कैसा होता है । इस श्लोक में तथा अगले श्लोक में दैवी प्रकृतिवालों के लक्षण बताये गये हैं । दैवी प्रकृतिवाले, सत्वगुण का आश्रय लेनेवाले महात्मा अनन्य चित्त होकर परमात्मा का सेवन करते हैं । वे परमात्मा की दो विशेषताओं से प्रभावित होते हैं (१) आदिकारणत्व (२) अव्ययत्व । वे जान लेते हैं कि परमात्मा समस्त चराचर जगत् का आदिकारक है और अविनाशी है । ये विशेषताएँ और किसीमें नहीं हैं । परमात्मा सनातन है । अनादि स्वरूप है । बाकी सब पदार्थ आदि और अन्तवाले हैं । इसलिए वे सब अल्प हैं । परमात्मा अव्यय हैं । अविनाशी हैं । बाकी सब नाशवान हैं । जनन मरण के वशवर्ती हैं । इस प्रकार महापुरुष पदार्थ का शोधन कर, दैवी प्रकृति का विचार कर अनन्य चित्त से उनका सेवन करते हैं । वे जानते हैं कि दृश्य पदार्थ सब नश्वर हैं । परमात्मा ही शाश्वत हैं ।

"अनन्य मनसः" - जब मन किसी अन्य विषय में लीन न होकर एक ही ध्येय पर टिका रहता है, तब उसे अनन्य मन कहते हैं। अनन्य मन से परमात्मा की सेवा करनी हो, तो उनकी विशेषताओं की जानकारी हासिल करनी चाहिए। इसीलिए उसे "ज्ञात्वा" कहा गया। ध्येय वस्तु का ज्ञान जब होता है, तभी उस पर विश्वास पैदा होता है। जब दृश्य पदार्थों की नश्वरता का बोध होता है, तब मन बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी होता है। एक ही परमात्मा में एकाग्र भाव से चित्त टिका रहता है।

"महात्मानः" - इस श्लोक में अच्छी तरह बताया गया कि महात्मा कैसे होते हैं। महात्मा एक उपाधि है। प्रयत्न करने से हर किसी को वह उपाधि मिल सकती है। जो साधक (१) अनन्य मनस्वी होकर (२) दैवी प्रकृति के आश्रित होकर (३) भगवान को अविनाशी के रूप में जानते हैं, वे महात्मा बन सकते हैं। महात्मा पद की प्राप्ति के लिए जात-पांत, ऊँच-नीच एवं वर्ग-वर्ण का भेद नहीं है। जो भगवान का अनन्य भाव से ध्यान करेंगे, वे महात्मा बन सकते हैं। परन्तु आसुरी प्रकृति को अपनानेवाले, काम-क्रोध, मद मात्सर्य आदि दुर्गुणों के वशवर्ती महात्मा नहीं बन सकते। वे अल्पात्मा एवं दुरात्मा होते हैं।

संसार में परमात्मा का ध्यान करनेवाले बहुत हो सकते हैं। परन्तु अनन्य मन से उनका ध्यान करनेवाले बहुत कम होते हैं। अकसर लोगों का थोडा ध्यान भगवान पर और थोडा ध्यान दृश्य जगत् पर होता है। ऐसे लोगों को भगवान के तत्व को और अच्छी तरह जानना चाहिए। उनकी महिमा जाननी चाहिए। दृश्य जगत् का चिंतन कम करके अनन्य भाव से परमात्मा का ध्यान करने का अभ्यास करना चाहिए। सौ फीसदी दैवी तत्व से हृदय को भर लेना चाहिए। तब वह मन मामूली न रहकर चिद्रूप में बदल जाएगा। सत्व गुणी बन जाएगा। वही मोक्ष की प्राप्तिवाली स्थिति है।

प्रश्न - दैवी प्रकृति के आश्रय में जानेवाले महात्मा कैसा बर्ताव करते हैं ?

उत्तर - परमात्मा को समस्त जीवराशि का आद्य एवं अविनाशी जानकर अनन्य भाव से उनका सेवन करते हैं।

प्रश्न - परमात्मा के लक्षण क्या हैं ?

उत्तर - (१) समस्त जीवराशि का आद्य है (२) नाशरहित है।

प्रश्न - कैसा व्यक्ति महात्मा माना जाता है ?

उत्तर - (१) दैवी प्रकृति का आश्रय लेनेवाला।
(२) भगवान का तत्व जाननेवाला।
(३) परमत्मा का अनन्य भाव से सेवन करनेवाला। महात्मा माना जाता है।

प्रश्न - भगवान में अनन्य मन कैसे स्थित होगा ?

उत्तर - जीव उसके स्वरूप, स्वभाव को अच्छी तरह जब जान सकेगा, उसे जब आद्य पुरुष एवं अविनाशी जान सकेगा, तब भगवान में अनन्य मन से स्थित हो सकेगा। भगवान के प्रति भक्ति श्रद्धा जब साधक के हृदय में उप्तन्न होगी, जब मन अन्यत्र न जाकर परमात्मा में ही केन्द्रित रहेगा, तब उसे अनन्य मन कहा जाएगा।

१४. सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

शब्दार्थ - (ते = वे) सततम् = सदा। माम् = मेरे बारे में। कीर्तयन्तः = कीर्तन करते हुए। दृढव्रताः = दृढव्रती बनकर। यतन्तः च = प्रयत्न करते हुए। भक्त्या = भक्ति से। नमस्यन्तः च = नमस्कार करते हुए। नित्य युक्ताः = सदा मुझमें चित्त लग्न कर। माम् = मुझे। उपासते = पूजते हैं।

भावार्थ - वे दृढ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणों का कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्ति के लिये यत्न करते हुए और मुझ को बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यान में युक्त होकर अनन्य प्रेम से मेरी उपासना करते हैं।

व्याख्या - पिछले श्लोक में बताया गया कि महात्मा लोग परमात्मा की अनन्यभाव से सेवा करते हैं। सेवा की पद्धति का विवरण अब इस श्लोक में दिया गया है। 'सततम्' कहने से स्पष्ट होता है कि वे सदा सर्वदा भगवान का कीर्तन करते रहते हैं। साकार भक्त हों, तो हृदय में परमात्मा का मनन एवं ध्यान किया करते हैं।

वे हमेशा भगवान की प्राप्ति के लिए यत्न करते रहते हैं। शम एवं दम आदि का अभ्यास करते हैं। आलसी नहीं रहते। यतन्तश्च कहने से स्पष्ट होता है कि प्रयत्नशील साधकों को ही दैवी पद प्राप्त होता है, अन्य लोगों को नहीं। बिना प्रयत्न के सांसारिक वस्तु ही जब नहीं मिलती, तब दैव की प्राप्ति के बारे में कहना ही क्या है ? दृढव्रती बनकर परमार्थ की साधना करनी चाहिए। गीताचार्य ने दृढव्रत के बारे में पहले ही कहा कि -

"ते द्वन्द्व मोह निर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः" (७-२८) अब फिर से उसीका विवरण देते हैं। जन्म जन्म से जमीं मलिन वासनाओं तथा मलिन संस्कारों से मस्त मन को वश में करना हो, तो साधक को कुछ व्रतों के पालन पर अवश्य ध्यान देना पडता है। (वे उपवास व्रत, मौन व्रत, जप व्रत, ध्यान व्रत तथा ब्रह्मचर्य व्रत आदि हैं)। परन्तु वे दृढव्रत हों न कि दुर्बल व्रत। अर्थात् बीच में उन व्रतों का भंग नहीं करना चाहिए। व्रत, नियम तथा पारमार्थिक निष्ठा में दृढव्रती न होने के कारण कई लोग बीच में ही माया के वशवर्ती होकर पीछे लौट जाते हैं। माया भयानक शत्रु है। वह मामूली हथियारों से वश में नहीं आती। अतः दृढव्रती रूपी दिव्यास्त्रों के सहारे उसे हराना चाहिए।

"नित्ययुक्ताः" कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि निरंतर एकाग्रता से भगवान में चित्त को स्थित करनेवाले नित्य युक्त हैं।

साथ साथ "भक्त्या" शब्द का भी प्रयोग किया गया। इससे स्पष्ट होता है कि वे जो वंदन तथा ध्यान करते हैं, वे निर्मल भक्ति से युक्त होते हैं।

भगवान का ध्यान करनेवाले अनेक होते हैं, परन्तु भक्ति के साथ ध्यान करनेवाले बहुत कम होते हैं।

पतंजलि ने भी कहा था कि ''संतु दीर्घ कालनैरन्तर्य सत्कार सेवितो दृढभूमिः''। उन्होंने भी प्रीति से युक्त ध्यानादि निरंतर किये जानेवाले प्रयत्नों को ही अधिक प्रधानता दी। इस प्रकार निरंतर देव का स्मरण, दृढव्रत का पालन तथा भक्ति से भरा निरंतर-ध्यान भगवान के साक्षात्कार के साधन हैं। अतः मुमुक्षुओं को इस श्लोक में बताये गये उपर्युक्त विषयों पर ध्यान देकर दैवी प्रकृति से विलसित होना चाहिए। तभी वे ब्रह्म सायुज्य पा सकते हैं।

प्रश्न - महात्मा, भगवान की सेवा किस प्रकार करते हैं ?

उत्तर - (१) हमेशा कीर्तन करते हैं (२) दृढव्रत की दीक्षा लेकर दैव प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं (३) भक्ति के साथ भगवान को प्रणाम करते हैं (४) चित्त को दूसरी ओर नहीं जाने देते, सदा परमात्मा में उसे स्थित रखने का प्रयत्न करते हैं।

प्रश्न - भगवान की प्राप्ति के साधन क्या हैं ?

उत्तर - (१) निरंतर स्मरण (२) दृढव्रत से युक्त प्रयत्न (३) भक्तियुक्त प्रणाम एवं ध्यान (४) एकाग्रता से भरा निरंतर दैवी चिन्तन १ भगवान की प्राप्ति के साधान हैं।

प्रश्न - भगवान का स्मरण और कीर्तन कब करना चाहिए ?

उत्तर - हैं कि - निरंतर करना चाहिंए।

प्रश्न - किस तरह के व्रत का पालन करना चाहिए ?

उत्तर - दृढव्रत का पालन करना चाहिए।

प्रश्न - भगवान का चिन्तन किस तरह करना चाहिए ?

उत्तर - भक्ति से युक्त होकर करना चाहिए।

सम्बन्ध - भगवान् के गुण, प्रभाव आदि को जाननेवाले अनन्यप्रेमी भक्तों के भजन का प्रकाश बतलाकर अब भगवान् उनसे भिन्न श्रेणी के उपासकों

की उपासना का प्रकार बतलाते हैं -

१५. ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥

शब्दार्थ - अन्ये अपि = और कुछ लोग। ज्ञान यज्ञेन च = ज्ञान यज्ञ के द्वारा। यजन्तः = पूजा करते हुए। एकत्वेन = अद्वैत भाव से। (केचित् = और कुछ लोग) पृथक्त्वेन = द्वैत भाव से। बहुधा = इस तरह अनेक प्रकार से। विश्वतोमुखम् = विश्वरूप। माम् = मुझे। उपासते = पूजते हैं।

भावार्थ - दूसरे ज्ञानयोगी मुझ निर्गुण-निराकार ब्रह्म का ज्ञानयज्ञ के द्वारा अभिन्नभाव से पूजन करते हुए भी मेरी उपासना करते हैं और दूसरे मनुष्य बहुत प्रकार से स्थित मुझ विराट्स्वरूप परमेश्वर की पृथक् भाव से उपासना करते हैं।

व्याख्या - अब तक बताया गया कि महात्मा लोग परमात्मा का भजन किया करते हैं। यहाँ बताया गया कि कुछ महात्मा अद्वैत भावना से, कुछ महात्मा द्वैत भावना से और कुछ महात्मा विभिन्न मार्गों से अपने अपने संस्कारों के अनुसार भगवान का सेवन करते हैं। सभी नदियाँ अंत में समुंदर में मिलती हैं। इसी प्रकार अध्यात्म मार्ग में यत्नशील साधक भिन्न भिन्न मार्गों पर चलें, तोभी अंत में भगवान रूपी लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। उन्हें अपना प्रयत्न नहीं छोडना चाहिए।

"ज्ञान यज्ञेन" कहा गया। ज्ञान यज्ञ का मतलब क्या है ? "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या ब्रह्मैव नापरः" अर्थात् ब्रह्म एक ही सत्य है। समस्त दृश्य जगत् मिथ्या है। जीव वास्तव में ब्रह्म ही है, अन्य नहीं। इस निश्चय पर डटे रहना ही ज्ञानयज्ञ है। यही अद्वैत ब्रह्म की भावना है। "तत्वमसि" चिंतन है। 'सोहं' भाव है। ऐसे ज्ञानयज्ञ का आचरण करनेवाला अद्वैत भावना से युक्त होकर चिंतन करता है कि मैं ही ब्रह्म हूँ। भगवान श्रीकृष्ण गीता में जहाँ तहाँ

इस ज्ञान यज्ञ की श्रेष्ठता का उल्लेख करते रहे हैं। गीता की समाप्ति पर उन्होंने कहा कि "ज्ञान यज्ञेन तेनाह मिष्टस्स्यामिति मेमतिः" अर्थात् गीताध्ययन करनेवाले के ज्ञानयज्ञ से मैं सम्बन्धित हूँ। भगवान के इस कथन से ज्ञानयज्ञ की महत्ता प्रकट होती है। ज्ञानयज्ञ का मतलब है कि किसी न किसी समय अच्छी तरह समझ लेना कि सब कुछ भगवत्स्वरूप ही है। वह आत्मा ही है।

"विश्वतोमुखम्" - भगवान यहाँ विश्वमुखवाला तथा सर्वात्म स्वरूप कहा गया। यह सत्य जान लें, तो कोई भी आदमी पाप कर्म नहीं करेगा। क्योंकि सब जगह भगवान का मुख है। दृष्टि है। अस्तित्व है। वह सब कुछ देख रहा है। इसलिए "विश्वतो मुखम्" शब्द का बार बार स्मरण करते हुए दुष्कर्मों से लोगों को बचना चाहिए।

प्रश्न - लोग भगवान की सेवा किस प्रकार करते हैं ?

उत्तर - कुछ लोग ज्ञानयज्ञ के द्वारा अद्वैतभाव से करते हैं, तो कुछ लोग द्वैतभाव से करते हैं। इस प्रकार अपनी अपनी रुचि के अनुसार कई तरीकों से लोग भगवान की अर्चना करते हैं।

सम्बन्ध - समस्त विश्व की उपासना भगवान् की ही उपासना कैसे है - यह स्पष्ट समझाने के लिये अब चार श्लोकों द्वारा भगवान् इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि समस्त जगत् मेरा ही स्वरूप है -

१६. अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥

शब्दार्थ - अहम् = मैं। क्रतुः = क्रतु हूँ। अहम् = मैं। यज्ञः = यज्ञ हूँ। अहम् = मैं। स्वधा = पितृदेवों को अर्पित किया जानेवाला अन्न हूँ। अहम् = मैं। औषधम् = औषध हूँ। अहम् = मैं। मन्त्रः = मन्त्र हूँ। अहम् = मैं। आज्यम् = होमद्रव्य हूँ। अहम् = मैं। अग्निः = अग्निहोत्र हूँ। अहमेव = मैं ही। हुतम् (अस्मि) = होम कर्म हूँ।

भावार्थ - क्रतु मैं हूँ, यज्ञ मैं हूँ, स्वधा मैं हूँ, ओषधि मैं हूँ, मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ, और हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ।

व्याख्या - परमात्मा सर्वव्यापक है। सर्वतोमुखी है। इस बात को सिद्ध करने के लिए दृष्टांत के रूप में यज्ञ को लेकर उससे सम्बन्धित समस्त पदार्थ भगवत्स्वरूप बताये गये हैं। इससे ज्ञात होता है कि संसार के सभी पदार्थ भगवान के ही रूप हैं। फिर सब में परमात्मा के दर्शन करने एवं उन्हें अनुभव में लाने का प्रयत्न करना चाहिए।

१७. पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥

शब्दार्थ - अस्य जगतः = इस जगत् का। अहम् एव = मैं ही। पिता = पिता हूँ। माता = माता हूँ। धाता = रक्षक हूँ। पितामहः = दादा हूँ। वेद्यम् = जानने लायक वस्तु हूँ। पवित्रम् = पवित्र हूँ। ॐकारः = ओंकार हूँ। ऋक्सामयजुःच = ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद हूँ।

भावार्थ - इस सम्पूर्ण जगत् का धाता अर्थात् धारण करनेवाला एवं कर्मों के फल को देनेवाला, पिता, माता, पितामह, जाननेयोग्य, पवित्र, ओङ्कार तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ।

व्याख्या - बन्धु बान्धवों से जीव का संबंध रहता है। पर वह तात्कालिक है। जब तक स्थूल शरीर रहेगा, तब तक उनके साथ संबंध बना रहता है। इस देह के पतन के साथ वह संबंध टूट जाता है। माता हो, पिता हो, भाई हो, दादा हो, सब की यही स्थिति है। परन्तु भगवान का नाता ऐसा नहीं है। भगवान के साथ जीव का संबंध स्थूल देह का नहीं है। वह शाश्वत है। भगवान नित्य है। शाश्वत है। उसी के आश्रय में जीव को जाना चाहिए। जो साधक परमात्मा को ही पिता, दादा मानता है, वह सदा प्रसन्न रह सकता है। क्योंकि भगवान ही उसका संरक्षक है। भगवान ही अपने परम भक्त को भव

बन्धनों से मुक्त कर शाश्वत शांति प्रदान करता है। जो जीव ऐसे सर्व शक्ति संपन्न भगवान के आश्रय में जाएगा, वह कैवल्य प्राप्त करेगा। अतः मातृभक्ति एवं पितृभक्ति के साथ ज़ीव को भगवान की भक्ति का भी अभ्यास करना चाहिए। "वेद्यम्" कहा गया। इससे स्पष्ट है कि संसार में यद्यपि बहुत से पदार्थ हैं, तथापि एक पदार्थ सर्वोपरि है। वह है परमात्मा। जिसे ज़ानने से जीव को आत्मशांति प्राप्त होती है और जन्मराहित्य प्राप्त होता है, उसीको अच्छी तरह जानना चाहिए। सब कुछ जान ले, पर परमात्मा को न जाने, तो समझना चाहिए कि जीव कुछ नहीं समझता।

"ॐकारः" - ओंकार (प्रणव) भगवान का नाम है। उसका उच्चारण कर उसका अर्थ जान लें, तो अद्भुत फल पा सकते हैं। सभी मंत्रों में प्रणव मंत्र अत्यंत श्रेष्ठ है। इस प्रकार समस्त जगत् को भगवत्स्वरूप मानकर भक्तिभाव से साधक को भरा रहना चाहिए।

प्रश्न - इस संसार में सब का पिता कौन है ? माता कौन है ? दादा कौन है ? संरक्षक कौन है ?

उत्तर - परमात्मा ही सब कुछ है।

प्रश्न - इस संसार में जानने योग्य वस्तु क्या है ?

उत्तर - परमात्मा ही है।

प्रश्न - और किस किस रूप में परमात्मा विलसित है ?

उत्तर - प्रणव (ओंकार) के रूप में, ऋक्, यजुस्साम वेदों के रूप में परमात्मा विलसित है।

१८. ***गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।***
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

शब्दार्थ - गतिः = परम लक्ष्य हूँ। भर्ता = भर्ता हूँ। प्रभुः = प्रभु हूँ। साक्षी = साक्षी हूँ। निवासः = निवास हूँ। शरणम् = शरण लेने योग्य हूँ। सुहृत = प्रतिफल की चाह के बिना हित करनेवाला हूँ। प्रभवः स्थानम् प्रलयः =

सृष्टि स्थिति लय का कारणभूत हूँ। निधानम् = निधान हूँ। अव्ययम् = अविनाशी। बीजम् = बीज हूँ।

भावार्थ - प्राप्त होने योग्य परम धाम, भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी, शुभाशुभ को देखनेवाला, सब का वासस्थान, शरण लेने योग्य, प्रत्युपकार न चाहकर हित करनेवाला, सब की उत्पत्ति-प्रलय का हेतु, स्थितिका आधार-निधान और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ।

व्याख्या - "गतिः" - जीवों की परमगति, परमप्राप्यस्थान परमात्मा ही है। आत्मेतर सब नश्वर है। अतः सद्वस्तु शाश्वत आत्मा ही है। सभी जीवों के लिए वही परमगति है।

"**भर्ता**" - सब का भरण करनेवाला, सब का पोषण करनेवाला परमात्मा ही है। इसलिए वह जगत्पति है। स्त्रियों, पुरुषों तथा सब का भर्ता भगवान ही है। स्त्रियाँ यद्यपि अपने पति की सेवा में लीन रहती हैं, तथापि उन्हें जगत्पति के प्रति भी अनन्य भक्ति रखनी चाहिए। बेवा बनने के बाद स्त्रियों को दीना न बन कर भगवान को ही अपना पति मानकर उनके ध्यान में लीन रहना चाहिए।

"**प्रभुः**" - परमात्मा प्रभु हैं। चक्रवर्ती है। विश्व साम्राट है। ब्रह्मांड के नायक है। अतः छोटे छोटे राजा से लेकर बडे बडे राजा तक, धनी से लेकर रंक तक सब को उस महाप्रभु परमात्मा के प्रति भक्तियुक्त रहना चाहिए।

"**साक्षी**" - भगवान ही सर्व जगत् का साक्षी है। लोगों के पुण्य पापों का साक्षी के रूप में वह निरीक्षण करते हैं। अतः सचेत होकर लोगों को धर्ममार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

"**निवासः**" - सभी जीवों का निवास भगवान ही हैं। क्योंकि ब्रह्मांड सारा उसीकी कुक्षि में स्थित है। लोगों से पूछा जाय कि तुम्हारा निवास व जनपद कौन सा है, तो तुरन्तु वे अपने गाँव, जिला आदि का विवरण देते हैं। परन्तु वास्तव में यह ठीक नहीं है। क्योंकि यह समस्त जगत् जिस में बसा है, वह परमात्मा ही सबका वास्तविक निवास स्थान है।

"**शरणम्**" - भगवान ही सब के लिए शरण्य है। नश्वर सांसारिक वस्तुओं की शरण में जाने से क्या फायदा ? अतः शाश्वत शरण देनेवाले सर्वेश्वर की शरण में जाना चाहिए।

"**सुहृत्**" - परमात्मा सब का प्राणमित्र है। वह प्रतिफल चाहे बिना सब का भला करनेवाला है। सांसारिक मित्रों एवं बन्धुओं का संबंध स्थूल देह के पतन के साथ समाप्त होता है। परन्तु शाश्वत मित्र एवं बन्धु भगवान के सात जीव का जो संबंध है, वह सदा सर्वदा स्थिर रहनेवाला है। अतः उससे मैत्री की स्थापना करनी चाहिए।

"**प्रभवः प्रलयःस्थानम्**" - जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं लय के कारण वह परमात्मा ही है। क्योंकि उन्ही के कारण यह समस्त विश्व चुंबक के पास की सुई की भाँति क्रियाशील बनता है।

"**निधानम्**" - भगवान सभी जीवों के निधान है। प्रलय काल में भी सब कुछ उसी में छिपा रहता है।

"**बीजमव्ययम्**" - समस्त जगत् एवं सभी प्राणियों के लिए भगवान ही बीज स्वरूप है। अतः चाहे स्त्री हो या पुरुष, बालक हो या वृद्ध, सभी को समझना चाहिए कि मेरा कुल, गोत्र, जात, पांत सब भगवान ही हैं। अपने को अल्प, दुर्बल और शक्तिहीन नहीं समझना चाहिए। वृक्ष और बीज एक ही हैं। अतः हर जीव को यह समझकर कि मेरा बीज सर्व शक्तिमान परमात्मा ही है, धैर्य धारण करना चाहिए। "अव्ययं बीजं" कहने से स्पष्ट होता है कि वह परमकारण नाशरहित है।

प्रश्न - जीवों की परमगति कौन है ? सब का भर्ता कौन है ? सब का निवास स्थान क्या है ? साक्षी कौन है ? मित्र कौन है ? सृष्टि स्थिति एवं लय के कारण कौन है ? समस्त जीवराशि का निधान कौन है ?

उत्तर - परमात्मा ही सब कुछ है।

१९. तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।।

शब्दार्थ - अर्जुन = हे अर्जुन। अहम् = मैं। तपामि = (सूर्य किरणों से) तपाता हूँ। अहम् = मैं। वर्षम् = वर्षा हूँ। उत्सृजामि = (वर्षा) कराता। निगृह्णामि च = (वर्षा को) रोकता हूँ। अमृतम् च = जन्म राहित्य। मृत्युः च = मरण। सत् = सद्वस्तु। असत् च = असद्वस्तु। अहम एव = मैं ही हूँ।

भावार्थ - मैं ही सूर्यरूप से तपाता हूँ, वर्षाका आकर्षण करता हूँ और उसे बरसाता हूँ। उसे रोकता हूँ। हे अर्जुन! मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ और सत्-असत् भी मैं ही हूँ।

व्याख्या - समस्त जगत् एवं जगत् क्रियाओं का आधारभूत भगवान ही है। इसलिए यहाँ बताया गया कि सब कुछ उसी के द्वारा चल रहा है। उदाहरण के तौर पर यहाँ तीन क्रियाएँ बतायी गयी हैं। (१) धूप उसीसे होती है (२) वर्षा उसीसे होती है (३) वर्षा उसीसे रुकती है। इससे स्पष्ट होता है कि अतिवृष्टि हो, अनावृष्टि हो, अकाल पडे, तो उसके निवारण के लिए भगवान ही एक मात्र शरण्य है। जिस तरह रज्जु सर्प भ्रांति में रज्जु से सर्प अलग नहीं है, उसी प्रकार आभास रूप यह जगत् अधिष्ठाता भगवान से अलग नहीं है। इसीलिए यहाँ स्पष्ट बताया गया कि परमार्थ की दृष्टि में अमृत, मृत्यु, सत्, असत् सब एक ही हैं, वे भगवत्स्वरूप हैं। वास्तव में भगवान सद्वस्तु है। असद्वस्तु नहीं है। अमृतस्वरूप है। मृत्युस्वरूप नहीं है। इस बात को अच्छी तरह जान लेना चाहिए।

प्रश्न - गर्मी और वर्षा किससे प्राप्त होती हैं ?

उत्तर - परमात्मा से प्राप्त होती हैं।

२०. त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥

शब्दार्थ - त्रै विद्याः = तीन वेदों का अध्ययन करनेवाले। सोमपाः = सोमपान करनेवाला। पूत पापाः = पाप कल्मष से छूटनेवाले। यज्ञैः = यज्ञों

से। माम् = मुझे। इष्ट्वा = पूजा कर। स्वर्गतिम् = स्वर्ग प्राप्ति को। प्रार्थयन्ते = चाहते हैं। ते = वे। पुण्यम् = पुण्यफल रूपी। सुरेन्द्रलोकम् = देवेन्द्र लोक को। आसाद्य = पाकर। दिवि = उस स्वर्ग में। दिव्यान् = दिव्य। देव भोगान् = दैवी भोगों का। आश्नन्ति = अनुभव करते हैं।

भावार्थ - तीनों वेदों में विधान किये हुए सकाम कर्मों को करनेवाले, सोमरसको पीनेवाले, पापरहित पुरुष मुझ को यज्ञों के द्वारा पूजकर स्वर्ग की प्राप्ति चाहते हैं; वे पुरुष अपने पुण्यों के फलरूप स्वर्गलोक को प्राप्त होकर स्वर्गमें दिव्य देवताओं के भोगों को भोगते हैं।

व्याख्या - वेदों का अध्ययन करने पर भी कुछ लोग उन में बताये सकामकर्म मात्र (पूर्वभाग ही) करके यज्ञ-भाग आदि के द्वारा भगवान की अर्चना करते हैं। फलस्वरूप स्वर्ग आदि पुण्यलोक पाते हैं। वहाँ पुण्य फल को भोगकर फिर भूलोक में जन्म लेते हैं। ऐसे सकाम भक्तों के बारे में यहाँ बताया गया हैं। ये मोक्ष के लिए प्रयत्न न करके स्वर्ग आदि के भोगों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं। अतः परमार्थ की दृष्टि से पूर्ण विकासवाले नहीं हैं। क्योंकि इसके पूर्व भगवानने कहा कि

"आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन" चाहे वह स्वर्ग हो या दूसरा कोई पुण्य लोक हो, वह पुनरावृत्तिवाला ही है। अतः वहाँ के लोग जनन मरण रूपी संसारिक चक्र से छूटते नहीं। उनके बारे में कहा जाता है कि वे सोने की जंजीरों से जकडे हुए हैं। क्योंकि वे सांसारिक कारागृह में पडे रहनेवाले हैं। जो जनन मरण के बन्धन से मनुष्य को मुक्त करा सकता है वही उत्तम पदार्थ है। मुमुक्षुओं के लिए वही आत्मपद है। वही ब्रह्मपद है। भगवाननें कहा है कि -

"मामुपेत्यतु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते" ऐसे ब्रह्मपद पानेवालों का न विद्यते" फिर जन्म नहीं होता। अतः विज्ञ लोगों को उस पुनरावृत्तिरहित परमात्मा का पद प्राप्त करने के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए। पुनरावृत्तिवाले

स्वर्ग आदि लोकों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करना चाहिए। यद्यपि वेदों में सकाम एवं निष्काम दोनों कर्मों के बारे में कहा गया, तोभी ज्यादातर लोग सकामकर्म ही करके संसार में फिर जन्म लेते हैं। यज्ञादि पुण्य कर्म करने से यद्यपि उनके पाप कुछ कम होते हैं, तथापि मोक्ष की प्राप्ति के लिए उसे काम में लाते, तो वे और भी महान् श्रेय प्राप्त कर सकते हैं। वे ऐसा न करके फिर स्वर्ग आदि के भोगों की ही इच्छा करते हैं। ऐसे सकाम दृष्टिवालों के विधान का गीताचार्य ने दूसरे अध्याय में खंडन किया। जैसे -

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ (२-४३)
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ (२-४४)

स्वर्ग के भोग यद्यपि भूलोक के भोगों से बढकर हैं, तथापि उन से सांसारिक बन्धन नहीं टूटता। अतः विज्ञ लोगों के लिए वे योग्य नहीं हैं। "प्रार्थयन्ते" कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि वे स्वर्ग पद के लिए आसक्ति के साथ प्रार्थना करते हैं। वह आसक्ति भोगों के प्रति न दिखाकर योगों के प्रति दिखाते, तो मनुष्य मोक्ष पा सकेंगे। अतः प्रार्थना मोक्ष की प्राप्ति के लिए करनी चाहिए, न कि भोगों की प्राप्ति के लिए अब प्रश्न उठता है कि ऐसी हालत में यज्ञ याग आदि के बारे में वेदों में क्यों कहा गया ? पापाचरण को कम करके पुण्याचरण को बढावा देने के लिए कहा गया। परन्तु यह काफी नहीं है। थोडा सा पुण्य मिले तो मिले, लेकिन लक्ष्य होना चाहिए परमात्मापद की प्राप्ति। इसके लिए मनुष्य को सकाम कर्म से आगे बढकर निष्काम कर्म को अपनाना चाहिए। इसीलिए भगवान श्रीकृष्णने सकामकर्म एवं स्वर्ग के भोग आदि की गीता में आलोचना की और निष्काम कर्म को प्रोत्साहित किया।

प्रश्न - सकामकर्म रूपी यज्ञ और याग आदि करने से कौन सा फल मिलेगा?

उत्तर - स्वर्गलोक की प्राप्ति का फल मिलेगा।

*२१. ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥*

शब्दार्थ - ते = वे। तम = उस। विशालम् = विशाल। स्वर्गलोकम् = स्वर्गलोक को। भुक्त्वा = भोगकर। पुण्ये = पुण्य के। क्षीणे = अन्त होने पर। मर्त्यलोकम् = मनुष्य लोक में। विशन्ति = प्रवेश करते हैं। एवम् = इस प्रकार। त्रयीधर्मम् = वेद धर्म को। अनुप्रसन्नाः = (फल की अपक्षा से) अनुष्ठान करनेवाले। कामकामाः = कामाभिलाषी। गतागतम् = आवागमन्। (जनन मरण)। लभन्ते = पाते हैं।

भावार्थ - वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोक को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्वर्ग के साधनरूप तीनों वेदों में कहे हुए सकामकर्मका आश्रय लेनेवाले और भोगों की कामनावाले पुरुष बार-बार आवागमनको प्राप्त होते हैं, अर्थात् पुण्यके प्रभावसे स्वर्गमें जाते हैं और पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोक में आते हैं।

व्याख्या - वेदों के अनुसार यज्ञ याग करनेवाले स्वर्ग लोक प्राप्त कर, वहाँ स्वर्ग के भोगों का अनुभव करते हैं। पुण्यों के समाप्त होते ही फिर भूलोक में जन्म लेते हैं। यहाँ बताया गया कि ऐसे सकाम कर्मी भोग के अभिलाषी बार-बार जन्म लेते हैं और बार-बार मरते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि स्वर्ग में भी जीव को शाश्वत स्थिति प्राप्त नहीं होती। 'विशालम' कहने से ज्ञात होता है कि स्वर्गलोक, मर्त्यलोक से थोडा विशाल है। उसका एक बडप्पन है ? मोक्ष के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती। वहाँ के भोग मोक्ष विरोधी हैं। स्वर्ग आदि सभी, कर्मानुभव के लोक हैं। शास्त्र कहते हैं कि मोक्ष के प्रयत्न केवल भूलोक में संभव हैं। ऐसा मौका जीवों को भगवानने दिया। इसलिए इस मूल्यवान जीवन को जनन मरण से भरे सांसारिक विषयों

में व्यर्थ न गवाँ कर मोक्ष की प्राप्ति के लिए जो प्रयत्न करेंगे, वे धन्य हैं। फिर किसी भी दूसरे लोक में ऐसा मौका जीवों को नहीं मिल सकेगा।

वेदोक्त धर्मों का पालन करना ठीक है, मगर फल की अपेक्षा कर उसका पालन करना ठीक नहीं है। उन वेद धर्मों में भी यज्ञ याग आदि कर्मकाण्ड से संबंधित अंशों से उपासना कांड संबंधी अंश उत्तम माना जाता है। उपासनाकाँड संबंधी अंश से ज्ञानकाण्ड संबंधी अंश उत्तम है। सकामी बनकर भोगानुभव के लिए जो कर्म किये जाते हैं, वे जीव को बन्धनों से मुक्ति दिला नहीं सकते। अतः निष्काम भावना से ही दैव की प्राप्ति के लिए कर्म करना चाहिए।

"गतागतं काम कामा लभन्ते" कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि कामनाओं के दास जनन मरणों को पाते हुए इस सांसारिक चक्कर में फंसकर उससे छूट नहीं सकते। इस वाक्य को याद रखकर मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे सभी इच्छाओं को हृदय से निकाल दें, सकाम बुद्धि को त्याग दें। वास्तव में इस संसार में कोई भी व्यक्ति दुःख नहीं चाहता। जनन मरण नहीं चाहता। परन्तु ऐसे ही काम करते हैं। विषय वासनाओं, कामनाओं तथा भोग विलासों की अभिलाषाओं के कारण ही लोग ऐसा करते हैं। भगवानने यहाँ कहा कि कामकामी ही संसार के चक्कर में फंस रहा है और जनन मरण पा रहा है। अतः जो लोग जनन मरण से छुटकारा पाना चाहते हैं, उनको काम, स्वर्ग आदि के भोगों से तथा विभिन्न कामनाओं से दूर रहना चाहिए। भगवान श्रीकृष्णने इसके पूर्व कई बार कहा कि काम ही जीवों का प्रबल शत्रु है। उसी विषय को फिर उन्होंने यहाँ स्पष्ट किया।

प्रश्न - यज्ञ आदि, कामनाओं के साथ करनेवाले स्वर्ग पाकर वहाँ कितने समय तक रहेंगे ?

उत्तर - जब तक पुण्य का क्षय नहीं होगा तब तक रहेंगे।

प्रश्न - इसके बाद क्या होगा ?

उत्तर - (पुण्य के क्षीण होने के बाद) भूलोक में जन्म लेंगे।

प्रश्न - कामनाओंवालों तथा भोग के अभिलाषियों को मिलनेवाला फल क्या है ?

उत्तर - जनन और मरण का फल मिलता है।

प्रश्न - जनन मरण से छूटने का उपाय क्या है ?

उत्तर - कामनाएँ मिटाना, कामनाओं का विसर्जन तथा विषय वासनाओं का राहित्य ही उपाय है।

प्रश्न - स्वर्गलोक कैसा है ?

उत्तर - (१) विशाल है (२) भोगानुभव से युक्त है। (३) पुण्यों के क्षीण होने की अवधि तक सीमित है।

सम्बन्ध - पहले दो श्लोकोंमें यज्ञद्वारा देवताओंका पूजन करनेवाले सकामी मनुष्योंके देवपूजनका फल आवागमन बतलाकर अब भगवान् उनसे भिन्न अपने अनन्य प्रेमी निष्काम भक्तोंकी उपासनाका फल उनका योगक्षेम वहन करना बतलाते हैं -

२२. ***अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।***
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

शब्दार्थ - ये जनाः = जो जन। अनन्याः = अन्यभावों से रहित होकर। मामू = मेरा। चिन्तयन्तः = चिंतनकरते हुए। पर्युपासते = लगातार ध्यान करते हैं। तेषाम् = वैसे। नित्याभियुक्तानां = सदा मुझमें ही निष्ठा से युक्त लोगों का। योग क्षेमम् = योगक्षेम। अहम् = मैं। वहामि = वहन करता हूँ।

भावार्थ - जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।

व्याख्या - यह गीता का मुख्य श्लोक है। यह श्लोक गीता के मध्य भाग में है। इसलिए यह श्लोक गीता रूपी पुष्पहार या गीता रूपी रत्नों की माला का

मध्य-मणि बन कर हृदय स्थान को अलंकृत कररहा है। इस श्लोक के द्वारा भगवान श्रीकृष्णने भक्तों को अभयदान दिया है। अकसर भक्तलोग शंकाग्रस्त होते हैं और सोचते हैं कि हम निरंतर भगवान के ध्यान में लीन रहें, तो हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति कौन करेगा ?" भगवानने भक्तों की इस शंका का उत्तर इस श्लोक में दिया। उन्होनें स्पष्ट किया कि मैं भक्तों की आवश्यकताओं की पूर्ति करता हूँ। योग का मतलब है — आवश्यक पदार्थों की पूर्ति करना, क्षेम का मतलब है — उनका संरक्षण करना। इस प्रकार भगवानने वादा किया कि भक्तों के योग क्षेम का वहन मैं करता हूँ। साथ साथ बताया कि भक्त को अनन्यचित्त होकर निरंतर परमात्मा का सेवन करते हुए सदा सर्वदा परमात्मा में स्थित होकर रहना चाहिए।

"अनन्याः" - जहाँ अन्य कुछ नहीं, वहाँ सब अनन्य है। अर्थात् भगवान को छोडकर जहाँ मन में अन्य कुछ नहीं रहता, वहाँ भगवान का वास होता है। पिछले श्लोक में स्वर्ग के भोगों को चाहनेवालों के बारे में बताया गया। इस श्लोक में अनन्यचित्त वालों के बारे में बताया गया। दोनों में बडा अंतर है। पहले प्रकार के भक्त दृश्य पदार्थों में मन को लीनकर सांसारिक विषय वासनाओं में आसक्त रहते हैं। दूसरे प्रकार के भक्त भगवान को छोडकर अन्य किसी पदार्थ को मन में आने नहीं देते। ऐसे लोग अनन्यचित्त कहलाते हैं। संसार में तीन प्रकार के लोग रहते हैं। (१) भगवान के प्रति कुछ लोग लापरवाह रहते हैं। विषयवासनाओं में रत रहते हैं। (२) भगवान का थोडी देर तक ध्यान एवं चिंतन करते हैं। पर इसके बाद सांसारिक विषयों में लीन हो जाते हैं। (३) कुछ भक्त सांसारिक चक्कर से छूटकर निरंतर भगवान के ध्यान में लीन रहते हैं। उनका मन अन्यत्र कहीं न जाता। ऐसे भक्त अनन्य चित्तवाले हैं।

भगवानने प्रतिज्ञा की कि ऐसे अनन्य चित्तवालों के योगक्षेम का कार्य मैं करूंगा। अर्जुन के रथ का सारथी बनकर श्रीकृष्ण ने जो अनुकंपा की,

वह श्लाघ्य है। भक्तों के प्रति भगवान की श्रद्धा का यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। अर्जुन अपने रथ के बागडोर भगवान को सौंपकर निश्चिंत हो गये। उसी प्रकार अनन्यचित्तवालों के भी जीवन की यात्रा का भार भगवान खुद अपने ऊपर लेते हैं। "योगक्षेमंवहाम्यहम्" का अर्थ यही है। इससे स्पष्ट है कि अनन्यचित्तवाले भक्तों की देखभाल स्वयं भगवान करते हैं, अन्यों की नहीं।

भगवान के इन वाक्यों से भक्तों की चिंता दूर हो जाती है। शंकाकुल हृदयवालों की शंका का समाधान इस श्लोक से हो जाता है। यहाँ यह भी स्पष्ट होता है कि अनन्यभक्त चाहे जहाँ भी रहें, उनकी रक्षा उनका पालन-पोषण तथा उनकी देखभाल स्वयं भगवान करेंगे। महाभक्तों के इतिहास पर ध्यान दें, तो स्पष्ट हो जाएगा कि भगवानने उनकी रक्षा किस प्रकार की। वे जहाँ भी रहे, जहाँ भी गए सर्वेश्वर सदा उनके साथ रहे। यहाँ 'ये जनाः' कहा गया। इससे स्पष्ट है कि जात-पांत एवं वर्ग-वर्ण के भेद के बिना सभी लोगों का संरक्षण भगवान करते हैं। एक शर्त पर कि वे अनन्य चित्तवाले हों। अनन्यचित्तवाला मूल्य चुका दे, तो भगवान अपने संरक्षण का फल उन्हें प्रदान करेंगे। अतः मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे इस जीवन में ही भगवान का अनुग्रह प्राप्त करें और अनन्य भाव से भगवान का चिन्तन और मनन कर अनन्य चित्तवाले बनें।

"योग क्षेमम्" - यहाँ योग के अंतर्गत भक्तों के जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं के अलावा आत्मज्ञान भी आता है। निरंतर भगवान का ध्यान करते रहने से सर्वेश्वर संतुष्ट होता है और आत्मज्ञान प्राप्त कराता है। उसकी रक्षा करता है। "नित्याभियुक्तानाम्" कहा गया। इससे स्पष्ट है कि थोडी देर नहीं, निरंतर ध्यान करना चाहिए।

प्रश्न - भगवान का कैसे चिन्तन करना चाहिए ?

उत्तर - अनन्यचित्त से, अन्य किसी भी चीज में मन लगाए बिना भगवान में मन को लीन करना चाहिए।

प्रश्न - अनन्यचित्त से ध्यान करनेवालों को क्या फल मिलेगा ?

उत्तर - भगवान की कृपा मिलेंगी। ऐसे भक्तों के योग क्षेम की व्यवस्था स्वयं भगवान करेंगे।

प्रश्न - भगवान की कृपा के लिए जीव को कया करना चाहिए ?

उत्तर - अनन्यचित्त होकर परमात्मा का निरंतर ध्यान करना चाहिए।

सम्बन्ध - पूर्वश्लोकोंमें भगवान्‌ने समस्त विश्वको अपना स्वरूप बताया, फिर यज्ञोंद्वारा की जानेवाली देवपूजाको प्रकारान्तरसे अपनी ही पूजा बताकर उसका फल आवागमनके चक्रमें पड़ना और अपने अनन्य भक्तकी उपासनाका फल उसे अपनी प्राप्ति करा देना कैसे बताया ? इस पर कहते हैं -

२३. *योऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।*
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

शब्दार्थ - कौन्तेय = हे अर्जुन। ये अपि = जो। अन्यदेवता भक्ताः = अन्य देवताओं के भक्त होकर। श्रद्धयान्विताः = श्रद्धालु बन कर। यजन्ते = आराधना करते हैं। ते अपि = वे भी। माम् एव = मुझको ही। अविधिपूर्वकम् = अविधिपूर्वक। यजन्ति = आराधना करते हैं।

भावार्थ - हे अर्जुन ! यद्यपि श्रद्धासे युक्त जो सकाम भक्त दूसरे देवताओंको पूजते हैं, वे भी मुझको ही पूजते हैं; किंतु उनका वह पूजन अविधिपूर्वक अर्थात् अज्ञानपूर्वक है।

व्याख्या - कुछ लोग निराकार निर्गुण परमात्मा को छोडकर, अन्य देवताओं की आराधना करते हैं। वे श्रद्धा के साथ उन देवताओं की आराधना करें, तो एक तरह से परमात्मा की आराधना करनेवाले होते हैं। लेकिन यह भगवान की सच्ची अर्चना नहीं है। क्रम विहीन आराधना है। क्योंकि वे सर्वव्यापी भगवान की अर्चना नहीं करते। अतः प्राप्त होनेवाले पुण्य के फल में अंतर रहता है। इतर देवताओं की पूजा करें, तो थोडा सा पुण्य मिलेगा। परन्तु

सर्वव्यापी परमात्मा की सेवा करें, तो उन्हें साक्षात् मोक्ष ही मिलेगा। किसी भी देवता की आराधना की जा सकती है। परन्तु श्रद्धा की बडी आवश्यकता है। इतर देवताओं की आराधना करके अल्पफल पाने के बजाय स्वयं परमात्मा की सेवा करके मोक्षरूपी महोन्नत पद पाना श्रेयस्कर है।

प्रश्न - भगवान की आराधना किस प्रकार करनी चाहिए ?

उत्तर - श्रद्धा के साथ करनी चाहिए।

२४. *अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।*
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥

शब्दार्थ - हि = कयों कि। सर्वयज्ञानाम् = समस्त यज्ञों का। भोक्ता च = भोक्ता। प्रभुः एव च = प्रभु। अहम् एव = मैं ही हूँ। मामू = मुझे। ते = वे। तत्वेन = वास्तव में। न अभिजानन्ति = मालूम नहीं करते। अतः = इसलिए। च्यवन्ति = गिरते हैं।

भावार्थ - क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ; परंतु वे मुझ परमेश्वरको तत्त्वसे नहीं जानते, इसीसे गिरते हैं, अर्थात् पुनर्जन्मको प्राप्त होते हैं।

व्याख्या - समस्त यज्ञों का भोक्ता प्रभु हैं। इस वास्तविक ज्ञान के न होने से लोगों की दृष्टि संकुचित होती है। उन उन देवताओं की क्रियाएँ करते हुए उच्च स्थान से फिसल कर संसार के कूप में गिरकर जनन मरण के शिकार बनते हैं। जो परमात्मा का ध्यान कर परमात्मा को पाते हैं, उन्हें छोडकर बाकी सब पुनर्जन्म पाते हैं। परमात्मा के बारे में यथार्थ ज्ञान के न होने के कारण सब लोग इस प्रकार जनन मरण के शिकार होते रहते हैं। यही च्युति है। संसाररूपी खाई में गिर जाना इसीको कहते हैं। अतः परमात्मा के बारे में अच्छी तरह जान लेना चाहिए। 'तत्वेन' कहने से स्पष्ट होता है कि सामान्य ज्ञान काफी नहीं होता, विशेष ज्ञान प्राप्त कर भगवान को समझना

चाहिए। मतलब यह कि सर्वव्यापी परमात्मा को, चराचर जगत् में व्याप्त भगवान को अनुभव के द्वारा मालूम करना चाहिए। जो ऐसा समझते हैं, वे कभी नहीं फिसलते।

प्रश्न - समस्त यज्ञों के भोक्ता कौन हैं ? प्रभु कौन हैं ?

उत्तर - परमात्मा ही भोक्ता हैं, प्रभु हैं।

प्रश्न - लोग क्यों संसार रूपी खाई में गिरते हैं ?

उत्तर - भगवान के बारे में यथार्थ ज्ञान के न होने से संसाररूपी खाई में गिरते हैं।

प्रश्न - संसार की च्युति से बचने का उपाय क्या है ?

उत्तर - परमात्मा का यथार्थ ज्ञान मालूम करना ही उपाय है।

सम्बन्ध - भगवान्‌के भक्त आवगमनको प्राप्त नहीं होते और अन्य देवताओंके उपासक आवगमनको प्राप्त होते हैं, इसका क्या कारण है ? इस जिज्ञासा पर उपास्यके स्वरूप और उपासकके भावसे उपासनाके फलमें भेद होनेका नियम बतलाते हैं -

२५. *यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।*
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

शब्दार्थ - देवव्रताः = देवताओं की आराधना करनेवाले। देवान् = देवताओं को। यान्ति = पाते हैं। भूतेज्या = भूतों की पूजा करनेवाले। भूतानि = भूतों को। यान्ति = पाते हैं। मद्याजिनः अपि = मेरी पूजा करनेवाले तो। मामू = मुझको ही। यान्ति = पाते हैं।

भावार्थ - देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, पितरोंको पूजनेवाले पितरोंको प्राप्त होते हैं, भूतोंको पूजनेवाले भूतोंको प्राप्त होते हैं और मेरा पूजन करनेवाले भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं। इसीलिये मेरे भक्तोंका पुनर्जन्म नहीं होता।

व्याख्या - मन जिन भावनाओं से भरा रहता है, वैसा ही रूप पाता है। अतः लोग जिन जिन देवताओं की अर्चना करते हैं, वे उन्हींको पाते हैं। शाश्वत परमात्मा का ध्यान करनेवाले वैसे शाश्वत रूप को ही पाते हैं। इसलिए विज्ञ लोगों को सोच लेना चाहिए कि हम जिसका ध्यान एवं स्मरण करते हैं, उस लक्ष्य का स्वरूप शाश्वत है या अशाश्वत है। एक मात्र परमात्मा को छोड बाकी सब लोक तथा सब व्यक्ति एक न एक दिन नष्ट होते हैं। परमात्मा की स्थिति वैसी नहीं है। वह अविनाशी है। अव्यय है। सनातन है। देशकाल के वशवर्ती नहीं है। ऐसे परमात्मा की आराधना करनेवाले नाशरहित परमात्मा का पद पाते हैं। अतः यही सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है। गम्य है। विज्ञ लोग अशाश्वत वस्तु की कामना नहीं करते। शाश्वत वस्तु की ही कामना करते हैं। अतः देवव्रतियों को आत्मव्रती बनना चाहिए।

प्रश्न - देवताओं, पितृ देवताओं तथा भूतों की आराधना करनेवाले किसे पाते हैं ?

उत्तर - वे अपने उपास्य देवताओं को ही पाते हैं।

प्रश्न - परमात्मा कीं आराधना करनेवाले किसे पाते है ?

उत्तर - परमात्मा को ही पाते हैं।

सम्बन्ध - भगवान्‌की भक्तिका भगवत्प्राप्तिरूप महान् फल होनेपर भी उसके साधनमें कोई कठिनता नहीं है, बल्कि उसका साधन बहुत ही सुगम है - यही बात दिखलानेके लिये भगवान् कहते हैं -

२६. ***पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।***
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।।

शब्दार्थ - यः = जो। मे = मुझे। भक्त्या = भक्ति के साथ। पत्रम् = पत्र। पुष्पम् = पुष्प। फलम् = फल। तोयम् = जल। प्रयच्छति = देता है। प्रयतात्मननः = (उस) परिशुद्ध अंतःकरणवाले के द्वारा। भक्त्युपहृतम् =

भक्त के साथ समर्पित। तत् = उन पत्र पुष्पादिकों को। अहम् = मैं। अश्नामि (स्वीकार) खाता हूँ।

भावार्थ - जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेम से पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि प्रेमी भक्त का प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूप से प्रकट होकर प्रीति सहित खाता हूँ।

व्याख्या - पत्ते, पुष्पं, फल एवं जल आदि अमीर-गरीब, पंडित-पामर सब के लिए सुलभ हैं। इस श्लोक के द्वारा स्पष्ट होता है कि सामान्य वस्तु भी श्रद्धा एवं भक्ति के साथ समर्पित करें, तो बस है। शक्तिहीन भक्तों को यह समझ कर कि भगवान को हम बडे बडे नैवेद्य समर्पित नहीं कर सके, निराश व निरुत्साहित नहीं होना चाहिए। क्योंकि भगवान हृदय की शुद्धि को देखते हैं, भक्ति को देखते हैं, न कि वस्तु को। वास्तव में भगवान को किसी वस्तु की जरूरत नहीं होती। क्योंकि सारा ब्रह्मांड उनकी कुक्षि में निक्षिप्त रहता है। फिर उन्हें किस बात की कमी है ? फिर भी निर्मल मन के द्वारा समर्पित वस्तु को वे स्वीकार करते हैं। उनकी दो शर्ते -

(१) देनेवाला परिशुद्ध हो।

(२) परम भक्ति के साथ वस्तु दी जाय। मलिन चित्तवाले बडे बडे राज्य ही क्यों न दें, परमात्मा स्वीकार नहीं करते। परिशुद्ध निर्मल चित्तवाला, पत्र, पुष्प, फल या कम से कम थोडा सा जल ही क्यों न दें, भगवान उसे स्वीकार करते हैं। सब को मालूम है कि भगवान श्रीकृष्णने राजाधिराज दुर्योधन के राज भवन में अतिथि सत्कार स्वीकार नहीं किया। क्योंकि वहाँ भक्ति श्रद्धा एवं आदर की कमी थी। परन्तु विदुर के गृह में आतिथ्य स्वीकार किया। क्योंकि वहाँ प्रेम, भक्ति, एवं श्रद्धा की भरमार थी। यह भी सब को मालूम है कि श्रीकृष्ण भक्त सुदामा के दिये चिड्डा खाकर तुप्त हुए।

इससे स्पष्ट होता है कि भगवान का ध्यान मनुष्य के द्वारा दिये जानेवाले पदार्थ पर नहीं, उसकी भावना पर रहता है। इतिहास की कई घटनाओं से

ज्ञात होता है कि कई बडे-बडे राजा, महाराजा, पंडित परमात्मा की कृपा के पात्र नहीं बन सके। गरीब, कौपीनधारी, तपस्वी परमात्मा की कृपा के पात्र बन सके। भगवान की दृष्टि में भक्ति एवं चित्त की शुद्धि ये दोनों ही मुख्य हैं। बाकी सब उनकी दृष्टि में कुछ नहीं हैं। 'अश्नामि' कहने से ज्ञात होता है कि भक्ति के साथ दी गयीं चीजें भगवान सिर्फ़ लेते ही नहीं, उन्हें खाते भी हैं। भक्तों पर भगवान की कृपा अपरंपार है।

"प्रयतात्मनः" का अर्थ निर्मल अंतःकरणवाला एवं प्रयत्नशील है।

"यः" शब्द के प्रयोग से स्पष्ट होता है कि भक्तों में जात-पांत एवं वर्ग-वर्ण का अंतर नहीं है। भक्ति एवं हृदय की शुचिता मोक्ष की यात्रा के लिए टिकट जैसी है। टिकट रहे, तो अमीर-गरीब, ऊँच-नीच तथा स्त्री-पुरुष सभी रेल में बोरोकटोक सफर कर सकते हैं। यदि टिकट न हों तो सब को रेल से उतार देते हैं। लक्ष्य तक वे पहुँच नहीं सकते। मोक्ष की यात्रा की भी यही स्थिति है। अतः भगवान की कृपा एवं मोक्ष की प्राप्ति के लिए भक्ति एवं चित्त की निर्मलता अत्यंत मुख्य हैं। इस बात का स्पष्टीकरण भगवानने इस श्लोक के द्वारा किया है। मुक्ति के लिए योग्यता मुख्य है। बाकी विषय अमुख्य हैं। इससे संसार में हर व्यक्ति को भक्ति के मार्ग पर चलने की हिम्मत मिलती है। अनन्य भक्तिवाले तथा निर्मल चित्तवाले ही भगवान की संतान हैं। उन्हीं पर परमात्मा कृपा करते हैं। उन्हींको वे आत्मज्ञान प्रदान करते हैं।

निम्नलिखित उपनिषद्वाक्य इसी बात को स्पष्ट करता है -

येमेवेषवृणुते तेन लभ्य
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्याम्

भगवान को	पत्र - विदुर एवं द्रौपदी पुष्प - गजेन्द्र फल - शबरी तोय - रंतिदेव	भक्ति के साथ देकर कृतार्थ हुए।

प्रश्न- भगवान किसे स्वीकार करते हैं ?

उत्तर - भक्ति एवं निर्मल चित्त से समर्पित किसी भी सामान्य वस्तु को भगवान स्वीकार करते हैं।

प्रश्न - भगवान की कृपा की प्राप्ति के लिए क्या चाहिए ?

उत्तर - (१) भक्ति चाहिए (२) चित्त की शुद्धि चाहिए।

२७. यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

शब्दार्थ - कौन्तेय = हे अर्जुन। यत् = जिसे। करोषि = करते हो। यत् = जिसे। अश्नासि = खाते हो। यत् = जिसे। ददासि = दान करते हो। यत् तपस्यसि = जिस तपस्या को करते हो। तत् = उसे। मदर्पणम् = मुझे अर्पित। कुरुष्व = करो।

भावार्थ - हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर।

व्याख्या - मनुष्य जो कर्म करता है, उन्हें ईश्वर को अर्पित करके करना चाहिए। फल की इच्छा न करके उसे ईश्वर को अर्पित करना चाहिए। जो ऐसा करता है, वह कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। परमात्मा को पाता है। उसका हृदय मलिनता से दूर होता है। परमात्मा का-वह साक्षात्कार करता है। अतः सभी कर्म भगवान को अर्पित करना मोक्ष की प्राप्ति एवं आत्म साक्षात्कार का सुलभ उपाय है। "कुछ भी किया जाय" कहा गया। इसका मतलब पाप कार्य भी करना नहीं है। क्योंकि पापकार्य भगवान को कोई समर्पित नहीं करता। इसी प्रकार "कुछ भी खाया जाय" कहा गया। इसका मतलब निषिद्ध पदार्थ खाना नहीं है।

कर्म किये बिना कोई रह नहीं सकता। सबेरे जागने के बाद सोने तक हर प्राणी कई काम करते हैं। उन्हें करना ही पडता है। अतः कर्म करके कहा

जाय कि कृष्णार्पणमस्तु, ब्रह्मार्पणमस्तु, इससे भगवान का अनुग्रह प्राप्त होगा। कर्म बन्धन से मुक्ति मिलेगी। अतः मोक्ष की प्राप्ति के लिए यह सुलभ उपाय है। सब को ऐसा करना चाहिए।

प्रश्न - जीव को किस प्रकार के कर्म करना चाहिए ?

उत्तर - वह जो भी काम करे, भोजन करे, होम करे; दान करे, तपस्या करे, उसे भगवान को अर्पित करना चाहिए। मतलब है कि सब कुछ ईश्वरार्पण की बुद्धि से करना चाहिए।

प्रश्न - इससे कौन सा फल मिलेगा ?

उत्तर - कर्मबन्धन से मुक्ति मिलेगी। भगवान की प्राप्ति होगी।

२८. शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

शब्दार्थ - एवम् = इस प्रकार। सन्यासयोः युक्तात्मा = कर्म समर्पण के योग से युक्त होकर। शुभाशुभफलैः = शुभाशुभ जिसके फल बन सकें। कर्मबन्धनैः कर्म के बन्धनों से। मोक्ष्यसे = छोडे जा सकते हो। विमुक्तः (वैसे) मामू = मुझे। उपैष्यसि = पा सकते हो।

भावार्थ - इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्के अर्पण होते हैं - ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।

व्याख्या - पिछले श्लोक में कर्म का फल त्यागने को कहा गया। भगवान को अर्पित कर्म का फल इस श्लोक में बताया गया। सन्यास का मतलब है कर्मों का सन्यास। भगवान ने कहा कि कर्म करते हुए उन्हें मुझे अर्पित करो। 'इसलिए सन्यास का अर्थ यहाँ फल का त्याग है, न कि कर्म का त्याग। इस तरह समस्त कर्म फल भगवान को अर्पित करने से जीव कर्म बन्धन से विमुक्त होकर परमात्मा को पा सकता है। 'मुक्त' न कहकर यहाँ 'विमुक्त'

कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि वैसा व्यक्ति कर्म बन्धन से पूर्ण रूप से छूटता है।

आम तौर लोग 'मोक्ष' की बात करते हैं। मोक्ष का अर्थ क्या है ? बन्धनों से मुक्त होना ही मोक्ष है। बन्धन कया है ? कर्म का बन्धन। कर्म कया हैं ? शुभाशुभ फल देनेवाले कर्म। ऐसे कर्मों के बन्धनों से छूटना ही मोक्ष है। वह सन्यास के योग से अर्थात् कर्म फलों को ईश्वरार्पण करने से प्राप्त होता है। इसीको निष्काम कर्मयोग कहते हैं। लेकिन यहाँ ध्यान देने की एक बात है। शुभाशुभ दोनों यहाँ बन्धन बताये गये हैं। सब जानते हैं कि अशुभकर्म तथा अशुभफल बंधन हैं। यहाँ बताया गया कि चूंकि परमार्थ की दृष्टि में दृश्य जगत् तथा तदंतर्गत कोई भी कर्म मिथ्या ही है। शुभ कर्म तथा शुभफल भी उसीके अंतर्गत हैं, इसलिए वह भी बन्धन ही है। अतः उसे भी पार कर परमात्मा के पास पहुँचना चाहिए, यही इसका मतलब है। कर्मों तथा उनके फलों को ईश्वरार्पित करने से जीव कर्म संबंधी बन्धनों से मुक्त होता है और परमात्मा तक पहुँचता है। कर्मों तथा उनके फलों को ईश्वरार्पित करने से उनसे संबंधित दोष नष्ट होते हैं। इससे जीव कर्म बन्धन से मुक्त हो कर ब्रह्म सायुज्य पाता है।

प्रश्न - कर्म बन्धन कैसा है ?

उत्तर - शुभाशुभ फल देनेवाला है।

प्रश्न - ऐसे कर्म बन्धन से जीव कैसे मुक्त हो सकता है ?

उत्तर - अपने सभी कर्मों को ईश्वरार्पित करने से कर्म के बन्धनों से मुक्ति एवं परमात्मा की प्राप्ति जीव को होती है।

सम्बन्ध - उपर्युक्त प्रकार से भगवान की भक्ति करनेवाले को भगवान की प्राप्ति होती है, दूसरों को नहीं होती -- इस कथन से भगवान में विषमता के दोष की आशङ्का हो सकती है। अत एव उसका निवारण करते हुए भगवान कहते हैं --

२१. *समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।*
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

शब्दार्थ - अहम् = मैं । सर्वभूतेषु = समस्त प्राणियों में । समः = समानरूप से रहनेवाला । मे = मुझे । द्वेष्यः = द्वेष करने लायक । न अस्ति = नहीं है । प्रिय = इष्ट । न = नहीं है । येतु = जो । माम् = मुझे । भक्त्या = भक्ति से । भजन्ति = भजते हैं । ते = वे । मयि = मुझ में । (वर्तन्ते = हैं) । तेषु च = उनमें भी । अहम् अपि = मैं भी । (वर्ते = हूँ) ।

भावार्थ - मैं सब भूतों में समभाव से व्यापक हूँ न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परन्तु जो भक्त मुझको प्रेम से भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ ।

व्याख्या - सभी चराचर प्राणियों में परमात्मा समान रूप से स्थित है । उनकी दृष्टि में सभी बराबर हैं । सब उनके प्रिय हैं । सब उनकी संतान हैं । सबके प्रति समान रूप से वात्सल्य रखते हैं । प्रश्न उठता है कि ऐसी हालत में कुछ सुखी क्यों हैं ? कुछ दुःखी क्यों हैं ? क्या भगवान भी पक्षपात करते हैं? लेकिन भगवान किसी के साथ पक्षपात नहीं करते । परन्तु जीव अपने अपने कर्मों के अनुसार सुख दुःख आदि पाते हैं । यद्यपि भगवान सब के प्रति समान भाव रखते हैं तथापि लोग भगवान के प्रति समान भाव नहीं रखते । कुछ लोग अच्छे काम करते हैं तो कुछ लोग बुरे काम करते हैं । उसी के अनुसार फल पाते हैं । यह प्राकृतिक नियम है । इसका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता । इससे स्पष्ट होता है कि जीवों के सुख दुःख आदि के जिम्मेदार भगवान नहीं, खुद जीव हैं । सूर्य की रोशनी है । वह मिट्टी पर उतनी तीव्रता से प्रसारित नहीं होती जितनी कि दर्पण में होती है । इसी तरह यद्यपि भगवान की कृपा सर्वत्र व्याप्त है तथापि जो भक्ति भाव से भगवान की सेवा करते हैं वे ही उन्हें अधिक स्वीकार करते हैं । समुंदर में हवा चलती है । पर उसके

अनुकूल जो पाल उडाते हैं, उन्हींकी नाव चलती है। भगवान की कृपा रूपी हवा सर्वत्र चलती है। परन्तु जो भक्त अपना हृदयरूपी पाल उडा कर उसे भगवानोन्मुखी बताते हैं, वे मोक्ष रूपी लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। सभी सुखों से महान् सुख परमात्मा की प्राप्ति से प्राप्त होता है। जो भक्त अनन्य भाव से परमात्मा की सेवा करते हैं, परमात्मा की आराधना करते हैं, वे उन्हें पा सकते हैं। यह बात इस श्लोक में बतायी गयी है। भगवान ने कहा कि जो भक्ति से मेरी आराधना करते हैं, वे मुझ में होते हैं, मैं उनमें होता हूँ।" वास्तव में भक्ति की महिमा अपार है। भगवत्प्राप्ति रूपी महोन्नत फल भक्ति भरे हृदय से भगवान की सेवा रूपी क्रिया के द्वारा भक्त पा सकता है।

'भजन्ति' शब्द के साथ 'भक्त्या' शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि सामान्य आराधना व सेवा काफी नहीं है। भक्ति से भरी आराधना व सेवा आवश्यक है। "मयिते तेषु चाप्यहम्" कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि ऐसे भक्त भगवान में वास करते हैं और भगवान ऐसे भक्तों में वास करते हैं। भगवान के निवास के कारण भक्त का शरीर देवमंदिर बन जाता है। वे देवता बन जाते हैं। जो भगवान में वास करते हैं, उनमें भगवान वास करते हैं। इसलिए किसीको चिंता करने की जरूरत नहीं है। यह कहने की भी जरूरत नहीं है कि मुझे दुःख हो रहा है। यह निश्चित है कि जहाँ भगवान रहते हैं, वहाँ सुख, ऐश्वर्य तथा विजय बसते हैं। अठारहवें अध्याय में कहा गया है --

"यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्धृवा नीतिर्मतिर्ममा॥ (१८-७८)

अतः जो जीव सुख चाहता है, उसे अनन्य भक्ति का आश्रय लेना चाहिए।

प्रश्न - जीवों के प्रति भगवान की दृष्टि कैसी होती है ?

उत्तर - समान होती है।

प्रश्न - जीवों में से कुछ को सुख क्यों होता है ? और कुछ को दुःख क्यों होता है ?

उत्तर - अपने अपने कर्मों के अनुसार वैसा होता है। जो भगवान में रहते हैं, उनमें भगवान रहते हैं। ऐसे लोगों को सुख होता है। बाकी को नहीं होता।

प्रश्न - भगवान की सेवा किस प्रकार करनी चाहिए ?

उत्तर - भक्ति से करनी चाहिए।

प्रश्न - भगवान किनके हृदय में विशेष रूप से वास करते हैं?

उत्तर - जो अनन्य भक्ति से भगवान का सेवन करते हैं, उनमें भगवान वास करते हैं।

३०. अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

शब्दार्थ - सुदुराचारिः अपि = अतिशय दुराचारी होने पर भी। अनन्य भाक् = अनन्य भक्ति से। माम् = मुझे। भजते चेत् = भजें तो। सः = वह। साधुः एव = सत्पुरुष। मन्तव्यः = मानने योग्य। हि = क्यों कि। सः = वह। सम्यक् = स्थिर। व्यवसितः = मनोनिश्चय पा चुका।

भावार्थ - यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभाव से मेरा भक्त होकर मुझ को भजता है, तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर के भजन के समान अन्य कुछ भी नहीं है।

व्याख्या - बहुत दुराचारी अपनी गूंडागर्दी को तिलांजलि देकर सदाचारी बन जाय और परमात्मा के ध्यान एवं स्मरण में अनन्यभाव से लग जाय तो वह उत्तम माना जा सकता है। पहले दुराचारी होने पर भी अब साधु माना जा सकता है। यहाँ 'दुराचारी' न कहकर 'सुदुराचारी' कहा गया। इसलिए स्पष्ट होता है कि महापापी भी अपना मन बदलकर परमात्मा में लीन हो

जाय, तो वह महापुण्यात्मा बन सकता है। उसने परम सत्य को जान लिया, सही मार्ग को अपनाया और उत्तम निर्णय पर आ गया, अतः वह सदाचारी ही माना जाएगा। उत्तम निश्चय यही है कि संसार में परमात्मा एक ही सत्य है। बाकी सब कुछ असत्य है। मिथ्या है। नश्वर है। इसलिए असत्य तथा नश्वर आत्मेतर वस्तु अर्थात् दृश्य पदार्थ त्यागकर सत्य एवं शाश्वत परमात्मा के आश्रय में जाना चाहिए।

"अनन्यभाक्" - जो परमात्मा को छोड अन्य किसी के आश्रय में नहीं जाता, जो निरंतर भगवान का ही आश्रय लेता है, उसका पाप क्षण भर में धुल जाता है और वह पुण्यात्मा बन जाता है। वाल्मीकि इसका उदाहरण है। एक गुफा में वर्षों से अंधेरा छाया हुआ है, वहाँ एक दियासलाई, जलावें तो तुरन्त गुफा में रोशनी फैलती है। इसी प्रकार परमात्मा के अनन्य भक्त का पूर्व पाप सारा भस्म हो जाता है और वह पुण्यात्मा बन जाता हैं। महापापी साधु बन जाता है। दुराचारी सदाचारी बन जाता है। राक्षस देवता बन जाता है। इसका मूल कारण भगवान की भक्ति ही है। सम्यक्-ज्ञान ही है। इस बात को गीताचार्य ने चौथे अध्याय में स्पष्ट भी किया। जैसे --

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानाप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ (४-३६)

इससे स्पष्ट होता है कि मनुष्य सदा निम्न स्तर पर नहीं रहेगा। निम्न स्तर पर ही रहे, ऐसी कामना करना भी उचित नहीं है। चाहें तो हर कोई उत्तम पद पा सकता है, वैसा करना आवश्यक एवं उत्तम विधान है।

"पापी भी पुण्यात्मा बन सकता है" इसका मतलब यह नहीं कि मनुष्य को पाप कर्म करना चाहिए, इसके बाद उसे बदलना चाहिए। अनजाने में पहले वह जो पाप कर्म करता है, उसे बाद को धो देना है एवं शुद्धात्मा बनना है। ऐसे वाक्यों से सामान्य जनों के हृदय में भगवान पर विश्वास पैदा होता है और सभी को उन्नति करने का मौका मिलता है।

दैवीमार्ग को सम्यक् मार्ग कहा गया। उस पर चलनेवाले को साधु कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि वह अधिक श्रेयोदायक है। अनुकरणीय है। अतः असम्यक् मार्ग को छोड कर सम्यक् मार्ग पर चलना चाहिए। यहाँ 'साधु' का मतलब जटाजूट एवं काषायांबरधारी नहीं है। साधु शब्द का अर्थ है, उत्तम। अर्थात् सन्मार्गी।

प्रश्न - बडा दुराचारी किस तरह सदाचारी बन सकता है ?

उत्तर - अनन्य भक्ति से परमात्मा की सेवा करे, तो दुराचारी भी सदाचारी बन सकता है।

प्रश्न - संसार में उत्तम निश्चय क्या है ?

उत्तर - भगवान को ही सत्य मान कर उसका आश्रय लेना ही उत्तम निश्चय है।

३१. क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

शब्दार्थ - (सः = वह) क्षिप्रम् = शीघ्र ही। धर्मात्मा = धर्मबुद्धिवाला। भवति = होता है। शश्वत् = शाश्वत। शान्तिम् = शांति। निगच्छति = पाता है। कौन्तेय = हे अर्जुन। मे = मेरे। भक्तः = भक्त। न प्रणस्यति (इति) = नष्ट नहीं होता (हीनगति नहीं पाता)। (ऐसी)। प्रतिजानीहि = प्रतिज्ञा करो।

भावार्थ - वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्ति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।

व्याख्या - पापी भी भगवान के आश्रय में जाय और उनका ध्यान करे, तो धर्मात्मा एवं पुण्यात्मा बनता है। शाश्वत शांति पाता है। क्षिप्रम् (शीघ्र) कहने से स्पष्ट होता है कि भगवान के आश्रय में जावें, तो तुरन्त शान्ति मिल जाएगी। दीप जलाते ही अन्धेरा दूर होता है। शंकाकुल साधकों को स्पष्ट बता दिया गया कि अनन्य भक्ति से भगवान का ध्यान करोगे, तो तुरन्त मोक्ष एवं शान्ति पा सकोगे।

यहाँ बताया गया कि भगवान की सेवा करने से भक्त को दो फल मिलते हैं। (१) वह धर्मात्मा बनेगा (२) शाश्वत शान्ति पाएगा। धर्मात्मा एवं सदाचारी बनेगा। जब तक दृश्य वस्तु पर विश्वास करते रहेंगे, तब तक शान्ति दूर होती जाएगी। भगवान का ध्यान करें, तो शान्ति अति समीप आएगी। इस श्लोक के दूसरे चरण में भगवान ने एक परम सत्य को प्रकट किया। उन्होंने कहा कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होगा, दुर्गति नहीं पाएगा। इस अष्टाक्षरी महामंत्र को निरंतर मुमुक्षु अपने स्मरण पटल में लिखकर रख लें, तो उनका बडा भला होगा। इस स्पष्टोक्ति से शंकालुओं की सभी शंकाओं का समाधान हो जाता है। यह बात पक्की हो जाती है कि जो भक्त भगवान पर विश्वास करेगा, वह सद्गति पाएगा। कल्पवृक्ष के आश्रय में जानेवालों की दुर्गति कैसे होगी ? गंगानदी के आश्रय में जानेवालों को प्यास क्यों कर लगेगी ?

"प्रतिजानीहि" -- (प्रतिज्ञा करो)। अर्जुन को इस प्रकार की आज्ञा दी गयी। इससे स्पष्ट होता है कि भगवान का कथन वास्तविक है। भगवान के ऐसे प्रतिज्ञाबद्ध वाक्यों पर मुमुक्षुओं को विश्वास करना चाहिए। अपने हृदय को तपानेवाली शंकाओं को दूर कर लेना चाहिए। सर्वेश्वर की इतोधिक सेवा करके अपने जीवन को सार्थक बना लेना चाहिए।

प्रश्न - भगवान के आश्रित पापी किस प्रकार का बनेगा ?

उत्तर - धर्मात्मा बनेगा।

प्रश्न - कितने समय में बनेगा ?

उत्तर - शीघ्र ही बनेगा।

प्रश्न - भगवान की आराधना से कौन सा फल मिलेगा ?

उत्तर - शाश्वत शान्ति मिलेगी।

प्रश्न - शाश्वत शान्ति की प्राप्ति का उपाय क्या है ?

उत्तर - अनन्य भक्ति से परमात्मा की सेवा करने से शाश्वत शान्ति प्राप्त होगी।

प्रश्न - भगवान के भक्त की क्या कभी दुर्गति होगी ?

उत्तर - कभी नहीं होगी। ढिंढोरा पीटकर यह बात कही जा सकती है कि भगवान के भक्त की कभी दुर्गति नहीं होगी।

सम्बन्ध - इस प्रकार सदाचारिता और दुराचारिता के कारण होनेवाली विषमता का अपने में अभाव दिखलाकर अब दो श्लोकों में भगवान अच्छी-बुरी जाति के कारण होनेवाली विषमता का अपने में अभाव दिखलाते हुए शरणागतिरूप भक्ति का महत्त्व प्रतिपादित करके अर्जुन को भजन करने की आज्ञा देते हैं -

३२. मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

शब्दार्थ - पार्थ = हे अर्जुन। ये = जो। पापयोनयः अपि = पापजन्मवाले। स्युः = होते हैं। ते अपि = वे। स्त्रियः = स्त्रियाँ। वैश्याः = वैश्य। तथा = वैसे ही। शूद्राः = शूद्र। माम् = मुझे। व्यपाश्रत्य = आश्रित होकर। पराम् गतिम् = सर्वोत्तम पद (मोक्ष)। यान्तिः = निश्चितरूप से पाते हैं।

भावार्थ - हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि - चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरी शरण होकर परमगति को ही प्राप्त होते हैं।

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि पापी भी भगवान के आश्रय में जावें, तो वे परमगति पाते हैं। यहाँ "पाप योनयः" शब्द के अर्थ का अन्वय स्त्री, वैश्य एवं शूद्रों के लिए करना उचित नहीं है। यह कहना उचित है कि पाप जन्मवाले और स्त्री, वैश्य एवं शूद्र परमात्मा के आश्रय में जाने से तर जाते हैं। श्रीधर एवं शङ्करानन्दगिरि आदि ने ऐसा ही अर्थ बताया। क्योंकि स्त्रियों को पाप जन्मवाली कहें, तो उनके गर्भ से पैदा होनेवाली संतान भी तो पाप जन्मवाली बनेगी। ऐसी हालत में संसार के सभी लोग पापजन्मवाले ही बनेंगे। यह असंगत है। इसलिए यह अर्थ समीचीन नहीं लगता। इसके

अलावा इस श्लोक के द्वारा बताया गया कि पुरुष की तरह स्त्री भी ब्रह्मविद्या पाने की अधिकारिणी है। वे भी परमार्थ के साधनों को अमल में लाकर मोक्ष पा सकती हैं। चाहें स्त्री हो या पुरुष, चाहे उच्च कुल का हो या नीच कुल का, जिस किसी भी धर्म का क्यों न हो, जैसे रोगी बनने पर सब दवा लेने के अधिकारी होते हैं, वैसे ही भव रोग को दूर करने केलिए ब्रह्मविद्यारूपी औषध आवश्यक है। यही वजह है कि भगवान ने इस श्लोक में स्त्री, वैश्य एवं शूद्र शब्दों का उल्लेख करके स्पष्ट बता दिया कि आध्यात्मिक क्षेत्र में लिंग एवं जात-पांत का भेद नहीं होता। ऐसी उदार एवं विशाल दृष्टि गीता की है। गीता संकुचित विचारों की नहीं है। योग्यता को वह प्रधानता देती है।

साफ दर्पण में मुख साफ दिखाई पडता है। उसे कोई भी साफ कर सकता है। उच्च कुल में पैदा होने पर भी अगर वह दर्पण साफ न करे, तो उसे मुख साफ दिखाई नहीं देगा। नीच कुल का व्यक्ति अगर दर्पण साफ करे, तो उसे भी मुख साफ दिखाई देगा। भगवान के आश्रित होकर तरनेवाले नीच कुलों के कई पुण्यात्मा हैं। जैसे - गुह, शबरी, गोपिकाएँ आदि। वैश्यों में 'समाधि' आदि। शूद्रों में संजय आदि। (समाधि नामक वैश्य भक्त का उल्लेख मार्कण्डेय पुराण (८१-९३) में तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण (६२-६३) में मिलता है।)

"परांगतिम्" - दैवीपद को सर्वोत्तम पद कहा गया। इससे निश्चित होता है कि संसार में अन्य सभी पदों से परमात्मा का पद सर्व श्रेष्ठ है। अत: क्षुद्र सांसारिक बन्धनों में न बंधकर भक्ति को अपनाकर सभी लोगों को शाश्वत परमात्मा के पद की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न - दैवी पद कैसा है ?

उत्तर - संसार के सभी पदों एवं स्थानों से दैवीपद श्रेष्ठ है।

प्रश्न - उसे कौन पा सकते हैं ?

उत्तर - भगवान के आश्रय में जाकर जो निर्मलभक्ति से ध्यान आदि करते हैं, वे दैवीपद पा सकते हैं।

प्रश्न - मोक्ष मार्ग में क्या जात पाँत, लिंग भेद तथा कुल संबंधी अंतर को मान्यता दी जाती है ?

उत्तर - नहीं। पाप जन्मवाले, स्त्री, वैश्य तथा शूद्र सब भगवान के आश्रय में जाकर मुक्ति पा सकते हैं।

३३. किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

शब्दार्थ - पुण्याः = पुण्यात्मा। ब्राह्मणाः = ब्राह्मण। तथा = और (वैसे ही)। भक्ताः = भक्त। राजर्षयः = राजर्षि। पुनः किम् = फिर कहने की जरूरत क्या है ? अनित्यम् = अनित्य। असुखम् = असुखी। इमम् = इस। लोकम् = लोक को। प्राप्य = पाकर। माम् = मुझे। भजस्व = भजो।

भावार्थ - फिर इसमें तो कहना ही क्या है, पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन मेरी शरण होकर परम गति को प्राप्त होते हैं। इसलिए तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य शरीर को प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।

व्याख्या - भगवान कहते हैं कि जब बडे बडे पापी ही परमात्मा का सेवन कर मुक्ति पा रहे हैं, तो पुण्यात्माओं और भक्तों के बारे में कहने की जरूरत ही नहीं। जब स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र भी परमात्मा के सेवन से मुक्ति पा रहे हैं, तो ब्राह्मण और क्षत्रियों के बारे में कहने की आवश्यकता ही क्या है ? "पुण्याः, भक्ताः" कहा गया। इन दो शब्दों से स्पष्ट होता है कि जो पुण्य एवं भक्ति अर्जित करते हैं, वे ऐसी स्थिति पाते हैं। जो पुण्य और भक्ति से युक्त नहीं होते, वे उच्च कुल के होने पर भी ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकते।

"राजर्षयः" - इसका अर्थ है ऋषित्व प्राप्त करनेवाले राजा। जब राजकाज संबंधी अनेक कार्यों में लगे रहनेवाले राजा महाराजा भी ऋषित्व प्राप्त कर सकते हैं, तो सामान्य लोगों के बारे में कहने की जरूरत ही नहीं है। ऋषित्व अभ्यास के द्वारा हर साधक प्राप्त कर सकता है।

"अनित्यमसुखं लोकं" - भगवान ने इस लोक को अनित्य एव सुखरहित कहा है। इस वाक्य का अच्छी तरह स्मरण करना चाहिए। जीवन क्षणभंगुर है। शरीर आदि हर हमेशा गिर जाने को तैयार रहते हैं। घर कभी भी मिट्टी में मिल जाता है। इसी प्रकार यह संसार और यह शरीर पंचभूतों में मिल जाते हैं। इसीलिए कहा गया कि यह जगत् अनित्य है, शरीर आदि अनित्य हैं। इसलिए उनके द्वारा आवश्यक पारमार्थिक कार्य जल्दी कर लेना चाहिए। नौका जब ठीक रहेगी, तभी उसके द्वारा समुंदर को पार करना चाहिए। जो इस संसार, शरीर एवं भोग विलास को शाश्वत मानकर घमंड करते हैं, उन्हें समझाने केलिए ही लगता है कि भगवान ने इन सब को नश्वर कहा है। भगवान ने इस संसार को 'असुखम' (सुखरहित) भी कहा है। (आमतौर पर जब मनुष्य मौत एवं नाश की बात सुनता है, तभी भवसागर को पार करने के बारे में सोचने लगता है) इसीलिए भगवान ने इन सब को अनित्य कहकर लोगों को सचेत किया है।

वास्तव में दृश्य वस्तुओं में कोई सुख नहीं है। क्षणिक एवं नश्वर पदार्थों से सुख कैसे मिलेगा ? इसीलिए भगवान ने इन्हें अनित्य एव सुखरहित कहा। अब प्रश्न उठता है कि इनसे छुटकारा कैसे पावें ? उसका जवाब भगवान ने यहाँ दिया। कहा कि "भजस्व माम्" अर्थात् मुझे भजो। भवरोग से मुक्ति पाने केलिए यही दिव्य औषध है। अनित्यता से छुटकारा पाने के लिए नित्य का आश्रय लेना चाहिए। असुख से मुक्त होने के लिए शाश्वत सुख का आश्रय लेना चाहिए। वह सुखदायक वस्तु आत्मा ही है। परब्रह्म है। ईश्वर है। उसीका भजन कर जीव को कृतार्थ होना चाहिए। इस प्रकार रोग और औषध दोनों का विवरण भगवान श्रीकृष्ण ने इस श्लोक के द्वारा प्रस्तुत किया।

प्रश्न - भगवान की प्राप्ति के लिए आवश्यक वस्तु क्या हैं ?

उत्तर - (१) पुण्य (२) भक्ति। ये आवश्यक हैं।

प्रश्न - यह संसार कैसा है ?

उत्तर - (१) अनित्य है (२) सुख रहित है।

प्रश्न - जनन मरण रूपी भवबंधन से छूटने के लिए उपाय क्या हैं ?

उत्तर - भगवान को भजना ही एक मात्र उपाय है।

सम्बन्ध - पिछले श्लोंकों में भगवान ने अपने भजन का महत्त्व दिखलाया और अन्त में अर्जुन को भजन करने केलिए कहा। अत एव अब भगवान अपने भजन का अर्थात् शरणागति का प्रकार बतलाते हुए अध्याय की समाप्ति करते हैं --

३४. मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायण: ॥

शब्दार्थ - मन्मना: = मेरे में मनवाला। मद्भक्त: = मेरे भक्त। मद्याजी = मेरा पूजन करनेवाला। भव = होओ। माम् = मुझ ही को। नमस्कुरु = नमस्कार करो। एवम् = इस रीति से। आत्मानम् = मन को। युक्त्वा = मुझ में ही स्थित कर। मत्परायण: = मेरे परायण होकर। माम् एव = मुझ को ही। एष्यसि = पा सकते हो।

भावार्थ - मुझ में मनवाला हो, मेरा भक्त बन; मेरा पूजन करनेवाला हो मुझ को प्रणाम कर। इस प्रकार आत्मा को मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा।

व्याख्या - साधन न हो, तो साध्य की प्राप्ति संभव नहीं। इस श्लोक में ब्रह्माभ्यास का विवरण अच्छी तरह दिया गया है। ब्रह्म एवं देव को पाने का मार्ग बताया गया है। "तच्चिन्तनं तत्कथन मन्योन्यं तत्प्रभाषणम्" के अनुसार हमेशा परमात्मा का चिन्तन करना चाहिए। उसीके बारे में बोलना चाहिए। उसीके बारे में आपस में बात करनी चाहिए। इन क्रियाओं के द्वारा साधक शीघ्र ही परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। इस अभ्यास का विवरण इस

श्लोक में दिया गया है। जो निरंतर भगवान में लीन रहेगा, वह लक्ष्य को आसानी से पा सकेगा। आमतौर पर लोगों का मन दृश्य जगत् में लगा रहता है। उसे वहाँ से हटाकर परमात्मा में लगाना चाहिए। इसके लिए भक्ति अत्यंत आवश्यक है। किसी वस्तु के प्रति प्रीति, भक्ति, श्रद्धा एवं विश्वास की भावना जब होती है, तब उस वस्तु में मन लीन होता है। परमात्मा के प्रति इन्हीं गुणों की आवश्यकता होती है। तभी मन परमात्मा पर केन्द्रित होगा। उसीकी आराधना करेगा। उसीको नमस्कार करेगा। 'यद्भावं तद्भवति' कहा गया। जिसके बारे में निरंतर चिन्तन करते रहेंगे, उसी रूप को लोग ग्रहण करेंगे। अत: मन को चाहिए कि वह निरंतर परमात्मा का चिन्तन करता रहे, ध्यान करता रहे, उसी में लीन रहे। तब वह परमात्मा का रूप धारण करेगा। वही जीव एवं ब्रह्म का मिलन है। "मामे वैष्यसि" का अर्थ यही है। यह स्थिति ऊपर उल्लिखित अभ्यास से ही प्राप्त होती है। अत: साधक को चाहिए कि वह अपना मन दैवोन्मुखी तथा आत्मोन्मुखी बनावे। अगर कोई पूछे कि मैं भगवान को कैसे पा सकता हूँ, तो उससे निम्नलिखित प्रश्न पूंछना चाहिए। (१) तुम्हारा मन किस पर केन्द्रित हो रहा है ? दृश्य जगत् पर या परमात्मा पर ?

(२) तुम्हारी भक्ति किसके प्रति लगी हुयी है ?

(३) किसकी आराधना करते हो? नश्वर विषयों की या शाश्वत ईश्वर की ?

(४) तुम किसको नमस्कार करते हो? नामरूप को या परमात्मा को ?

(५) किसके परायण हो ? शब्द आदि विषयों के या हृदय में स्थित आत्मा के ?

इन प्रश्नों का वह जो जवाब देगा, उस पर ध्यान देना चाहिए। अगर मालूम हो कि वह दृश्य जगत् पर ही आसक्त है, तो उसे वहाँ से हटाकर दैवोन्मुखी बनाना चाहिए। कह देना चाहिए कि वही दैव की तथा मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग है।

प्रश्न :- जीव भगवान को कैसे पा सकता है ? भगवान की प्राप्ति के लिए किन साधनों का अवलंबन करना चाहिए ?

उत्तर - (१) मन को परमात्मा में लगा रखना चाहिए। (२) परमात्मा के प्रति भक्ति रखनी चाहिए। (३) परमात्मा की ही आराधना करनी चाहिए। (४) परमात्मा को ही नमस्कार करना चाहिए। इस प्रकार सदा जीव को दैव परायण होकर रहना चाहिए।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः।

यह उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित, ब्रह्म विद्या, योगशास्त्र, श्रीकृष्णार्जुन संवादरूपी श्रीभगवद्गीता का राज विद्या राजगुह्य योग नामक नौवाँ अध्याय है।

-- ॐ तत् सत् --

ॐ

श्री भगवद्गीता

अथ दशमोऽध्यायः

दसवाँ अध्याय

विभूति योगः

विभूति योग

इस अध्याय का शीर्षक

विभूति योग - विभूति का अर्थ है ऐश्वर्य। महिमातिशयो यह चराचर सारा जग भगवान का व्यक्त स्वरूप है। अतः उनका ही यह ऐश्वर्य है। यह सब उनकी महिमा का ही विस्तार है। भगवान की ही विभूति रूपी इस संसार में जिन जिन पदार्थों तथा व्यक्तियों में भगवान अभिव्यक्त हुए, उनका इस अध्याय में वर्णन किया गया। इसीलिए इस अध्याय का नाम 'विभूति योग' रखा गया।

इस अध्याय के प्रधान विषय

१. भगवान की विभूति एवं योग शक्तियों का वर्णन और उनकी जानकारी से होनेवाले फल - (श्लोक १ से श्लोक ७ तक)

२. फल एवं प्रभाव सहित भक्तियोग का निरूपण - (श्लोक ८ से श्लोक ११ तक)

३. अर्जुन के द्वारा भगवान की स्तुति, स्वकीय विभूति एवं योगशक्ति की महिमा के बारे में बताने की उनसे प्रार्थना - (श्लोक १२ से श्लोक १८ तक)

४. भगवान के द्वारा विभूति का वर्णन - (श्लोक १९ से श्लोक ४२ तक)

सम्बन्ध- सातवें अध्याय से लेकर नवें अध्याय तक विज्ञानसहित ज्ञान का जो वर्णन किया गया, उसके बहुत गम्भीर हो जाने के कारण अब पुनः उसी विषय को दूसरे प्रकार से भलीभाँति समझाने के लिये दसवें अध्याय का आरम्भ किया जाता है। यहाँ पहले श्लोक में भगवान् पूर्वोक्त विषय का ही पुनः वर्णन करने की प्रतिज्ञा करते हैं १

श्री भगवानुवाच

१. भूय एव महाबाहो श्रृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥

शब्दार्थ - श्री भगवानुवाच = श्री भगवान बोले। महाबाहो = बडी भुजाओंवाले हे अर्जुन। प्रीयमाणाय = (मेरी बातों से) प्रसन्न। ते = तेरे लिए। हितकाम्यया = हित करने की इच्छा से। भूयः एव = फिर। यत् = जो। परमम् = श्रेष्ठ। वचः = वाक्य। अहम् = मैं। वक्ष्यामि = बताने जा रहा हूँ। मे = मेरे। (तत् वचः = वह वाक्य)। श्रुणु = सुनो।

भावार्थ - श्री भगवान् बोले - हे महाबाहो ! फिर भी मेरे परम रहस्य और प्रभाव युक्त वचन को सुन, जिसे मैं तुझ अतिशय प्रेम रखनेवाले के लिये हित की इच्छा से कहूँगा।

व्याख्या - गुरु के वाक्य जब शिष्य बडी प्रीति एवं श्रद्धा से सुनने लगता है, तब गुरु के हृदय में उत्साह पैदा होता है। और भी ज्ञान का बोध गुरु कराने लगता है। अतः श्रद्धा की बडी आवश्यकता है। अश्रद्धा के साथ सुनना, न सुनना दोनों बराबर हैं। अर्जुन बडी श्रद्धा के साथ गीतोपदेश का श्रवण करते हुए मानों अमृत का पान कर रहे थे। इसीलिए 'प्रीयमाणाय' (प्रीति पारहे हैं) कहा गया। श्रीकृष्ण के गीतोपदेश सुनकर अर्जुन के मन की व्यथा दूर हो रही थी। अतः वे और भी चाव से सुनने लगे। इससे श्रीकृष्ण का उत्साह

बढा। फलतः अर्जुन को और भी उत्साह से तत्व सुनाने में श्रीकृष्ण लीन हुए। इसीलिए "भूयः" (फिर से) कहा गया। पारमार्थिक विद्या का श्रवण करते हुए, उसका मनन कर, उस पर ध्यान देने से वह अच्छी तरह जीर्ण होगा। श्रीकृष्ण भगवान के फिर से सुनाने का यह भी एक कारण रहा होगा।

"हित काम्यया" - श्रद्धालु शिष्य को हित का बोध गुरु और कराना चाहते हैं। सब से बडा हित बन्ध मुक्ति ही है। आध्यात्मिक ज्ञान के बोध से मुक्ति प्राप्त होती है। इसीलिए अर्जुन का हित करने की दृष्टि से भगवान श्रीकृष्ण तत्व का बोध कराने लगे।

"परमं वचः" - इससे स्पष्ट होता है कि श्रीकृष्ण के वचन सामान्य नहीं हैं। हृदय में जमे मोह के अन्धकार को दूर करनेवाले हैं।विज्ञ व्यक्ति को ऐसे ज्ञान के उपदेश सुनकर अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहिए।

प्रश्न – श्रीकृष्ण के वचन कैसे हैं ?

उत्तर - सर्वश्रेष्ठ हैं।

प्रश्न – श्रीकृष्ण अर्जुन को फिर से ज्ञानबोध क्यों कराने लगे?

उत्तर– परमात्मा के वचनों के प्रति अर्जुनने बडी श्रद्धा दिखायी। इसीलिए उनका हित करने के लिए वे बोध कराने लगे।

प्रश्न – संसार में सबसे हितैषी कार्य क्या है ?

उत्तर - पारमार्थिक विद्या का वितरण महान् कार्य है।

२. न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥

शब्दार्थ - मे = मेरी। प्रभवम् = उत्पत्ति। सुरगणाः = देवता समूह। न विदुः= नहीं जानते। महर्षयः = महर्षि भी। न (विदुः) = नहीं जानते।

अहम्= मैं। देवानाम् = देवताओं को। महर्षीणां च = महर्षियों को। सर्वशः= सब विधियों से। आदिः हि = आदि कारण हैं।

भावार्थ - हे अर्जुन! मेरी उत्पत्ति को अर्थात् विभूतिसहित लीला से प्रकट होने को, न देवता लोग जानते हैं और महर्षिजन ही जानते हैं। क्योंकि मैं सब प्रकार से देवताओं का और महर्षियों को भी आदि कारण हूँ।

व्याख्या - परमात्मा सनातन हैं। देवता, महर्षि एवं समस्त भूतों के मूल पुरुष हैं। अनादि पुरुष हैं। इसीलिए उस परमात्मा के जन्म एवं उनकी महिमा को वे समझ नही पा रहे हैं। सब भूतों के प्रतिनिधियों के रूप में श्रीकृष्णने देवता तथा महर्षियों का उल्लेख किया। देवता और महर्षि ही जब परमात्मा की महत्ता एवं उत्पत्ति के बारे में समझ नहीं पाते, तो सामान्य जनों के बारे में क्या कहा जाय! परिच्छिन्न मानवबुद्धि से अपरिच्छिन्न परमात्मा की महिमा एवं उत्पत्ति की विशेषताओं का अन्दाजा लगाना मुश्किल है। महर्षि ही उनका पता पा नहीं सके, तो सामान्य मानव कैसे पा सकेंगे ? अतः जीव का कर्तव्य है कि उस परमात्मा में (ध्यान आदि के द्वारा) अपना मन लीन करके तद्रूप धारण करने का प्रयत्न करे।

प्रश्न - भगवान कैसा है ?

उत्तर - आदिपुरुष हैं। देवता, महर्षि तथा समस्त भूतकोटि का भी मूलपुरुष हैं।

प्रश्न - जीवों को क्या करना है ?

उत्तर - जीवों को चाहिए कि वे भक्ति के साथ भगवान में अपना मन लीन करें।

३. *यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।*
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते।

शब्दार्थ - यः = जो । माम् = मुझे । अजम = अजन्मा । अनादिम् च = अनादि । लोक महेश्वरम् = सब लोकों का नियामक । वेत्ति = जानते हैं । सः= वह । मर्त्येषु = मनुष्यों में । असम्मूढः = ज्ञानवान । सर्वपापैः = सम्पूर्ण पापों से । प्रमुच्यते = मुक्त होता है ।

भावार्थ - जो मुझको अजन्मा अर्थात् वास्तव में जन्मरहित, अनादि और लोकों का महान् ईश्वर तत्त्व से जानता है, वह मनुष्यों में ज्ञानवान् पुरुष सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है ।

व्याख्या - समस्त जीवराशि में मानव श्रेष्ठ है । उन मानवों में ज्ञानी श्रेष्ठ है । भगवान का तत्व अच्छी तरह जाननेवाला श्रेष्ठ है । भगवान के तत्व को जानने से उसके सब पाप दूर होते हैं । संसार की सब चीजें नश्वर हैं । लेकिन परमात्मा अजन्मा है । अनादिरूप है । अतः जीवों को नश्वर चीजें छोडकर शाश्वत परमात्मा के आश्रय में जाना चाहिए । उनका यथार्थ स्वरूप जानना, भक्त के साथ अनन्यभाव से भगवान का साक्षात्कार करना आवश्यक है । दैवीतत्व जाननेवाला, असत्य छोडकर सत्य के आश्रय में जानेवाला, अन्धकार त्यागकर प्रकाश में जानेवाला मनुष्यों में परम श्रेष्ठ माना जाता है । धनी एवं बलवान मनुष्य श्रेष्ठ नहीं बन सकता । क्योंकि वह माया का वशवर्ती बना रहता है । माया का वशवर्ती चाहे जितना भी धनी एवं शक्तिशाली क्यों न हो, अल्प ही बना रहता है । भगवान कहते हैं कि "असम्मूढः स मर्त्येषु" भगवान का तत्व जानकर मूढता को दूर करनेवाला ही मनुष्यों में श्रेष्ठ है । इससे स्पष्ट होता है कि भगवान की दृष्टि में श्रेष्ठ कौन हैं? गीताचार्यने यहाँ कहा कि जो भगवान के बारे में जानता है कि वह जन्म रहित है, अनादिरूप है, वही श्रेष्ठ है ।

जीव जन्म जन्म के पापों से घिरे रहते हैं । वे पाप कैसै दूर होंगे ? किन उपायों से वे दूर होंगे ? भगवानने उन उपायों का स्पष्टीकरण यहाँ किया ।

दैवीतत्व को अच्छी तरह जानना चाहिए। इससे भक्ति बढेगी। भक्ति से भगवान का ध्यान बढेगा। इससे पापों का नाश होगा। मोक्ष मिलेगा।

प्रश्न - मनुष्यों में विवेकवान कौन हैं ? बडा कौन हैं ?

उत्तर - जो जानता है कि भगवान (१) जन्मरहित है (२) अनादिरूप है (३) सब लोकों में महेश्वर हैं, वह विवेकवान है। बडा है।

प्रश्न - श्रेष्ठता पाने केलिए (मनुजों में) क्या करना चाहिए?

उत्तर - भगवान का यथार्थ स्वरूप जानना चाहिए।

प्रश्न - सब पापों से मुक्त होने का उपाय क्या है ?

उत्तर - भगवान का तत्व जानना ही उपाय है।

४. *बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।*
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥

५. *अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः*
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥

शब्दार्थ - बुद्धिः = बुद्धि। ज्ञानम् = ज्ञान। असम्मोहः = मोहराहित्य। क्षमा = क्षमा। सत्यम् = सत्य। दमः = बाह्येन्द्रियों को वश में करना। शमः = अन्तरेन्द्रियों का निग्रह। सुखम् = सुख। दुःखम् = दुःख। भवः = जन्म। अभावः = नाश। भयं च = भय। अभयम् एव च = भय राहित्य। अहिंसा = अहिंसा। समता = समता। तुष्टिः = संतुष्टि। तपः = तप। दानम् = दान। यशः = यश। अयशः = अपकीर्ति। भूतानाम् = प्राणियों का। पृथग्विधाः = नानाविध। भावाः = गुण। मत्तः एव = मेरी तरह। भवन्ति = होते हैं।

भावार्थ - निश्चय करने की शक्ति, यथार्थ ज्ञान, असम्मूढता, क्षमा, सत्य, इन्द्रियों का वश में करना, मन का निग्रह तथा सुख-दुखः, उत्पत्ति-प्रलय और भय-अभय तथा अहिंसा, समता, सन्तोष, तप,दान, कीर्ति और

अपकीर्ति - ऐसे ये प्राणियों के नाना प्रकार के भाव मुझसे ही होते हैं।

व्याख्या - इन दो श्लोकों में बुद्धि, ज्ञान आदि १६ अनुकूल गुण तथा दुःख, नाश, भय एवं अपयश नामक ४ प्रतिकूल गुण बताये गये हैं। यह भी बताया गया कि ये सब भगवान के कारण ही प्राप्त हो रहे हैं। इसका अर्थ क्या है ? वास्तव में भगवान दुष्ट भाव जीवों में पैदा नहीं करते। जीवों के उन उन कर्मों का फल देनेवाला ईश्वर है। ईश्वर कर्मों के फलों का प्रदाता है। जीव कर्मों के कर्ता हैं। कुछ जीवों को यश मिलता है, तो कुछ जीवों को अपयश मिलता है। कुछ को सुख मिलता है, तो कुछ को दुःख मिलता है। उन उनके कर्मो के अनुसार ये फल मिलते हैं। ईश्वर निमित्त मात्र है। दुष्कर्म करनेवालों को दुःख मिलता है। सत्कर्म करनेवालों को सुख मिलता है। यह सब भगवान की नियति के कारण ही होता है।

उपर्युक्त विकार सब मन में पैदा होते हैं। मन स्वतः जड है। उसका आधार चेतनामय आत्मा है। चुंबक के पास रहने से जिस प्रकार सुई चलित होती है, इसी प्रकार चेतनामय आत्मा के पास रहने से मन चलित होता है। इस प्रकार मन एवं तद्गत विकारों का आधार परमात्मा ही है। अतः यहाँ कहा गया कि वे सब परमात्मा के कारण ही उद्भूत होते हैं। उनके कर्तृत्व तथा प्रेरकत्व आत्मा में नहीं हैं। (जिस प्रकार सूर्य का कर्तृत्व जगत् की क्रियाओं में नहीं होता, जिस प्रकार नाटकत्व का कर्तृत्व नाटककार का नहीं होता, उसी प्रकार मन तथा तद्गत विकारों का कर्तृत्व परमात्मा का नहीं होता।)

६. *महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।*

मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥

शब्दार्थ - लोके = लोक में। इमाः प्रजाः = ये लोग। येषाम् = जिसकी (संतान हैं उस) पूर्वे = पूर्व के। महर्षयः = महर्षि। सप्त = सातों। तथा = वैसे ही। चत्वारः = सनकादि चार देवर्षि। मानवः = मनु। (चौदह)। मद्भावाः= मेरे भाववाले होकर। मानसाजाताः = मेरे मनः संकल्प से ही पैदा हुए।

भावार्थ - सात महर्षिजन. चार उनसे भी पूर्व के सनकादि तथा स्वायम्भुव आदि चौदह मनु - ये मुझमें भाववाले सब-के-सब मेरे संकल्प से उत्पन्न हुए हैं, जिनकी संसार में यह सम्पूर्ण प्रजा है।

व्याख्या -

सप्तर्षि	- ७
सनकादि	- ४
मनु	- १४

ये सब पुराने हैं। भगवान के संकल्प से ये पैदा हुए। इन्हींसे संसार के सब लोग पैदा हुए। मतलब यह कि ये मूल पुरुष हैं। ये सब भगवद्भाव से भरे हुए हैं। इस श्लोक के द्वारा निम्नलिखित रहस्यों का पता लगता है।

१. भगवान अपार शक्ति से संपन्न हैं। संकल्पबल से लोकों तथा लोगों का सृजन कर सकते हैं। इस बात का पता "मानसा जाताः" वाक्य से लगता है। उपर्युक्त सप्तर्षि आदि का सृजन भगवान ने अपने संकल्पबल से किया। ऐसे सर्वशक्तिवान के समक्ष हाथ जोडना एवं भक्तिभाव से युक्त रहना हर जीव का कर्तव्य है।

२. ऊपर उल्लिखित महर्षि आदि सब सामान्य जन नहीं हैं। भगवान के भावों से विलसित हैं। निर्मल दैवभक्ति से संपन्न हैं। इसीलिए उनके बारे में "मद्भावाः" कहा गया। अर्थात् निरंतर दैवी भावों एवं आत्मज्ञान से संपन्न हैं। यहाँ बताया गया कि उन महानुभावों से ही ये सब लोग पैदा हुए। ऐसे महर्षियों से उत्पन्न लोग भगवान की भावना से क्यों रहित हैं ? यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि वास्तव में महर्षियों की संतान को भी उन्हींकी तरह भगवान की भावना से विलसित रहना चाहिए। परन्तु इनका भगवान की भावना से रहित होना तो हास्यास्पद बात है। इसलिए लोगों को चाहिए कि वे अपने पूर्व पुरुषों का स्मरण करें और दैवी उत्तेजना प्राप्त करें। ब्राह्मण संध्यावंदन करके अंत में अपने गोत्र एवं अपने मूल पुरुषों का स्मरण करते हैं। इसका मतलब है कि अपने महान् पूर्व पुरुषों की तरह ये भी ज्ञान के

प्रभाव से पुण्यात्मा बनें। यद्यपि उनके पूर्वपुरुषों में बडे बडे अधिकारी तथा धनी होते हैं, तथापि उनका स्मरण नहीं किया जाता। केवल महर्षियों का ही स्मरण किया जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि सांसारिक धन एवं पद आदि से ज्ञान ही महान् है। श्रेष्ठ है। वही मनुष्य को भवसागर के उस पार पहुँचाता है।

३. यहाँ बताया गया कि सभी लोगों के मूल पुरुष सप्तर्षि हैं। ये लोग महान् ऋषियों के वंशज हैं। अतः किसी को यह सोचकर शर्मिन्दा नहीं होना चाहिए कि हम छोटे हैं। हम निर्बल हैं। वास्तव में सब के सब महान ही हैं। सबको समझना चाहिए कि उन पावन ऋषियों का रक्त ही हमारी धमनियों में प्रवाहित हो रहा है। पूर्वजों के ज्ञान धन तथा दैवी विरासत का उपयोग सभी को करना चाहिए। वह किसी एक की संपत्ति नहीं है। उस पर सब का अधिकार है। चंडाल भी अवश्यक यत्न करे, तो वह भू संपत्ति को पा सकता है। शायद यही कराण है कि भगवान श्रीकृष्ण ने यहाँ लोगों के वंश की विशेषताओं का वर्णन किया। भगवान ने यहाँ ढोल बजाकर घोषणा कर दी कि सभी जीव अपने पूर्व पुरुष महर्षियों की दैवी संपत्ति के वारिस हैं। इसलिए कोई भी हमसे पूछे कि तुम्हारे पूर्वज कौन हैं, तो तुरन्त जवाब देना चाहिए कि हमारे पूर्वज सप्तर्षि, सनकादि एवं मनु हैं। अपने को अल्प समझनेवाला सदा अल्प ही बना रहता है। अपने को पवित्र एवं ऋषियों का वारिस माननेवाला शुद्ध बनता है। अतः सब को चाहिए कि वे अपने महान् पूर्व पुरुषों का पावन स्मरण करें, भगवान के निर्मल भक्त बनें और सांसारिक बन्धनों से मुक्त होवें।

यहाँ बताये गये पूर्वपुरुषों में सनकादि महापुरुष निवृत्तिमार्ग के और मन्वादि महापुरुष प्रवृत्तिमार्ग के प्रवर्तक रहे। सनकादि महापुरुष गुरुपरंपरा के मूल पुरुष हैं। वे मूल पुरुष भी भगवान के ही मानस पुत्र हैं। अतः स्पष्ट है कि सब लोग भगवान की ही संतान हैं। सनकादि ४ मूलपुरुष नैष्ठिक ब्रह्मचारी

थे। अतः यह कहना कि उनसे पैदा हुए, ठीक नहीं लगता। उनके शिष्य कहना उचित होगा।

प्रश्न - इस संसार के सब लोग किनसे पैदा हुए ?

उत्तर - (१) सप्तमहर्षि (२) सनकादि (३) मनु से पैदा हुए।

प्रश्न - वे महानुभाव कैसे थे?

उत्तर - निरंतर भगवान की भावना से विलसित थे।

प्रश्न - वे मूल पुरुष कैसै पैदा हुए ?

उत्तर - भगवान के संकल्प से पैदा हुए।

७. एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥

शब्दार्थ - मम = मेरे। ताम् = इस। विभूतिम् = ऐश्वर्य को। योगम् च = योग को। तत्वतः = यथार्थ रूप से। यः = जो। वेत्ति = जानता है। सः = वह। अविकम्पेन = अविचलित। योगेन = योग से। युज्यते = युक्त होता है। अत्र= इस विषय में। संशयः = सन्देह। न = नहीं है।

भावार्थ - जो पुरुष मेरी इस परमैश्वर्यरूप और योगशक्ति को तत्त्व से जानता है, वह निश्चल भक्तियोग से युक्त हो जाता है। इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

व्याख्या - भगवान की विभूति को जो वास्तविक रूप से जानेगा, जो यह जानेगा कि समस्त जगत् भगवान से ही उद्भूत है, वह निश्चल योग से युक्त रहेगा। यहाँ बताया गया कि भगवान एक ही सत्य है। उसीसे जगत् आदि सब का जन्म हुआ। यही वास्तविक ज्ञान है। यह रहस्य जाननेवाला अव्ययरूपी परमात्मा में निश्चल ध्यानयोग से स्थिर रहेगा। "अविकम्पेन" कहा गया। इससे स्पष्ट है कि ऐसे ज्ञानी का ध्यान, स्मरण, चिन्तन एवं मनन विचलित होनेवाला नहीं है। अतः मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे भगवान के वचनों पर विश्वास रखें। निश्चल ध्यान निष्ठा में लीन हों, भगवान की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करें। "यः = जो" कहा गया। इससे स्पष्ट है कि जात-पांत,

ऊंच - नीच तथा वर्ग-वर्ण के भेद के बिना हर कोई भगवान की प्राप्ति का प्रयत्न कर सकता है।

प्रश्न - दैव सम्बन्धी निश्चल योग की प्राप्ति किसे होती है ?

उत्तर - जो भगवान की विभूति को वास्तविक रूप से जानता है, उसे निश्चल योग की प्राप्ति होती है।

८. अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥

शब्दार्थ - अहम् = मैं। सर्वस्य = समस्त का। प्रभवः = उत्पत्ति का करण हूँ। मत्तः = मुझसे। सर्वम् = समस्त। प्रवर्तते = प्रवर्तित है। इति = ऐसा। मत्वा = जानकर। बुधाः = बुद्धिमान्। भाव समन्विता : = भक्ति भाव से युक्त होकर। माम् = मुझे। भजन्ते = भजते हैं।

भावार्थ - मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण हूँ और मुझसे सब जगत् चेष्टा करता है - इस प्रकार समझकर श्रद्धा और भक्ति से युक्त बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वर को ही निरन्तर भजते हैं।

व्याख्या - भगवान का ध्यान करनेवाले, सेवन करनेवाले, उनके नाम का जप करनेवाले बहुत हैं। परन्तु "भावना" से अर्थात् निर्मल भक्ति एवं श्रद्धा से वह कार्य करनेवाले कम हैं। प्रश्न उठता है कि ऐसी भक्ति एवं श्रद्धा भगवान के प्रति कैसे पैदा होगी ? किसी एक वस्तु की महत्ता तथा विशेषता जब मनुष्य को मालूम होती है, तब उस वस्तु के प्रति उसके दिल में श्रद्धा पैदा होती है। भगवान सृष्टि का मूलाधार है। उसीसे सारी सृष्टि चलती है। यह बात जो अच्छी तरह जानता है, उसके हृदय में भगवान के प्रति अपार विश्वास पैदा होता है। तब वह निर्मल भक्तिभाव से भगवान के ध्यान में लीन होता है। "भाव समन्विताः" का यही अर्थ है। जो भगवान की विभूति एवं भगवान के तत्व को अच्छी तरह जानता है, वह भगवान पर अपार श्रद्धा एवं भक्ति रखता है। इसीलिए वे अचिर काल में भावसमन्वित होकर अर्थात् श्रद्धा एवं भक्ति से युक्त होकर भगवान को प्राप्त होते हैं।

इस श्लोक में 'भाव' के बारे में बताया गया। वह लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अत्यावश्यक है। वह बन्दूक की गोली जैसी है। गोली के बिना बन्दूक चलावें, तो आवाज तो होती हैं, पर गोली नहीं चलती। लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। इस तरह जप, ध्यान तथा मंत्रजप में मंत्र के उच्चारण के साथ साथ मंत्रार्थ का चिंतन भी होना चाहिए। वह भी श्रद्धा से युक्त होना चाहिए।

अतः "भावसमन्विताः" शब्द के प्रयोग पर मुमुक्षुओं को आवश्यक ध्यान देना चाहिए। इसके अभाव में कइयों का ध्यान सफल नहीं हो रहा है। भाव तभी पैदा होगा, जब भक्ति पैदा होगी। भक्ति तभी पैदा होगी, जब भक्त को ज्ञात हो कि दैवी तत्व की महत्ता महान् है। दैवीतत्व बडा प्रभावशाली है। ये सब रहस्य इस श्लोक में बताये गये हैं।

प्रश्न – इस समस्त जगत् की उत्पत्ति का कारण कौन है ? किस के कारण समस्त जगत प्रवर्तित है?

उत्तर – परमात्मा ही कारण है। उसी के कारण समस्त जगत् का संचालन हो रहा है।

प्रश्न – भगवान का ध्यान किस प्रकार करना चाहिए ? सेवन किस प्रकार करना चाहिए ?

उत्तर – भक्ति भावना तथा श्रद्धा से करना चाहिए।

प्रश्न – ऐसी श्रद्धा एवं भक्ति जीव में कैसे पैदा होगी ?

उत्तर – भगवान का तत्व एवं भगवान की विभूति अच्छी तरह जान लें, तो भक्ति और श्रद्धा पैदा होगी। जीव जब जानेगा कि समस्त जगत् का मूल कारण भगवान है, उसी के कारण जगत् का संचालन हो रहा है तब जीव भक्ति और श्रद्धा से काम लेगा।

९. ***मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।***
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।।

शब्दार्थ – (ते = वे) मच्चित्ताः = मुझ में मन लगानेवाले। मद्गतप्राणाः =

मुझमें प्राण अर्पण करनेवाले। माम् = मेरे बारे में। परस्परम् = परस्पर। बोधयन्तः = बताते हुए। कथयन्तःच = बात करते हुए। नित्यम् = सदा। तुष्यन्ति च = सन्तुष्ट होते हैं। रमन्ति च = रमण करते हैं।

भावार्थ - निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणों का अर्पण करनेवाले भक्त जन मेरी भक्ति की चर्चा के द्वारा आपस में मेरे प्रभावको जानते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेव में ही निरन्तर रमण करते हैं।

व्याख्या - इस श्लोक में बताया गया कि भगवान के भक्त किस तरह बर्ताव करते हैं। सामान्य जनों के चित्त, स्वभाव, मन और प्राण सब सांसारिक वस्तुओं के मोहजाल में फंसे रहते हैं। परन्तु परमात्मा के निर्मल भक्तों के मन, प्राण आदि सब परमात्मा में ही स्थित रहते हैं। अज्ञानी सांसारिक नश्वर चीजों में लगे रहते हैं, परन्तु भक्त एवं ज्ञानी भगवान के स्मरण, चिन्तन एवं मनन में लगे रहते हैं। आपस में परमात्मा की ही बात करते हैं। सदा उसीमें लीन रहते हैं। यह ब्रह्माभ्यास कहा जाता है। परन्तु सामान्य लोग संसार से संबंधित क्षुद्र विषयों पर ध्यान देते हैं। इसलिए जब वे मुंह खोलते हैं, तब उन्हींसे संबंधित बातें करते हैं। परन्तु भक्तों की स्थिति वैसी नहीं होती। उनके त्रिकरण भगवान में ही लगे रहते हैं। इसलिए वे कुछ भी करें, कुछ भी बोलें, कुछ भी सोचें, सब भगवान से संबंधित होते हैं। पके हुए फल को कहीं भी चखें, मीठा ही लगता है। कुसुम अपनी चारों ओर सुगंध फैलाता है। इसी प्रकार भक्तों की चारों ओर दैवसंबंधी गंध ही फैलती है।

"बोधयन्तः परस्परम्" - एक दूसरे से बात व चर्चा करने से तत्व को बल मिलता है। कई तरह के प्रश्न उठते हैं। कई कोणों से तत्व पर विचार होता है। इसलिए मुमुक्षुओं के लिए सत्संग अत्यंत जरूरी है।

"नित्यं तुष्यन्ति रमन्ति" कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि ऐसे भगवद्भक्तों को परमानन्द कभी-कभी नहीं, निरंतर मिलता है। शाश्वत

पदार्थ (आत्मा या भगवान के आश्रय में जाने के कारण उन्हें असंतोष या दुःख नही होता)

"मद्गत् प्राणाः" कहा गया। इससे स्पष्ट है कि भगवान की विभूति जाननेवाले महानुभाव अपने जीवन भगवान को समर्पित कर देते हैं। भगवान की प्राप्ति के लिए अपनी जान तक देने को तैयार रहते हैं। इतना तीव्र प्रयत्न करने पर ही लक्ष्य तक पहुँचने में लोगों को सुविधा होती है। कमजोर निर्णयों तथा सामान्य प्रयत्नों से भगवान की प्राप्ति नहीं हो सकती। संसार में लोग राज्य एवं अधिकार पाने के लिए प्राण भी देने व लेने को तैयार होते हैं। ऐसी हालत में परमात्मा का पद पाने के लिए महान् त्याग करना पडता है। क्योंकि वह पद महोन्नत है।

प्रश्न - भगवान की विभूति जाननेवाले महानुभाव कैसा व्यवहार करते हैं ?

उत्तर - १.उनके मन, इन्द्रिय एवं प्राण भगवान में लीन रहते हैं। २.आपस में दैवसंबंधी बातें व चर्चाएं करते हैं। ३.परमानन्द एवं संतोष पाते हैं।

प्रश्न - साधक को मोक्ष प्राप्ति के लिए कैसा बर्ताव करना चाहिए ?

उत्तर - ऊपर उल्लिखित विवरण के अनुसार बर्ताव करना चाहिए।

प्रश्न - मुमुक्षु को किस पर चर्चा करनी चाहिए ?

उत्तर - भगवत् तत्त्व के बारे में चर्चा करनी चाहिए।

प्रश्न - साधक को अपने मन, इन्द्रिय तथा प्राण को किसमें केन्द्रित करना चाहिंए?

उत्तर - परमात्मा में केन्द्रित करना चाहिए।

१०. तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

शब्दार्थ - सतत युक्तानाम् = निरन्तर मेरे ध्यान में लीन। प्रीतिपूर्वकम् =

प्रीति के साथ। भजताम् = भजनेवाले। तेषाम् = उन्हें। येन = जिससे। ते = वे। माम् = मुझे। उपयान्ति = पा सकते हैं। तम् = उस। बुद्धियोगम् = ज्ञानयोग को। ददामि = देता हूँ।

भावार्थ - उन निरन्तर मेरे ध्यान आदि में लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तों को मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।

व्याख्या - भगवान के प्रति प्रीति रखने और उनकी निरंतर सेवा करने से भक्तों को प्राप्त होनेवाले प्रयोजनों पर यहाँ प्रकाश डाला गया है। भगवान कहते हैं कि वैसे भक्तों को ज्ञानयोग प्रदान करता हूँ। वह योग भक्त को परमात्मा के पास पहुँचा सकने में समर्थ है। ऐसे महोन्नत पद की प्राप्ति के लिए योग्यता आवश्यक है। उस योग्यता की प्राप्ति के लिए दो क्रियाएँ यहाँ प्रस्तावित हुयीं -

१. निरंतर परमात्मा में चित्त को स्थित करना।

२. प्रीति के साथ भगवान का भजन करना।

पहली योग्यता केलिए निरंतर प्रयास करने पर बल दिया गया। इस स्थिति तक पहुँचने केलिए क्रमशः प्रयत्न करना चाहिए। निरंतर चिन्तन, प्रीति, भक्ति एवं श्रद्धा से युक्त होना चाहिए। तभी उससे अधिक प्रयोजन होगा। जो साधक इस प्रकार परमात्मा का चिन्तन करेगा, उसे भगवान बुद्धियोग नामक पुरस्कार प्रदान करेंगे। जन्म जन्म के पुण्यकर्मों के प्रताप से ही ऐसा सुअवसर भक्त को मिलता है। वह बुद्धियोग साधक को शिव बना देता है। नर को नारायण के पास पहुँचाता है। इसीलिए "मां उपयान्ति" (इसके द्वारा वे मुझे पाते हैं) कहा गया है। भगवानने स्पष्ट कहा कि उस योग के द्वारा भक्त उनके यहाँ तक पहुँच सकते हैं। प्रश्न उठता है कि बुद्धियोग माने क्या है ? बुद्धि योग माने बुद्धि से संबंधित योग है, अर्थात् विचार सम्बन्धी योग। इसीको ज्ञानयोग कहते हैं। यह योग विवरणात्मक और विश्लेषणात्मक ढंग से बताता है कि यह आत्मा है और यह अनात्मा है, यह नित्य है और

यह अनित्य है। यह दृक् है और यह दृश्य है। शरीर एवं आत्मा को उपाधि से यह योग अलग करता है। जो यह योग पाता है, वह संसार की हर वस्तु को विचार कर अलग करता है। "अस्ति, भाति एवं प्रिय" (सत्, चित् एवं आनन्द) को ग्रहण करता है। मान और रूप को त्याग सकता है। अब प्रश्न उठता है कि ऐसा बुद्धियोग या ज्ञानयोग किसे प्राप्त होगा ? भगवान का स्मरण एवं चिन्तन जो साधक प्रीति एवं श्रद्धा से करेगा, उसीको भगवान मिलेंगे। सांसारिक मायाजाल में फंसे व्यक्तियों को नहीं मिलेंगे। यह निश्चित बात है।

भक्ति धीरे-धीरे प्रगति करके ज्ञान के रूप में बदलती है। भक्ति रूपी कुसुम विकसित होकर बाद को ज्ञान रूपी फल प्रदान करता है। कुछ लोग पूछते हैं कि हम साकार परमात्मा की पूजा करते हैं , निराकार का चिन्तन हम कब कर सकेंगे ? मूर्तिपूजा में लगी हमारी बहिर्मुखी दृष्टि अंतर्मुखी कब हो सकेगी? अंतर में बसे निराकार परमात्मा को हम कब पा सकेंगे ? इन प्रश्नों का उत्तर इस श्लोक में दिया गया है। भगवान ने साधकों पर कृपा करके यहाँ कहा कि हे जीव ! तुम पहले मेरी साकार आराधना करो। मेरी अर्चना करो। लेकिन प्रीति, भक्ति एवं श्रद्धा से करो। निरंतर मेरी सेवा करो। इससे मैं संतुष्ट होऊँगा। सगुणोपासमा से तृप्त होकर निर्गुणोपासना के लिए आवश्यक बुद्धि बल, ज्ञानयोग के लिए आवश्यक धीशक्ति एवं आत्मा व अनात्मा के बारे में विचार कर सकने की प्रज्ञा प्रदान करूँगा। इनके द्वारा तुम मुझे अवश्य पा सकोगे। भगवान ने अपने वचनों के द्वारा भक्तों को बडा आश्वासन दिया है।

जीव को जिस क्षण भगवान की कृपा से बुद्धियोग प्राप्त होगा, उस क्षण से वह निराकार परब्रह्म की तरफ आकृष्ट होगा। वैसी आत्मा के अन्वेषण में लग जाएगा। तब भक्ति , ज्ञान में बदल जाएगी। कुछ साधक तर्क करते हैं कि भक्ति महान है या ज्ञान ? कुछ साधक तर्क करते हैं कि भक्ति से ज्ञान

श्रेष्ठ है। ज्ञान से भक्ति श्रेष्ठ है। ऐसे लोगों को भगवानने इस श्लोक में सही जवाब दिया। उन्होंने कहा कि दोनों आवश्यक हैं। दोनों अलग नहीं हैं। एक ही हैं। भक्ति कालांतर में ज्ञान के रूप में बदल जाती है। कब बदलती है, इसका विवरण इस श्लोक में दिया गया है। जब भक्ति परिपक्व होती है, तब वह ज्ञान के रूप में बदल जाती है। "दासोऽहम्" ही अंत में "सोऽहम्" के रूप में बदल जाता है। भगवान ने कहा कि "ददामि बुद्धियोगम्" (मैं बुद्धियोग देता हूँ)। इससे स्पष्ट होता है कि भगवान ही बुद्धियोग के मूल में हैं। भक्त के हृदय के हर परिवर्तन को परमात्मा बडी सावधानी से परखते हैं। जब उन्हें ज्ञात होता है कि भक्त का हृदयरूपी क्षेत्र ज्ञान बीज के बोने के योग्य बन गया है, तब वे ज्ञानबीज बोते हैं। वह बीज धीरे-धीरे मोक्ष तरु के रूप में विकसित होता है। अर्थात् ज्ञानयोग ही जीव को मोक्ष की ओर ले जाता है। अगर भक्त "निर्मल भक्ति" रूपी भेंट अर्पित कर सकेगा, तो भगवान उसे बुद्धियोग (ज्ञान योग) रूपी अलौकिक मोक्ष प्रदान करेंगे। भक्ति सब के लिए सुलभ है। पहले सब को भक्ति का आश्रय लेना चाहिए। फिर भगवान का अनुग्रह प्राप्त करना चाहिए। फलस्वरूप मोक्ष पाना चाहिए।

प्रश्न - मोक्ष (भगवान का सायुज्य) कैसे प्राप्त होता है?

उत्तर - बुद्धियोग से प्राप्त होता है।

प्रश्न - बुद्धि योग जीव को कैसे प्राप्त होता है ?

उत्तर - जो भक्त निरंतर प्रीति के साथ भगवान का भजन करते हैं, उसे भगवान ही ज्ञान प्रदान करते हैं।

प्रश्न - बुद्धियोग (ज्ञान योग) की प्राप्ति के लिए आवश्यक योग्यताएँ क्या हैं ?

उत्तर - १.निरंतर भगवान का सेवन।

२. प्रीति के साथ भगवान का सेवन, ये दोनों आवश्यक योग्यताएँ हैं।

११. तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।।

शब्दार्थ – तेषाम् = उनको । अनुकम्पार्थम् = अनुग्रह करने केलिए । अहम् एव = मैं ही । आत्म भावस्थः = उनके अन्तःकरण में स्थित होकर । भास्वता= प्रकाशित । ज्ञानदीपेन = ज्ञान के दीप से । अज्ञानजं = अज्ञान से जनित । तमः = अन्धेरे को । नाशयामि = नष्ट करता हूँ ।

भावार्थ – हे अर्जुन ! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरण में स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकार को प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपक के द्वारा नष्ट कर देता हूँ ।

व्याख्या – पिछले श्लोक में भगवानने बताया कि जो साधक निरंतर उनका सेवन करते हैं, उन्हें बुद्धियोग वे प्रदान करेंगे । बुद्धियोग के प्रदान का कारण इस श्लोक में बताया गया । जो भक्त सदा भगवान का स्मरण और चिन्तन करते हैं, उनके प्रति भगवान के हृदय में दया या कृपा पैदा होती है । फलस्वरूप उपकार करने की भावना पैदा होती है । उन पर अनुग्रह करते हैं । संसार में भक्त को परम आनन्द प्रदान करनेवाला, भक्त को भगवान का साक्षात्कार करानेवाला बुद्धियोग ही है । अतः उसीको प्रदान करते हैं । बुद्धियोग या ज्ञानयोग एक दीप जैसा है । प्रकाशवान ज्योति है । अज्ञानरूपी अंधकार को दूर करता है । मोहान्धकार तथा अविद्या को हृदय से दूर करता है । संसार के अन्य दीपों में और इस ज्ञानदीप में बडा अन्तर है । ज्ञानदीप महान् प्रकाशवान है । इसीलिए "भास्वता" कहा गया । साधारण दीप बाहरी अन्धकार को दूर करता है । परन्तु ज्ञानदीप अन्तःकरण के मोहरूपी तमस को नष्ट करता है । वह तमस अज्ञान से ही उत्पन्न होता है । हृदय में स्थित अविद्या रूपी अन्धकार को यह ज्ञानदीप नष्ट करता है । प्रश्न उठता है कि यह ज्ञानरूप कैसे प्राप्त होगा? उसे भगवान ही जीवों को प्रदान करते हैं । क्या सब को देते हैं ? नहीं । जो प्रीति, भक्ति एवं श्रद्धा से उनका भजन करते हैं, उन्हींको देते हैं । ये सब रहस्य इस श्लोक में बताये गये हैं ।

भगवान को यदि न भजें, तो उनका अनुग्रह प्राप्त नहीं होगा।

भगवान का अनुग्रह प्राप्त न हो, तो ज्ञान दीप नहीं मिलेगा।

ज्ञान दीप न मिले, तो अज्ञान रूपी अन्धकार नष्ट नहीं होगा।

अज्ञान का अन्धकार नष्ट नहीं हो, तो दुःख दूर नहीं होगा।

इसलिए हर जीव को दुःख दूर करने के लिए निर्मल हृदय तथा अचंचल भक्ति से पहले भगवान का ध्यान करना चाहिए। मोक्ष का सारा रहस्य इस भगवद्ध्यान में निहित है। अब प्रश्न उठता है कि ऐसे अनन्य चित्तवाले भक्तों के हृदय से भगवान कहीं दूर नहीं है। "आत्म भावस्थः" हर जीव के हृदय में ही भगवान स्थित हैं। साक्षी के रूप में हर जीव के कामकाज वे देखते हैं। उनका संकल्प की परख भी अच्छी तरह करते हैं। ऐसी हालत में उनकी नजर से कोई बच नहीं सकता। इसलिए पाप कर्म नहीं करना चाहिए। दुष्ट संकल्प नहीं करना चाहिए। धर्मकार्यों में लगे रहना चाहिए।

भगवानने कह दिया कि नाशयामि, अर्थात् जो उनको भजते हैं, उनके हृदयों में स्थित मोहांधकार को मैं नष्ट करता हूँ। इससे स्पष्ट होता है कि अगर जीव भगवान की आराधना पूरी करे, तो भगवान जीव के मोह का नाशकर अपना काम पूरा करते हैं। भगवान के इस आश्वासन पर विश्वास करके जीवों को अपने धर्म का पालन करना चाहिए। पेड की जड में जल दें, तो फल अवश्य पा सकेंगे। इसी प्रकार भक्ति रूपी जल से परमार्थ रूप वृक्ष की जड को सींचे, तो मोक्ष रूपी फल अवश्य मिलेंगे। वह फल भगवान ही लाकर भक्त को दे देगा। मोहान्धकार को जीव स्वयं नष्ट नहीं कर सकता। भगवान का अनुग्रह आवश्यक है। अतः भगवान के अनुग्रह की प्राप्ति के लिए भजन, सेवन, पूजा, आराधना एवं घ्यान आदि के द्वारा प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न - जीव को मोक्ष कब प्राप्त होता है ?

उत्तर - अज्ञान रूपी अन्धकार जब नष्ट होता है, तब जीव को मोक्ष प्राप्त होता है।

प्रश्न - वह कैसे दूर होगा ?

उत्तर- प्रकाशवान ज्ञानदीप की ज्योति से दूर होगा।

प्रश्न - वह ज्ञानदीप कैसे मिलेगा ?

उत्तर- भगवान के अनुग्रह से मिलेगा।

प्रश्न - किनको मिलेगा?

उत्तर - भगवान का अनुग्रह जिन पर होगा, उनको मिलेगा।

प्रश्न - भगवान को किन पर अनुग्रह होगा ?

उत्तर - जो निरंतर प्रीति से उन्हें भजेंगे, उन पर भगवान को अनुग्रह होगा।

प्रश्न - जीवों के पुण्य व पाप भगवान कैसे समझते हैं ?

उत्तर - समस्त जीवों के हृदय में भगवान रहते हैं। अतः उनके कार्य एवं संकल्पों को वह अच्छी तरह जान लेते है।

प्रश्न - सांसारिक मोहरूपी तम किससे उत्पन्न होता है?

उत्तर - अज्ञान से उत्पन्न होता है।

प्रश्न - ज्ञानदीप कैसा है ?

उत्तर - वह प्रकाशवान है। मार्ग दिखाकर जीव को मोक्ष की ओर ले जाता है।

सम्बन्ध - सातवें अध्याय के पहले श्लोक में अपने समग्र रूप का ज्ञान करनेवाले जिस विषय को सुनने के लिये भगवान्‌ने अर्जुन को आज्ञा दी थी तथा दूसरे श्लोक में जिस विज्ञानसहित ज्ञान को पूर्णतया कहने की प्रतिज्ञा की थी, उसका वर्णन भगवान्‌ने सातवें अध्याय में किया। उसके बाद आठवें अध्याय में अर्जुन के सात प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवानने उसी विषय का स्पष्टीकरण किया। किंतु वहाँ कहने की शैली दूसरी रही, इसलिये नवम अध्याय के आरम्भ में पुनः विज्ञानसहित ज्ञान का वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करके उसी विषय को अङ्ग-प्रत्यङ्गोसहित भलीभाँति समझाया। तदनन्तर दूसरे शब्दोंमें पुनः उसका स्पष्टीकरण करने के लिये दसवें अध्याय के पहले

श्लोक में उसी विषय को पुनः कहने की प्रतिज्ञा की और पाँच श्लोकों द्वारा अपनी योगशक्ति और विभूतियों का वर्णन करके सातवें श्लोक में उनके जानने का फल अविचल भक्तियोगकी प्राप्ति बतलायी। फिर आठवें और नवें श्लोकों में भक्तियोग के द्वारा भगवान् के भजन में लगे हुए भक्तों के भाव और आचरण का वर्णन किया और दसवें तथा ग्यारहवेंमें उसका फल अज्ञानजनित अन्धकारका नाश और भगवान् की प्राप्ति करा देनेवाले बुद्धियोग की प्राप्ति बतलाकर उस विषय का उपसंहार कर दिया। इस पर भगवान् की विभूति और योग को तत्त्व से जानना भगवत्प्राप्ति में परम सहायक है। यह बात समझकर अब सात श्लोकों में अर्जुन पहले भगवान् की स्तुति करके भगवान् से उनकी योगशक्ति और विभूतियों का विस्तारसहित वर्णन करने के लिये प्रार्थना करते हैं -

अर्जुन उवाच

१२. परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥

१३. आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥

शब्दार्थ - अर्जुन उवाच = अर्जुन बोले। भवान् = तुम। परंब्रह्म = परब्रह्म हो। परंधाम = परंधाम। शाश्वतम् = शाश्वत। दिव्यम् = दिव्य। पुरुषम् = परमपुरुष। आदिदेवम् = देवताओं के आद्य। अजम = जन्मरहित। विभुम्= सर्वव्याप्त। सर्वेऋषयः = सभी ऋषि। देवर्षि नारदः = देवर्षि नारद। असितः= असित। देवलः = देवल। व्यासः = महर्षि वेदव्यास। आहुः = कहते हैं। स्वयं च = तुम भी। तथा एव = उसी प्रकार। मे=मुझे। ब्रवीषि=बताते हो।

भावार्थ - अर्जुन बोले - आप परमब्रह्म, परमधाम और परमपवित्र हैं, क्योंकि आपको सब ऋषिगण सनातन, दिव्य पुरुष एवं देवों का भी आदि देव, अजन्मा और सर्वव्यापि कहते हैं। वैसे ही देवर्षि नारद तथा असित

और देवल ऋषि तथा महर्षि व्यास भी कहते हैं और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं।

व्याख्या - जब भगवान श्रीकृष्ण भक्तों पर करुणा की वर्षा करने लगे, तब उनका पावन सन्देश सुनकर अर्जुन का हृदय प्रफुल्लित हुआ। वे अपने आप को रोक नहीं सके। मुक्त कंठ से उनकी स्तुति करने लगे। सारांश यह कि गुरु के वचनों के प्रति जब शिष्य के हृदय में श्रद्धा होगी, तब शिष्य उस ज्ञान को हृदयंगम कर सकेगा।

प्रश्न - भगवन श्रीकृष्ण कैसे हैं ?

उत्तर - (१) परब्रह्म रूप हैं (२) परंधाम हैं। (३) परम पावन हैं। (४) शाश्वत हैं। (५) आदिदेव हैं। (६) जनन मरण से रहित हैं। (७) सर्वव्यापक हैं।

पश्न - श्रीकृष्ण को किन महानुभावों ने इतने महान् माना ?

उत्तर - (१) समस्त ऋषि (२) वेदव्यास (३) असित (४) देवल (५) वेदव्यास आदिने (६) श्रीकृष्ण ने भी स्वयं अपने बारे में ऐसे ही कहा।

१४. सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥

शब्दार्थ - केशव = हे कृष्ण। यत् = जिसे। माम् = मेरे बारे में। वदसि = बताते हैं। एतत् सर्वम् = यह सब। ऋतम = सत्य। मन्ये = मानता हूँ। भगवान् = हे भगवान्। ते = तुम्हारे। व्यक्तिम् = निजस्वरूप को। देवाः = देवता। न विदुः = नहीं जानते। दानवाः च = असुर। न हि = नहीं जानते।

भाबार्थ - हे केशव ! जो कुछ भी मेरे प्रति आप कहते हैं, इस सबको मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन् ! आपके लीलामय स्वरूप को न तो दानव जानते हैं और न देवता ही॥

व्याख्या - "जो कुछ भी मुझसे आप कहते हैं , उसे मैं सत्य मानता हूँ।"

इस प्रकार गुरु श्रीकृष्ण के वचनों पर शिष्य अर्जुन पूर्ण विश्वास प्रकट करते हैं। शिष्य के ऐसे वचन गुरु के हृदय में शिष्य के प्रति प्रीति एवं वात्सल्य उत्पन्न करते हैं।

१५. स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥

शब्दार्थ - पुरुषोत्तम् = हे पुरुषोत्तम। भूत भावन = समस्त प्राणियों का सृजन करनेवाले। भूतेश = भूतों के ईश। देवदेव = देवताओं के दैव। जगत्पते = जगन्नाथ। त्वम् = तुम। आत्मानम् = तुम्हें। आत्मना = तुमसे। स्वयम् एव = स्वयं ही। वेत्थ = जानते हो।

भावार्थ - हे भूतों को उत्पन्न करनेवाले! हे भूतों के ईश्वर! हे देवों के देव! हे जगत् के स्वामी! हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपने से अपने को जानते हैं।

१६. वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥

शब्दार्थ - हि = इसलिए। याभिः विभूतिभिः = जिन विभूतियों से। त्वम् = तुम। इमान् लोकान् = इन लोकों को। व्याप्य = व्याप्त होकर। तिष्ठन् = हो (उन)। दिव्याः: = दिव्य। आत्म विभूतयः = तुम्हारी विभूतियों को। अशेषेण = संपूर्ण रूप से। व्यक्तुम् = बताने को। (तुम्हीं)। अर्हसि = योग्य हो।

भावार्थ - इसलिये आप ही उन अपनी दिव्य विभूतियों को सम्पूर्णता से कहने में समर्थ हैं, जिन विभूतियों के द्वारा आप इन सब लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं।

१७. कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥

शब्दार्थ - योगीन् = योगेश्वर। अहम् = मैं। सदा = हमेशा। कथम् = जिस

प्रकार। परिचिन्तयन् = चिन्तन करता हुआ। त्वाम् = तुम्हें। विद्यामहम् = जान सकता हूँ। भगवन = भगवान। केषु केषु भावेषु च = किन किन वस्तुओं में। चिन्त्यः = चिन्तन करने योग्य। असि = होते हैं ?

भावार्थ - हे योगेश्वर ! मैं किस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ और हे भगवन् ! आप किन - किन भावों में मेरे द्वारा चिन्तन करने योग्य हैं।

व्याख्या - दैवीतत्व अत्यंत सूक्ष्म होता है। वह सामान्य जनों की समझ में जलदी नहीं आता। अतः साधक को प्रारंभिक स्थिति में अपने मन को भगवान से संबंधित किसी वस्तु या मूर्ति पर केन्द्रित करके थोडे समय तक ध्यान का अभ्यास करना पड़ता है। जब साधक धीरे-धीरे चित्त को उस वस्तु में एकाग्र कर रख सक़ता है, तब निराकार एवं निर्गुण तत्व के बारे में विचार कर सकता है। इसीलिए अर्जुन भगवान से प्रार्थना करते हैं कि ध्यान करने के लिए कुछ साकार विभूतियों और कुछ दिव्य पदार्थों को बतावें। अर्जुन प्रार्थना करते हैं कि यद्यपि समस्त जगत् भगवान का प्रतिरूप है, तथापि ध्यान को अनुकूल बनाने के लिए जो जो रूप योग्य हैं, उन्हें सूचित करें।

१८. विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि श्रृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥

शब्दार्थ - जनार्दन = हे कृष्ण। आत्मनः = तुम्हारी। योगम् = योग की महिमा को। विभूतिं च = जगत् लीला की विभूतियों को। विस्तरेण = सविस्तार। भूयः = फिर से। कथय = बता ओ। हि = कयों कि। अमृतम् = अमृतवाणी। श्रुण्वतः = सुन रहे। मे= मुझे। तृप्तिः = तृप्ति। नास्ति = नहीं हो रही है।

भावार्थ - हे जनार्दन ! अपनी योगशक्ति को और विभूति को फिर भी विस्तारपूर्वक कहिये, क्योंकि आपके अमृतमय वचनों को सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं होती अर्थात् सुनने की उत्कण्ठा बनी ही रहती है।

व्याख्या - शिष्य के हृदय में गुरु के वचनों को सुनने के लिए ऐसी उत्कंठा की आवश्यकता है।

सम्बन्ध - अर्जुनके द्वारा योग और विभूतियों का विस्तारपूर्वक पूर्णरूप से वर्णन करने के लिये प्रार्थना की जाने पर भगवान् पहले अपने विस्तार की अनन्तता बतलाकर प्रधानता से अपनी विभूतियों का वर्णन करने की प्रतिज्ञा करते हैं ।

श्री भगवानुवाच

१९. हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतय : ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ।।

शब्दार्थ - श्री भगवानुवाच = श्री भगवान बोले। कुरुश्रेष्ठ = कुरुवंश के श्रेष्ठ हे अर्जुन। हन्त = अब। दिव्या = दिव्य। आत्म विभूतयः = मेरी विभूतियों को। प्राधान्यतः = प्राधान्य के अनुसार। ते = तुम्हें। कथायिष्यामि = कहूँगा। हि = क्योंकि। मे = मेरे। विस्तरस्य = विभूतिके विस्तार का। अन्तः = अन्त। नास्ति = नहीं है।-

भावार्थ - श्री भगवान् बोले - हे कुरुश्रेष्ठ ! अब मैं जो मेरी दिव्य विभूतियाँ हैं, उनको तेरे लिये प्रधानता से कहूँगा। क्योंकि मेरे विस्तार का अन्त नहीं है।

व्याख्या - भगवान अनन्त है। अतः उनकी विभूति भी अनन्त ही है। इसलिए मुख्य विभूतियों के बारे में बताने के लिए भगवान श्रीकृष्ण प्रस्तुत हुए।

सम्बन्ध - अब अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार भगवान् बीसवें से उनतालीसवें श्लोक तक पहले अपनी विभूतियों का वर्णन करते हैं।

२०. अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ।।

शब्दार्थ - गुडाकेश = हे अर्जुन। सर्वभूताशय स्थितः = समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित। आत्मा = प्रत्यगात्मा। अहम् एव = मैं ही हूँ। भूतानाम् =

प्राणियों का। आदिः च = आदि। मध्यं च = मध्य। अन्तः च = अन्त। अहम् = मैं ही (हूँ)।

भावार्थ - हे अर्जुन! मैं सब भूतों के हृदय में स्थित सबकी आत्मा हूँ तथा सम्पूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ।

व्याख्या - भगवान श्रीकृष्णने एक वाक्य में ही सब कुछ बता दिया। उन्होंने कहा कि समस्त प्राणियों के हृदयों में स्थित प्रत्यगात्मा मैं ही हूँ। हर प्राणी में देह, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि के साथ साक्षी के रूप में प्रत्यगात्मा हैं। उसी को जीवात्मा कहते हैं। यहाँ कहा गया कि वह परमात्मा ही है। यहाँ बताया गया कि जीवात्मा ही परमात्मा है। अद्वैतसिद्धांत भी यही है। जीव को परमात्मा का स्थान पाने के पूर्व जीवात्मा का स्थान पाना चाहिए। उपनिषद् भी यही कहते हैं।

चूँकि यहाँ स्पष्ट बताया गया कि हर जीव में भगवान् (प्रत्यगात्मा) वास करते हैं। अतः जीव को साधारण नहीं मानना चाहिए। हर जीव को यह समझना चाहिए कि मैं परमात्मा का ही अंश हूँ। "परब्रह्मस्वरूप हूँ।" इस तरह समझकर हर प्राणी के साथ दया, करुणा, प्रीति एवं श्रद्धा से बर्ताव करना चाहिए। किसी के साथ हिंसात्मक व्यवहार नहीं करना चाहिए। सब का उपकार करना चाहिए। मनुष्य की सेवा को माधव की सेवा माननी चाहिए। अतः पाप कर्म नहीं करना चाहिए। क्योंकि जीव को समझना चाहिए कि परमात्मा मुझमें है। मैं जो कुछ पाप या पुण्य कर्म करता हूँ, उसे भगवान साक्षी के रूप में देखते हैं। अतः सावधान रहना चाहिए। भगवान ने कहा कि "सर्व भूताशय स्थितः"। यहाँ सर्व शब्द के प्रयोग से स्पष्ट होता है कि भगवान हर प्राणी में स्थित है। ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जहाँ भगवान न हो। अतः किसी भी जीव को नहीं समझना चाहिए कि मैं अल्प हूँ। निर्बल हूँ। अपने स्वरूप को पहचान कर, धीरज धरकर व्यवहार करना चाहिए। दुःख राहित्य, बन्धमुक्ति तथा शाश्वत कैवल्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न

करना चाहिए -

'गुडाकेश' गुडाक + ईश = निद्रा को जीतनेवाला, अर्जुन है। आहार एवं निद्रा नामक दो चोर मनुष्य के जीवन को हर रहे हैं। मुमुक्षु ओं को चाहिए कि वे उन्हें अपने काबू में रखें, संयमशील होकर जिन्दगी बितावें, मित निद्रा तथा मित आहार का अभ्यास करें।

प्रश्न - समस्त प्राणियों के हृदय में वास करनेवाले प्रत्यगात्मा कौन हैं ?

उत्तर - स्वयं परमात्मा ही हैं।

प्रश्न - परमात्मा कैसा है ?

उत्तर - प्राणियों का आदि, मध्य एवं अन्त वही है।

२१. आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥

शब्दार्थ - अहम् = मैं। आदित्यनाम = आदित्यों में। विष्णुः = विष्णु नामक आदित्य हूँ। ज्योतिषाम् = प्रकाशित करनेवालों में। अंशुमान् = किरणोंवाला। रविः = सूर्य हूँ। मरुताम् = वायुदेवताओं में। मरीचिः = मरीची हूँ। अहम् = मैं। नक्षत्राणाम् = नक्षत्रों में। शशी = चन्द्र। अस्मि = हूँ।

भावार्थ - मैं अदिति के बारह पुत्रों में विष्णु और ज्योतियों में किरणोंवाला सूर्य हूँ तथा मैं उनचास बायुदेवताओं का तेज और नक्षत्रों का अधिपति चन्द्रमा हूँ।

व्याख्या - "आदित्य", अदिति के कुमार १२हैं। इन्ही को 'द्वादशादित्य' कहते हैं। वे हैं (१) धाता (२) मित्र (३) अर्यम (४) शक्र (५) वरुण (६) अंशु (७) भगु (८) विवस्वत (९) पूष (१०) सवित (११) त्वष्टा (१२) विष्णु।

मरुत ७ हैं। वे हैं (१) आवाहु (२) प्रवहु (३) निवहु (४) परावहु (५) उद्वहु (६) संवहु (७) परिवहु (मरीची)। भगवान ने कहा कि आदित्यों

में मैं विष्णु हूँ। इसका मतलब है कि बाकी आदित्यों से बढकर विष्णु नामक आदित्य में ज्यादा अभिव्यक्त होता हूँ।

२२. वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ।।

शब्दार्थ - वेदानाम् = वेदों में। सामवेदः = सामवेद। अस्मि = हूँ। देवानाम् = देवताओं में। वासवः = इन्द्र। अस्मि = हूँ। इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियों मे। मनः च = मन। अस्मि = हूँ। भूतानाम् = प्राणियों में। चेतना = चैतन्य। अस्मि = हूँ।

भावार्थ - मैं वेदों में सामवेद हूँ, देवों में इन्द्र हूँ, इन्द्रियों में मन हूँ और भूतप्राणियों की चेतना अर्थात् जीवनी शक्ति हूँ।

२३. रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ।।

शब्दार्थ - रुद्राणाम् = रुद्रों में। शंकर = शंकर। अस्मि = हूँ। यक्षरक्षसाम् = यक्षों में, राक्षसों में। वित्तेशः = कुबेर। वसूनाम् = वसुओं में। पावकः च = अग्नि। शिखरिणाम् = शिखरवाले पर्वतों में। मेरुः = मेरु पर्वत। अस्मि = हूँ।

भावार्थ - मैं एकादश रुद्रों में शङ्कर हूँ और यक्ष तथा राक्षसों में धन का स्वामी कुबेर हूँ। मैं आठ वसुओं में अग्नि हूँ और शिखरवाले पर्वतों में सुमेरु पर्वत हूँ।

व्याख्या - रुद्र ग्यारह हैं (इन्हींको एकादश रुद्र कहते हैं।) वे हैं (१) हर (२) बहुरूप (३) त्र्यंबक (४) अपराजित (५) वृषाकपी (६) शंभु (७) कपर्दी (८) रैवत (९) मृगव्याथ (१०) शर्व (११) कपाली। जैसे -

१. हरश्च बहुरूपश्च त्र्यंबकश्चा पराजितः
वृषा कपिश्च शम्भुश्च कपर्दी रैवत स्तथा ।।

२. मृगव्याधश्च सर्वश्च कपाली च विशामृते
एकादशैते कथिता रुद्रा स्त्रिभुवनेश्वराः ।। (हरिवंश)

वसु आठ हैं। (अष्टवसु) वे हैं (१) धरु (२) धृव (३) सोम (४)आहु (५) अनिल (६) अनल (७) प्रत्यूष (८) प्रभासु। जैसे -

धरो धृवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः॥

(महा भारत। आदिपर्व)

२४. पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः॥

शब्दार्थ - पार्थ = हे अर्जुन!। पुरोधसाम् = पुरोहितों में। मुख्यम् = मुख्य। बृहस्पतिम् च = बृहस्पति। माम् = मुझे। विद्धिं = जानो। अहम् = मैं। सेनानीनाम् = सेनानियों में। स्कन्दः = कुमारस्वामी। सरसाम् = जलाशयों में। सागरः = समुद्र। अस्मि = हूँ।

भावार्थ - पुरोहितों में मुखिया बृहस्पति मुझको जान। हे पार्थ! मैं सेनापतियों में स्कन्द और जलाशयों में समुद्र हूँ।

व्याख्या - "मुख्यम्" कहा गया। इससे स्पष्ट है कि श्रेष्ठता एवं पवित्रता दैवत्व के चिह्न हैं।

२५. महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥

शब्दार्थ - अहम् = मैं। महर्षीणाम् = महर्षियों में। भृगुः = महर्षि भगु हूँ। गिराम् = शब्दों में। एकम् अक्षरम् = एक अक्षर प्रणव (ओंकार) हूँ। स्थावराणाम् = स्थिर पदार्थों में। हिमालयः = हिमालय पर्वत। अस्मि = हूँ।

भावार्थ - मैं महर्षियों में भृगु और शब्दों में एक अक्षर अर्थात् ओङ्कार हूँ। सब प्रकारके यज्ञों में जपयज्ञ और स्थिर रहनेवालों में हिमालय पहाड़ हूँ।

व्याख्या - "गिरा मस्म्येक मक्षरम्" गिराएं अनेक हैं, पर प्रणव ओंकार मैं हूँ" यह भगवान का वाक्य है। इससे ओंकार की महत्ता प्रकट होती है। सौ वाक्य बोलने से सारयुक्त एक अक्षर बोलना श्रेष्ठ माना है। पुण्यप्रद वह

अक्षर है प्रणव। सभी मंत्रों का वह प्राण है। समस्त वेदों का वह सार है। वह परब्रह्म का वाचक है। इसलिए जपनेवाले के पापों को हरता है। अर्थ के मनन से मोक्ष तक ले जाता है। इसीलिए समस्त शास्त्रों और वेदोंने इस प्रणव मंत्र के बारे में विशेष रूप से कहा है। इस प्रकार चूंकि गिराओं में वह सारभूत है, अतः व्यर्थ शब्दों के उच्चारण में समय को न गँवाकर इस ओंकार का उच्चारण करना तथा उसका स्मरण करना श्रेयस्कर है।

"यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि" - भगवान श्रीकृष्णने कहा कि यज्ञों में मैं जपयज्ञ हूँ। इससे स्पष्ट होता है कि जप का कितना महत्त्व है। जप को यज्ञ कहने से ज्ञात होता है कि वह एक पावन कर्म है। शास्त्रों में कई यज्ञ बताये गये। परन्तु वे सब श्रमदायक हैं। उन सब में जपयज्ञ इतना सुलभ है कि हर कोई उसे कर सकता है। इसमें श्रम बिल्कुल नहीं होता। यह खर्चीला भी नहीं है। पर फल अपरिमित है। इसीलिए भगवानने कहा कि जपयज्ञ मैं ही हूँ। जपयज्ञ हृदय को शुद्ध करके जन्म जन्म के पापों को धो देता है। उसे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए अनुकूल बनाता है। अतः यह मोक्ष प्राप्ति के लिए सहायक है। यह ब्रह्मस्वरूप बताया गया। अतः सब के अनुष्ठान के योग्य है।

२६. अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥

शब्दार्थ - (अहम् = मैं) सर्ववृक्षाणाम् = सब वृक्षों में। अश्वत्थः = अश्वत्थ वृक्ष हूँ। देवर्षीणाम् = देवर्षियों में। नारदः च = नारद हूँ। गन्धर्वाणाम् = गंधर्वों में। चित्ररथः = चित्ररथ हूँ। सिद्धानाम् = सिद्धों में। कपिल मुनिः = कपिल मुनि। (अस्मि = हूँ)।

भावार्थ - मैं सब बृक्षों में पीपल का वृक्ष, देवर्षियों में नारद मुनि, गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि हूँ।

व्याख्या - यहां कहा गया कि "अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्" वृक्षों में अश्वत्थ वृक्ष बहुत श्रेष्ठ है। पवित्र है। पुराणों में इसकी श्रेष्ठता का वर्णन किया गया है।

स्कान्द पुराण में निम्न प्रकार कहा गया —

१. मूले विष्णुः स्थितो नित्यं स्कन्धे केशव एव च
नारायणस्तु शाखासु पत्रेषु भगवन्हरिः ॥

२. पले ऽच्युतो न सन्देहः सर्वदेवैः समन्वितः ॥

३. स एव विष्णुद्द्रुम एव मूर्तो
महात्मभिः सेवित पुण्य मूलः
यस्याक्षयः पाप सहस्र हन्ता
भवेन्मृणां कामदुघो गुणाध्वरि ॥

(स्कान्द पुराण - नागरखण्ड २४७-४१,४२,४४)

भावार्थ - अश्वत्थवृक्ष के मूल में विष्णु है। वृक्ष की धड में केशव है। शाखाओं में नारायण है। पत्तों में श्री हरि है। फलों में अच्युत है। समस्त देवता यहाँ विराजमान हैं। यह साक्षात् विष्णु का साकार रूप है। इसकी जड का सेवन महानुभाव करते हैं। इसके अश्रय में जो भी जाते हैं, उनके पाप नष्ट होते हैं। यह मनुष्यों की कामनाएँ पूरी करता है। सद्गुण एवं पुण्य प्रदान करता है।"

भगवानने कहा कि कपित्थ वृक्ष मैं ही हूँ। इससे स्पष्ट होता है कि कपित्थवृक्ष स्वयं भगवान का निलय है। इसीलिए लोग उसकी परिक्रमा करते हैं। उसकी पूजा करते हैं। औषध की दृष्टि से भी कपित्थवृक्ष का बडा महत्त्व है।

२७. ***उच्चैः श्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।***
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥

शब्दार्थ - अश्वनाम् = घोडों में। अमृतोद्भवम् = (क्षीर सगर में) अमृत के साथ उत्पन्न। उच्चैश्रवम् = उच्चैश्रव नामक घोडा। गजेन्द्राणाम् = बडे हाथियों में। ऐरावतम् = ऐरावत् हाथी। नराणाम् = नरों में। नराधिपम् = राजा। माम्= मुझे। विद्धि = जानो।

भावार्थ - घोड़ों में अमृत के साथ उत्पन्न होनेवाला उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा, श्रेष्ठ हाथियों में ऐरावत नामक हाथी और मनुष्यों में राजा मुझको जान।

व्याख्या - उच्चैश्रव नामक घोडे तथा ऐरावत नामक हाथी का आविर्भाव क्षीरसागर के मंथन के समय हुआ था।

२८. आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥

शब्दार्थ - अहम् = मैं। आयुधानाम् = अस्त्रों में। वज्रम् = वज्र हूँ। धेनूनाम्= दुधारूगायों में। कामधुक् = कामधेनु। अस्मि = हूँ। प्रजनः = सन्तान उत्पत्ति का मूलकारण। कंदर्पः च = मन्मथ। अस्मि = हूँ। सर्पाणाम्= सर्पों में। वासुकिः = वासुकि नामक सर्प। अस्मि = हूँ।

भावार्थ - मैं शास्त्रों में वज्र और गौओं में कामधेनु हूँ। शास्त्रोक्त रीति से सन्तान की उत्पत्ति का हेतु कामदेव हूँ और सर्पों में सर्पराज वासुकि हूँ।

व्याख्या - "प्रजनाश्चास्मि कंदर्पः" - "प्रजनः" यह विशेषण मन्मथ केलिए प्रयुक्त हुआ। इससे स्पष्ट होता है कि धर्मबद्ध सन्तान की उत्पत्ति केलिए मूलकारण 'काम' का उल्लेख यहाँ किया गया।

'धर्मा विरुद्धो भूतेषु कामो ऽस्मि भरतर्षभ" उस वाक्य द्वारा भगवान श्रीकृष्णने इसके पूर्व यह विषय बतलाया ।

२९. अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥

शब्दार्थ - अहम् = मैं। नागानाम् = नागसर्पों में। अनन्तः च = (नागराज) अनन्त। अस्मि = हूँ। यदसाम् = जलदेवताओं में। वरुणः = वरुण हूँ। पित्रूणाम् = पितृदेवताओं में। अर्यमा च = अर्यमय नामक पितृराजा (अस्मि= हूँ)। अहम् = मैं। संयमताम् = संयमित (दण्ड देनेवाले) करनेवालों में। यमः = यम। (अस्मि = हूँ)।

भावार्थ - मैं नागों में शेषनाग और जलचरों का अधिपति वरुण देवता हूँ

और पितरों में अर्यमा नामक पितर तथा शासन करनेवालों में यमराज मैं हूँ।

व्याख्या - 'नागानाम्' - नाग नामक सर्पों के अनेक सिर होते हैं। पर विष नहीं होता। सर्पों का एक ही सिर होता है। पर उसमें विष होता है। विषैले सर्पों एवं नाग सर्पों में यही अन्तर है।

३०. प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥

शब्दार्थ - अहम् = मैं। दैत्यानाम् = राक्षसों में। प्रह्लादः च = प्रह्लाद हूँ। कलयताम् = गणना करनेवालों का। कालः = समय हूँ। मृगाणाम् च = पशुओं में। मृगेन्द्रः = मृगराज सिंह हूँ। पक्षिणाम् = पक्षियों में। वैनतेयः = गरुड। अस्मि = हूं।

भावार्थ - मैं दैत्यों में प्रह्लाद और गणना करनेवालों का समय हूँ तथा पशुओं में मृगराज सिंह और पक्षियों में गरुड़ हूँ।

व्याख्या - प्रह्लाद असुर हैं। असुरकुल में वह पैदा हुआ। फिर भी भक्तश्रेष्ठ होने के कारण परमात्मा का पद प्राप्त किया। भगवान श्रीकृष्णने यहां कहा कि मैं ही प्रह्लाद हूँ। इससे स्पष्ट है कि भक्ति की पराकाष्ठा में भगवान एवं भक्त दोनों एक ही होते हैं। अपने अपने पुरुष प्रयत्न से जीव शिव बन सकता है। राक्षसों के कुल में पैदा होकर भी प्रह्लाद अपने पुरुष प्रयत्न से श्रेष्ठ हरि भक्त बने। महोंन्नत परमार्थ की स्थिति प्राप्त की। शास्त्रों में प्रसिद्धि पायी। भक्त श्रेष्ठ बनकर भगवान का रूप धारण किया। इससे स्पष्ट होता है कि कुल से गुण ही श्रेष्ठ है। नीच कुल में जन्म लेनेवाला भी अपने पुरुष प्रयत्न एवं अनन्य भक्ति के सहारे महोन्नत ब्रह्मपद पा सकता है प्रह्लाद के चरित से यह बात सिद्ध होती है। "काल" - भगवानने कहा कि काल मैं ही हूँ। अतः वह महा पवित्र है। ऐसे समय का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। भगवान की प्रार्थना में समय का सदुपयोग करना चाहिए।

"वैनतेयश्च पक्षिणाम्" - गरुड एक पक्षी है। हनुमान एक वानर है।

गजेन्द्र पशु है। तोभी ये सब अपनी सुकृति के बल पर भगवान के स्मरण व ध्यान से दैवीस्वरूप बन गये। इस प्रकार पशु पक्षी ही भवबन्धन से मुक्ति पा रहे हैं, तो मनुष्यों का कहना ही क्या ? अतः हर मुमुक्ष का कर्तव्य है कि वह आलस्य छोड दे, दैव साक्षात्कार के लिए प्रयत्न करे। अपने मानव जन्म को सार्थक बना लें।

३१. पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्त्रोतसामस्मि जाह्नवी॥

शब्दार्थ - अहम् = मैं। पवताम् = पवित्र करनेवालों में। पवनः = वायु। अस्मि = हूँ। शस्त्र भृताम् = शस्त्रधारियों में। रामः = राम हूँ। = झषाणाम् = मछलियों में। मकरं च = मगर। अस्मि = हूँ। स्रोतसाम् = नदियों में। जाह्नवी = गंगा नदी। अस्मि = हूँ।

भावार्थ - मैं पवित्र करनेवालों में वायु और शस्त्रधारियों में श्रीराम हूँ तथा मछलियों में मगर हूँ और नदियों में श्रीभागीरथी गङ्गाजी हूँ।

व्याख्या - इस श्लोक में बतायी गयी रीति के अनुसार गंगानदी स्वयं भगवान स्वरूप है। इसीलिए वह पावन एवं पापों को हरनेवाली मानी जाती है। कृष्णने कहा कि मैं राम हूँ। इससे स्पष्ट है कि राम और कृष्ण दोनों एक ही भगवत्स्वरूप हैं।

३२. *सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।*
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥

शब्दार्थ - अर्जुन = हे अर्जुन। सर्गाणाम् = सृष्टियों का। आदिः = आदि। अहम् एव (अस्मि) = मैं ही हूँ। विद्यानाम् = विद्याओं में। अध्यात्मविद्या = अध्यात्म विद्या। प्रवदताम् = वाद करनेवालों में। वादः = वाद। अहम् (अस्मि) = मैं ही हूँ।

भावार्थ - हे अर्जुन! सृष्टियों का आदि और अन्त तथा मध्य भी मैं ही हूँ। मैं विद्याओं में अध्यात्म विद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या और परस्पर विवाद करनेवालों का तत्त्वनिर्णय के लिये किया जानेवाला वाद हूँ।

व्याख्या - "अध्यात्म विद्या विद्यानाम्" - संसार में अनेक विद्याएं हैं। भगवानने कहा कि अध्यात्म विद्या मैं ही हूँ। इससे उस विद्या की श्रेष्ठता प्रकट होती है। जिस विद्या से मनुष्य को दुःख राहित्य और आनंद प्राप्त होंगे, वही सब से श्रेष्ठ विद्या है। वह शक्ति एक मात्र ब्रह्म विद्या (अध्यात्म विद्या) में ही विद्यमान है। इसीलिए भगवान श्रीकृष्णने कहा कि मैं अध्यात्म विद्या हूँ। प्रश्न उठता है कि मनुष्य को कौन सी विद्या सीखनी चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तम उत्तर यहां दिया गया है। परमात्मा करुणार्द्र होकर बता रहे हैं कि अध्यात्म विद्या सीखकर जनन मरण रूपी भवबन्धनों से छुटकारा पाओ। लौकिक विद्या से संपन्न होने पर भी अक्षर परब्रह्म की विद्या सीख ले, तो वह पूर्णरूप से पढा लिखा ही होगा। ऐसा न हो, तो महान् पण्डित होने पर भी वह अनपढ ही होगा।

"वादः प्रवदताम्" - वाद, जल्प एवं वितंड नामक तीन प्रकार के वाद हैं। (१) राग द्वेष के बिना केवल तत्व जानने की अभिलाषा से जो प्रश्नोत्तर किया जाता है, वह वाद कहलाता है। (२) अन्य मतों का खंडन कर अपने मत को स्थापित करने और दूसरों को जीतने के लिए जो प्रसंग किया जाता है, वह जल्प कहलाता है। (३) केवल अन्य मत का खंडन के लक्ष्य को लेकर जो प्रसंग किया जाता है, वह वितंडवाद कहलाता है।

भगवानने कहा कि मैं वाद हूँ। इससे स्पष्ट होता है कि तत्व निश्चय के लिए रागाद्वेष के बिना जो तर्क किया जाता है, वह उत्तमवाद है। अतः विज्ञ पुरुषों को उसीका आश्रय लेना चाहिए।

३३. अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥

शब्दार्थ - अक्षराणाम् = अक्षरों में। अकारः = अकार। अस्मि = हूँ। सामासिकस्य = समासों में। द्वन्द्वः च = द्वंद्व समास। (अस्मि = हूँ) अक्षयः= नाश रहित। कालः = काल। अहम् एव = मैं ही हूँ। विश्वतोमुखः = सर्वतोमुखी। धाता = ब्रह्मदेव। अहम् = मैं। (अस्मि = हूँ)।

भावार्थ - मैं अक्षरों में अकार हूँ और समासों में द्वन्द्व नामक समास हूँ। अक्षय काल अर्थात् काल का भी महाकाल तथा सब ओर मुखवाला, विराट्स्वरूप, सब का धारण - पोषण करनेवाला भी मैं ही हूँ।

व्याख्या - "विश्वतोमुख" - भगवान सर्वतोमुखी कहे गये हैं। इसका मतलब है कि परमात्मा का अस्तित्व एवं उनकी दृष्टि सर्वत्र व्याप्त है। यह रहस्य जानने के बाद कोई भी व्यक्ति कोई पाप कर नहीं सकता।

३४. मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥

शब्दार्थ - सर्वहरः = सब का नाश करनेवाला। मृत्युः च = मृत्यु। भविष्यताम्= आगे उत्पन्नहोनेवालों की। उद्भवः च = उत्पत्ति हेतु। अहम् = मैं (अस्मि = हूँ) नारीणाम् = स्त्रियों की। कीर्तिः = कीर्ति। श्रीः = संपदा। वाक् च = वाक्। स्मृतिः = ज्ञान। मेधा = मेधाशक्तिवाली बुद्धि। धृतिः = धैर्य। क्षमा च = सहन शक्ति। (अहम् एव = मैं ही। अस्मि = हूँ)

भावार्थ - मैं सब का नाश करनेवाला मृत्यु और उत्पन्न होनेवालों का उत्पत्ति हेतु हूँ तथा स्त्रियों में कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, और क्षमा हूँ।

व्याख्या - भगवान श्रीकृष्णने कहा कि स्त्रियों में विद्यमान उपर्युक्त सात सद्गुण मैं ही हूँ। ये सात सद्गुण यद्यपि पुरुषों में भी पाये जाते हैं, तथापि भगवान ने स्त्रियों का उद्धार करने के लिए ऐसा बताया। इससे स्पष्ट हो गया किं स्त्रियां अबलाएं नहीं हैं। शक्ति हीन नहीं है। वे भी पुरुषों की तरह बुद्धि, विद्या एवं धैर्य, प्राप्त कर सकती हैं। प्रयत्न, अभ्यास एवं श्रद्धा से हर कोई ऐसे सद्गुण प्राप्त कर सकते हैं। भगवानने कहा कि मेधाशक्ति तथा सहन शक्ति आदि सद्गुण मैं ही हूँ। इससे हर व्यक्ति को चाहिए कि वह अभ्यास के द्वारा अपने हृदय को भगवान का निलय बना लें।

इस श्लोक के दूसरे चरण का और एक अर्थ बताया जा सकता है। स्वयंभु मनु की पुत्री प्रसूति ने दक्षप्रजापति से विवाह किया। उनकी २४

पुत्रियां पैदा हुयी। उनमें कीर्तिदेवी, मेथादेवी, धृतिदेवी तथा क्षमादेवी हैं। श्रीदेवी भृगु की बेटी है। वाग्देवी ब्रह्मदेव से पैदा हुयी। ये सातों देवियाँ उन सात सद्गुणों की अधिष्ठात्री हैं। भगवानने कहा कि स्त्रियों में मुख्य कीर्तिदेवी, ऐश्वर्यदेवी, वाग्देवी, स्मृतिदेवी, मेधादेवी, धैर्यदेवी और क्षमा देवी मैं हूँ।" इससे स्पष्ट है कि वे सात सद्गुण भगवत्स्वरूप हैं। उनका अनुसरण सब को करना चाहिए।

इस श्लोक के द्वारा स्त्रियों के धर्म के मार्ग पर चलने को विशेष प्रोत्साहन मिलता है। उन्हें अपनी विद्या एवं धी शक्ति के बारे में निराश होने की जरूरत नहीं है। पुरुषों की तरह स्त्रियां भी अपने सुगुणों को ज्यादा से ज्यादा बढा सकती हैं। क्योंकि जहाँ सद्गुण होते हैं, वहाँ भगवान का वास होता है।

३५. बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥

शब्दार्थ - तथा = उस प्रकार। अहम् = मैं। साम्नाम् = सामवेद के गानों में। बृहत्साम् = बृहत्साम। छन्दसाम् = छन्दों में। गायत्रि = गायत्री छन्द। मासानाम् = मासों में। मार्गशीर्षः = मार्गशिर मास। ऋत्नाम् = ऋतुओं में। कुसुमाकरः = वसंत ऋतु। अहम् (अस्मि) = मैं (हूँ)।

भावार्थ - तथा गायन करनेयोग्य शृतियों में मैं बृहत्साम और छन्दों में गायत्री छन्द हूँ। तथा महीनों में मार्गशीर्ष और ऋतुओं में वसन्त मैं हूँ।

व्याख्या - "मासानां मार्गशीर्षोऽस्मि" - निम्नलिखित कारणों से मार्गशीर्ष की श्रेष्ठता सूचित होती है।

१. पूर्वकाल में महाभारत के समय मार्गशीष मास से वर्ष शुरू होता था। (महाभारत - अध्याय १०६,१०९) इसलिए वह सभी मासों में प्रथम बना।
२. धनुर्मास काल सम्बन्धी है। वह महापवित्र है। शास्त्रों में बताया गया

कि उस समय में जो व्रत अनुष्ठान आदि किये जाते हैं, वे सत्फल देते हैं।

३. लोगों के हाथ नई फसल आती है। सब के पास अनाज होता है।

४. वाल्मीकीय रामायण में मार्गशीर्ष मास सर्व श्रेष्ठ बताया गया।

५. भगवाद्गीता का आविर्भाव मार्गशीर्ष में ही हुआ (मार्गशिर मास की शुद्ध एकादशी के दिन)।

६. अवतारपुरुष दत्तात्रेय का जन्म उसी मास में हुआ। (मार्गशिर शुद्ध पूर्णिमा के दिन)।

७. वातावरण शीतल होता है। "लोगों के हृदयों में उल्लास पैदा होता है। ध्यान आदि के लिए समय अनुकूल रहता है।

"ऋतूनां कुसुमाशरः" - वसंतऋतु में सभी वृक्ष हरे भरे रहते हैं। वातावरण सम शीतोष्ण रहता है। इसलिए वसंतऋतु को श्रेष्ठ माना गया। श्रीरामचन्द्र का जन्म इस पवित्र ऋतु में ही हुआ।

३६. द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥

शब्दार्थ - (अहम् = मैं) चलयताम् = वंचक व्यापार में। द्यूतम = जूआ। अस्मि = हूँ। तेजस्विनाम् = तेजस्वी लोगों का। तेजः = तेज। अस्मि = हूँ। जयः = विजय। अस्मि =हूँ। व्यवसायः = प्रयत्न। अस्मि = हूँ। सत्ववताम्= सात्विक लोगों का। सत्वम् = सत्वगुण। अहम् = मैं। अस्मि = हूँ।

भावार्थ - मैं छल करनेवालों में जूआ और प्रभावशाली पुरुषों का प्रभाव हूँ। मैं जीतनेवालों की विजय हूँ, निश्चय करनेवालों का निश्चय और सात्त्विक पुरुषों का सात्त्विक भाव हूँ।

व्याख्या - संसार के सभी पदार्थों में, अच्छे और बुरे में भगवान का अस्तित्व है। उनका सान्निध्य लोगों में नयी स्फूर्ति भरता है। इस सत्य को सिद्ध करने के लिए गीताचार्यने इस विभूति योग में कुछ देवताओं, राक्षसों, पशुओं,

जडपदार्थों तथा कुछ क्रियाओं का उल्लेख किया। हर वस्तु तथा हर क्रिया में भगवान का अस्तित्व दृग्गोचर होता है। इसी क्रम में जूए का उल्लेख हुआ है। इसका मतलब जूए को प्रोत्साहित करना नहीं है। जैसे कि भगवान ने कहा कि मैं पशुओं में शेर हूँ। इसका मतलब क्या शेर से खेलने को प्रोत्साह देना है ? नहीं। इसी प्रकार जूए की भी बात है।

"व्यवसाय" अर्थात् प्रयत्न है। इसके द्वारा भगवानने प्रयत्न करने पर जोर दिया। अतः साधकों को मोक्ष के लिए प्रयत्न करना चाहिए। भगवानने यह भी कहा कि जहाँ विजय रहती है, जहाँ सत्प्रयत्न रहता है, जहाँ सत्वगुण रहता है, वहाँ मैं रहता हूँ। इसलिए साधकों को सद्गुणों को अपनाने पर ध्यान देना चाहिए।

३७. वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥

शब्दार्थ - अहम् = मैं। वृष्णीनां = वृष्णीवंश के यादवों में। वासुदेवः = वसुदेव का पुत्र कृष्ण। अस्मि - हूँ। पाण्डवानाम् = पंच पाण्डवों में धनंजयः = अर्जुन हूँ। मुनीनाम् अपि = मुनियों में। व्यासः = व्यास हूँ। कवीनाम् = कवियों में। उशनाकविः = शुक्राचार्य (अस्मि = हूँ)।

भावार्थ - वृष्णिवंशियों में वासुदेव अर्थात् मैं स्वयं तेरा सखा हूँ पाण्डवों में धनंजय अर्थात् तू, मुनियों में वेदव्यास और कवियों में शुक्राचार्य कवि भी मैं ही हूँ।

व्याख्या - "पांडवों में अर्जुन, मुनियों में व्यास मैं ही हूँ" यह भगवान श्रीकृष्ण का कथन है। इससे स्पष्ट होता है कि गीता सुननेवाले अर्जुन तथा गीता की रचना करनेवाले व्यास दोनों भगवत्स्वरूप हैं। इसीलिए गीता के प्रसंग का महत्त्व बहुत बढ गया। "कवीनामुशना कविः" - कवि माने महान् ज्ञान से विलसित व्यक्ति हैं। उशानाकवि भृगुमहर्षि के पुत्र शुक्राचार्य हैं।

३८. दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥

शब्दार्थ - अहम् (एव) = मैं ही। दमयताम् = दण्ड देनेवालों का। दण्डः = दण्ड। अस्मि = हूँ। जिगीषताम् = जीतने की इच्छावालों की। नीति = नीति। अस्मि = हूँ। गुह्यानाम् = रहस्यों में। मौनम् = मौन। अस्मि = हूँ। ज्ञानवताम् = ज्ञानियों का। ज्ञानम् च = ज्ञान। (अस्मि = हूँ)।

भावार्थ - मैं दमन करनेवालों का दण्ड अर्थात् दमन करने की शक्ति हूँ। जीतने की इच्छावालों की नीति हूँ। गुप्त रखने योग्य भावों का रक्षक मौन हूँ और ज्ञानवानों का तत्त्वज्ञान मैं ही हूँ।

व्याख्या - "नीतिरस्मि जिगीषिताम्" - नीतियुक्त विजय ही विजय है, अनीतियुक्त विजय विजय नहीं है। वह अपजय ही होगी। इसलिए भगवान के वाक्य से स्पष्ट होता है कि नीति युक्त विजय ही श्रेष्ठ है।

"मौनं चैवास्मि गुह्यानाम्" - मौन भगवत्सवरूप है। अतः वाङमौन एवं मानसिक मौन का अभ्यास साधकों को करना चाहिए। "ज्ञानं ज्ञानवतामहम्" - ज्ञान भगवत्स्वरूप है। इसलिए सर्वश्रेष्ठ है। उसका अनुसरण साधक को करना चाहिए।

३९. *यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।*
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

शब्दार्थ - अर्जुन = हे अर्जुन। समस्त भूतानाम् =समस्त प्राणियों का। यत् = जो। बीजम् = मूल कारण है। तत् अपि च = वह भी। अहम् (अस्म) = मैं हूँ। चराचरम् = चराचरात्मक। भूतम् = पदार्थ। यत् स्यात् = जो है। तत् = वह। मया विना = मेरे बिना। नास्ति = नहीं है।

भावार्थ - और हे अर्जुन! जो सब भूतों की उत्पत्ति का कारण है, वह भी मैं ही हूँ, क्योंकि ऐसा चर और अचर कोई भी भूत नहीं है, जो मुझसे रहित हो।

व्याख्या - अब तक गीताचार्य ने अपनी कुछ विभूतियों का वर्णन किया।

अब बताते हैं कि सब कुछ भगवान का ही स्वरूप है। वह भगवान श्रीकृष्ण ही हैं। भगवान कहते हैं कि चराचर समस्त जीवराशि का मूलकारण मैं ही हूँ। बीज जब स्वयं परमात्मा हैं, तो पौधा दूसरा कैसे होगा? अतः सभी जीव परमात्मा के अंश हैं। अतः इनमें ऊंच-नीच का अन्तर नहीं है। ये अल्प एवं पापी नहीं हैं।

अल्पता एवं नीचता की कल्पना जीवों ने खुद की। वे वास्तविक नहीं हैं। जीव का यथार्थ रूप परब्रह्म ही है। इस सत्य को सूचित करने के लिए ही भगवान ने कहा कि इनका बीज मैं हूँ। इसलिए हर जीव अपने को अल्प न समझे, परमात्मा का ही स्वरूप समझे और उसी भावना के अनुरूप सत्कर्म करे।

सम्बन्ध - उन्नीसवें श्लोक में भगवान्‌ने अपनी दिव्य विभूतियों को अनन्त बतलाकर प्रधानतासे उनका वर्णन करने की प्रतिज्ञा की थी। उसके अनुसार बीसवें से उनतालीसवें श्लोक तक उनका वर्णन किया। अब पुनः अपनी दिव्य विभूतियों की अनन्तता दिखलाते हुए उनका उपसंहार करते हैं१

४०. नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥

शब्दार्थ - परन्तप = हे अर्जुन। मम = मेरे। दिव्यानाम् = दिव्य। विभूतीनाम्= विभूतियों का। अन्तः = अन्त। न अस्ति=नहीं है। तु=तो भी। एषः=इस। विभूतेः = विभूति का। विस्तरः = विवरण। उद्देशतः = संक्षेप में। मया = मुझसे। प्रोक्तः = बताया गया।

भावार्थ - हे परंतप! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। मैंने अपनी विभूतियों को यह विस्तार तो तेरे लिये एकदेशसे अर्थात् संक्षेपसे कहा है॥

व्याख्या - भगवान अनन्त हैं। इसलिए उनकी विभूतियाँ भी अनन्त हैं। इसलिए उनका विवरण यहां संक्षेप में दिया गया।

सम्बन्ध - अठारहवें श्लोकमें अर्जुनने भगवान् से उनकी विभूति और

योगशक्ति का वर्णन करने की प्रार्थना की थी। उसके अनुसार भगवान् अपनी दिव्य विभूतियोंका वर्णन समाप्त करके अब संक्षेप में अपनी योग शक्ति का वर्णन करते हैं १

४१. *यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।*
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥

शब्दार्थ - विभूतिमत् - विभूतियुक्त। श्रीमत् = कांतिमान। ऊर्जितम् एव वा = शक्तियुक्त। सत्वम् = वस्तु। यत्यत् = जो जो। (है)। तत् तत् =उस उस वस्तु या जीव को। मम = मेरे। तेजोंऽश सम्भवम् =तेज के अंश की ही अभिव्यक्ति। त्वम् = तुम। अवगच्छ = जानो।

भावार्थ - जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस उसको मेरे तेज के अंश की ही अभिव्यक्ति जान।

व्याख्या - अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि ज्ञान का ऐश्वर्य, मन की निर्मलता (बाह्य एवं आंतरिक शुद्धता), धर्म एवं मोक्ष के प्रति उत्सुकता जहां होते हैं, वहां स्वयं भगवान विलसित होते हैं। कहा गया कि भगवान के तेज से वह पवित्र गुण प्राप्त होता है। इससे ज्ञात होता है कि भगवान का तेज, ईश्वरीय शक्ति अनन्त हैं, उसके एक अंश मात्र से ऐसी उत्तम विभूति तथा उत्साह आदि सद्गुण प्राप्त होते हैं। अतः लोगों को चाहिए कि अपने हृदय में सद्गुणों को स्थान दें और भगवान के सान्निध्य को अनुभव में ले आवें।

४२. *अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।*
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

शब्दार्थ - अर्जुन = हे अर्जुन। अथवा = या। तव = तुझे। किम् = क्या प्रयोजन?। अहम् = मैं। इदम् = इस। कृत्स्नम =समस्त। जगत् = जगत को। एकांशेन = एक अंश से। विष्टभ्य = व्याप्त होकर। स्थितः = स्थित हूँ।

भावार्थ - अथवा हे अर्जुन ! इस बहुत जानने से तेरा क्या प्रयोजन है। मैं इस सम्पूर्ण जगत् को अपनी योगशक्ति के एक अंशमात्र से धारण करके स्थित हूँ।

व्याख्या - भगवान की विभूति के बारे में जितना भी जाने, कम ही है। जानने का विषय बहुत रहता है। इसलिए भगवान अर्जुन से कहते हैं कि अंतहीन यह विवरण सुनने से तुम्हें कोई लाभ नहीं होगा। मतलब यह कि इन सब को जानने के बजाय मूल को जानने से लाभ होगा। यहाँ बताया गया कि यह सारा जग भगवान के एक अंश से व्याप्त है। इससे भगवान की अनन्तशक्ति एवं विश्वव्यापकता दृग्गोचर होती है।

यह सारा ब्रह्मांड बहुत बडा, विशाल एवं व्यापक है। मगर भगवान के एक अंश से ही वह इतना महान् बना हुआ है। ऐसे भगवान के और भी अनेक अंश बचे हुए हैं।

"पादोऽस्य विश्व भूतानि त्रिपादस्यमृतं दिवि" पुरुष सूक्त का यह वचन इसी अर्थ को प्रकट करता है। इससे स्पष्ट होता है कि भगवान में स्थित यह विश्व बहुत छोटा है। जिस परमात्मा के एक अंश से ही यह सारा जग इतना परिव्याप्त है, तो उनकी अखंड शक्ति को प्रणाम करना चाहिए। ऐसे सर्वेश्वर की सेवा विनम्रता से करनी चाहिए। परमात्मा की अपारशक्ति उनकी विश्वव्यापकता तथा उनके विराट स्वरूप पर विचार कर अपने अहंकार को त्याग देना चाहिए। मनुष्य के धन, अधिकार, बल एवं शक्ति भगवान के अनन्त तेज के सामने तुच्छ हैं। वास्तव में यह दृश्य जगत् मिथ्या है , कल्पित है। सत्य सिर्फ परमात्मा ही है। असत्य वस्तु चाहे वह जितनी भी बडी क्यों न हो, उसका कोई मूल्य नहीं है। स्वप्न जगत्, जागृत जगत् के सामने कुछ नहीं है। इस रहस्य को जानना उसके अनुसार अपने जीवन को सही मार्ग पर चलाना जीव का कर्तव्य है। अपना दंभ एवं अहंकार छोडकर

जीव को परमात्मा की शरण में जाना चाहिए। इस विभूति योग से सीखने योग्य पाठ यही है।

प्रश्न – यह सारा जग किससे व्याप्त है?

उत्तर – परमात्मा के एक अंश से व्याप्त है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

यह उपनिषदों के द्वारा प्रतिपादित, ब्रह्मविद्या योगशास्त्र, श्रीकृष्णार्जुन संवाद युक्त श्रीमद्भगवद्गीता के विभूतियोग शीर्षक दसवाँ अध्याय है।

ॐ तत् सत्

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ एकादशोऽध्यायः

ग्यारहवाँ अध्याय

विश्वरूप संदर्शनयोगः

विश्वरूप संदर्शन योग

इस अध्याय का शीर्षक

"विश्वरूप संदर्शन योग - अर्जुन की प्रार्थना मानकर भगवान ने अपना विश्वरूप उन्हें दर्शाया। इस अध्याय का अधिक भाग उस विश्वरूप के वर्णनों तथा विश्वरूप भगवान के बारे में अर्जुन के द्वारा किये गये स्तोत्रों से भरा हुआ है। इस अध्याय में अर्जुन को भगवान श्रीकृष्ण के विश्वरूप के दर्शन हुए। अतः इस अध्याय का शीर्षक विश्वरूप संदर्शन योग रखा गया।

इस अध्याय के प्रधान विषय

१. भगवान से विश्वरूप दर्शाने की प्रार्थना (श्लोक १ से श्लोक ४ तक)

२. अपने विश्वरूप का भगवान के द्वारा वर्णन (श्लोक ५ से श्लोक ८ तक)

३. धृतराष्ट्र को संजय के द्वारा भगवान के विश्वरूप के बारे में सुनाया जाना- (श्लोक [illegible] श्लोक १४ तक)

४. अर्जुन को भगवान के विश्वरूप के दर्शन की प्राप्ति एवं उनकी स्तुति - (श्लोक १५से श्लोक ३१ तक)

५. अपनी शक्ति को प्रकट करते हुए भगवान श्रीकृष्ण का युद्ध के लिए अर्जुन को प्रोत्साहित करना (श्लोक ३२ से श्लोक ३४ तक)

६. विश्वरूप के दर्शन कर अर्जुन का भयभीत होना, भगवान की स्तुति करना तथा चतुर्भुजरूप धारण करने की प्रार्थना - (श्लोक ३५ से श्लोक ४६ तक)

७. भगवान के द्वारा विश्वरूप के दर्शन की महिमा का वर्णन, फिर सौम्य रूप धारण- (श्लोक ४७ से श्लोक ५० तक)

८. कहना कि अनन्य भक्ति से ही विश्वरूप का संदर्शन संभव है तथा अनन्य भक्ति के बारे में भगवान के प्रवचन -(श्लोक ५१ से श्लोक ५५ तक)

सम्बन्ध- दसवें अध्याय के सातवें श्लोक तक भगवान् ने अपने विभूति तथा योगशक्ति का और उनके जानने के माहात्म्य का संक्षेप में वर्णन करके ग्यारहवें श्लोक तक भक्तियोग और उसके फल का निरूपण किया। इस पर बारहवें से अठारहवें श्लोक तक अर्जुन ने भगवान् की स्तुति करके उनसे दिव्य विभूतियों का और योगशक्ति का विस्तृत वर्णन करने के लिये प्रार्थना की। तब भगवान्ने चालीसवे श्लोक तक अपनी विभूतियों का वर्णन समाप्त करके अन्त में योगशक्ति का प्रभाव बतलाते हुए समस्त ब्रह्माण्ड को अपने एक अंश में धारण किया हुआ कहकर अध्याय का उपसंहार किया। इस प्रसंग को सुनकर अर्जुन के मन में उस महान् स्वरूप को (जिसके एक अंश में समस्त विश्व स्थित है) प्रत्यक्ष देखने की इच्छा उत्पन्न हो गयी। इसीलिये इस ग्यारहवें अध्यायके आरम्भ में पहले चार श्लोकों में भगवान् की और उनके उपदेश की प्रशंसा करते हुए अर्जुन उनसे विश्वरूप का दर्शन कराने के लिये प्रार्थना करते हैं —

अर्जुन उवाच

१. मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ।।

शब्दार्थ - अर्जुन उवाच = अर्जुन बोले। मदनुग्रहाय = मुझ पर अनुग्रह करने के लिए। परमम् = सर्वोत्तम। गुहयम् = गोपनीय। अध्यात्म संज्ञितम् = अध्यात्म विषयिक। यत् वचः = जो वचन। त्वया = तुमसे। उक्तम् = कहे गये। तेव = उनसे। मम= मेरा। अयम् मोह = यह अज्ञान। विगतः = नष्ट हो गया।

भावार्थ- अर्जुन बोले - मुझ पर अनुग्रह करने के लिये आपने जो परम गोपनीय अध्यात्म विषयक वचन अर्थात् उपदेश कहा, उससे मेरा यह अज्ञान नष्ट हो गया है।

व्याख्या - भगवान श्रीकृष्ण ने अब तक जो ज्ञान बोध कराया, उससे अर्जुन का मोह दूर हो गया। अर्जुनने जिस अविवेक से पहले सोचा कि यह दृश्य जगत् सत्य है, ये बंधुबांधव मेरे हैं , यह शरीर मैं हूँ, फिर इस वजह से दुःखी भी हुआ, वह अविवेक तथा वह दुःख सब भगवान के आध्यात्मिक प्रबोध से दूर हो गये। गीता का बोध अभी समाप्त नहीं हुआ। १० अध्याय मात्र हुए। और ८ अध्याय बाकी हैं। इतने मात्र से ही अर्जुन के हृदय को धैर्य मिला। मोह दूर हुआ। इसीलिए अर्जुनने कहा कि "मोहोऽयं विगतो मम" (मेरे अज्ञान का अन्त हुआ)। अर्जुनने स्वीकार किया कि मेरा अज्ञान दूर हो गया।

अर्जुन भवरोग से पीडित हो रहे थे। भगवान श्रीकृष्णरूपी वैद्यने गीतामृत रूपी दवा दी। उस दवा के थोडी सी दवा से ही अर्जुन का मोह दूर हुआ। इससे स्पष्ट होता है कि वह वैद्य कितना बडा था और उसकी दवा कितनी शक्तिशाली थी। दवा की श्रेष्ठता रोग निवारण पर निर्भर रहती है।

रोग दूर नहीं हुआ, तो स्पष्ट है कि दवा श्रेष्ठ नहीं है। गीतामृत रूपी औषध के सेवन से अर्जुन के अज्ञान रूपी रोग एवं भवरोग दूर हो गये। भगवान श्रीकृष्ण साधारण व्यक्ति नहीं हैं। योगिराट हैं। उनका आध्यात्मिक बोध भी साधारण नहीं है। (१) (परमं) महाश्रेष्ठ है (२) (गुहयम्) अत्यंत गोपनीय है। क्योंकि अर्जुन के हृदय पर उसका प्रत्यक्ष प्रभाव पडा। अन्धकार दूर हुआ। प्रकाश का आविर्भाव हुआ।

संसार में अनेक विद्याएं हैं। परन्तु वे सब हृदय के अन्धकार को दूर करने में समर्थ नहीं हैं। भवरोग को दूर करने में वे समर्थ नहीं हैं। परन्तु आध्यात्मिक बोध जनन मरण के दुःख से जीव का उद्धार कर उसे पार पहुंचाता है। उसीलिए अर्जुनने इसे परमम् एवं गुहयम् कहा। ऐसा महान गुरु सभी को नहीं मिलते। इसके लिए जो योग्य हैं, जिन पर गुरु को अनुग्रह होता है, जो निर्मल भक्ति से युक्त होते हैं, उन्हीं को गुरु आध्यत्मिक विद्या का बोध कराते हैं। अर्जुन उन योग्यताओं से विलसित थे। इसलिए उन पर भगवान श्रीकृष्ण को बडी अनुकंपा हुई। आध्यात्मिक विद्या का बोध कराया। "मदनुग्रहाय" कहा। इससे स्पष्ट है कि आध्यत्मिक विद्या के बोध के लिए गुरु का अनुग्रह शिष्य के लिए अत्यावश्यक है।

जो भोजन करता है, वह डकारे, तो समझना चाहिए कि उसका पेट भर गया। अर्थात् उसे तृप्ति हुयी। अर्जुन गीतामृत का पान अच्छी तरह कर रहे थे। १० अध्याय सुनकर वे डकार उठे। "मोहोऽयं विगतो मम" (मेरा अज्ञान शमित हुआ) यह वाक्य ही डकार है। फिर १८ वें अध्याय में उन्होंने कहा कि "नष्टो मोहः स्मृति र्लब्धा"। इस वाक्य के द्वारा अर्जुन ने अपनी तृप्ति प्रकट की।

प्रश्न – अध्यात्म विद्या कैसी है ?

उत्तर – (१) सर्वश्रेष्ठ है (२) अत्यंत गोपनीय है।

प्रश्न – उसका प्रभाव कैसा है ?

उत्तर – वह जीवों के अज्ञान तथा सांसारिक मोह को नष्ट करता है।

प्रश्न – श्रीकृष्णने अर्जुन को उस विद्या का बोध क्यों कराया ?

उत्तर – अर्जुन सब तरह से उसके श्रवन के लिए भक्ति आदि के द्वारा योग्य बने। इसलिए उन पर अनुग्रह कर श्रीकृष्णने बोध कराया।

प्रश्न – उस विद्या का प्रभाव अर्जुन पर कैसे पडा ? उसका दृष्टांत क्या है ?

उत्तर – उसे सुनकर अर्जुन ने कहा कि मेरा अज्ञान दूर हुआ। यही उसके प्रभाव का दृष्टांत है।

२. ***भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया***
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥

शब्दार्थ – हि = क्योंकि। कमलपत्राक्ष = कमल नेत्र वाले हैं कृष्ण। त्वत्तः = तुमसे। भूतानां = प्राणियों का। भवाप्ययौ = जनन मरण। विस्तरिश = विस्तार से। मया = मुझसे। श्रुतौ = सुने गये। अव्ययम् = नाशरहित। (ते = तुम्हारी)। महात्म्यं अपि च = महिमा भी। श्रुतः = (मुझसे) सुनी गयी।

भावार्थ – क्योंकि हे कमलनेत्र ! मैंने आपसे भूतों की उत्पत्ति और प्रलय विस्तारपूर्वक सुने हैं तथा अपकी अविनाशी महिमा भी सुनी है।

३. ***एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।***
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥

शब्दार्थ – परमेश्वर = हे परमेश्वर। त्वम् = तुमने। आत्मानां = अपने बारे में। यथा = जैसा। अत्था = कहा। एवम् एतत् = वह वैसा ही है। पुरुषोत्तम = पुरुष श्रेष्ठ हे कृष्ण ! ते = तुम्हारा। ऐश्वरम् = ईश्वर संबन्धी। रूपम् = रूप को। द्रष्टुम् = देखना। इच्छामि = चाहता हूँ।

भावार्थ - हे परमेश्वर ! आप अपने को जैसा कहते हैं, यह ठीक ऐसा ही हैं। परंतु हे पुरुषोत्तम ! आपके ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति,बल, वीर्य और तेज से युक्त ऐश्वर - रूप को मैं प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ।

४. मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥

शब्दार्थ - प्रभो = प्रभो। तत् = तुम्हारे उस स्वरूप को। मया = मुझसे। द्रष्टुं = देखा जाना। शक्यम् इति = साध्य। मन्यसे यदि = मानते हैं। ततः = तो। योगीश्वर = हे योगीश्वर। त्वम् = तुम। अव्ययम् = नाशरहित। आत्मानम् = अपना स्वरूप। मे = मुझे। दर्शय = दिखाओ।

भावार्थ - हे प्रभो ! यदि मेरे द्वारा आपका वह रूप देखा जाना शक्य है - ऐसा आप मानते हैं, तो हे योगेश्वर ! उस अविनाशी स्वरूप का मुझे दर्शन कराइये।

व्याख्या - इस श्लोक के द्वारा विनम्रता तथा भक्ति एवं श्रद्धावाले शिष्यों के लक्षणों का विवरण बताया गया। अर्जुन के हृदय में भगवान के विश्वरूप को देखने की इच्छा पैदा हुयी। लेकिन अर्जुनने उसे दिखाने को नहीं कहा। उन्होंने प्रार्थना की कि अगर आप समझते हों कि मैं उस रूप को देखने के लिए योग्य हूँ, तो दिखाइए''। गुरु की सेवा में रहनेवाले शिष्यों को ऐसी विनम्रता, भक्ति एवं श्रद्धा से काम लेना चाहिए।

श्री भगवानुवाच

५. पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥

शब्दार्थ - श्री भगवानुवाच = श्री भगवान बोले। पार्थ = हे अर्जुन। नानाविधानि = अनेक प्रकार के। दिव्यानि = दिव्य। नानावर्णाकृतीनि च = अनेक रंगों और आकारवाले। शतशः अथ सहस्रशः = सैकडों एवं हजारों। मे = मेरे। रूपाणि = रूपों को। पश्य = देखो।

भावार्थ - श्री भगवान् बोले - हे पार्थ ! अब तू मेरे सैकड़ों -हजारों नाना प्रकार के और नाना वर्ण तथा नाना आकृतिवाले अलौकिक रूपों को देख।

६. ***पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।***
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥

शब्दार्थ - भारत = हे अर्जुन। आदित्यान् = सूर्यों को। वसून = वसुओं को। रुद्रान् = रुद्रों को। अश्विनौ = अश्विनी देवताओं को। मरुतः = मरुद् गणों को। पश्य = देखो। तथा = उसी प्रकार। अदृष्ट पूर्वाणि = पहले न देखे हुए। बहूनि = बहुत से। आश्चर्याणि = आश्चर्यो को । पश्य = देखो।

भावार्थ - हे भरतवंशी अर्जुन ! मुझमें आदित्यों को अर्थात् अदिति के द्वादश पुत्रों को, आठ वसुओं को, एकादश रुद्रों को, दोनों अश्विनीकुमारों को और उनचास मरुद्गणों को देख और भी बहुत से पहले न देखे हुए आश्चर्यमय रूपों को देख।

व्याख्या - १. सूर्य(१२) २. वसु (८) ३. रुद्र (११) ४. अश्विनी देवता (२) ५. मरुत (४९)।

७. ***इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।***
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥

शब्दार्थ - गुडाकेश = हे अर्जुन। सचराचरम् = चराचरात्मक। कृत्स्नम् = समस्त। जगत् = जगत् को। अन्यत् यत् = और जो जो। दुष्टुम् इच्छति = देखना चाहते हो। (तत्) च = उसे भी। मम = मेरे। इह = इस। देहे = शरीर में। एकस्थम् = एक जगह स्थित। अद्य = अब। पश्य = देखो।

भावार्थ - हे अर्जुन ! अब इस मेरे शरीर में एक जगह स्थित चराचरसहित सम्पूर्ण जगत् को देख तथा और भी जो कुछ देखना चाहता है, सो देख।

व्याख्या - विभूति योग में भगवानने कहा था कि "विष्टम्याहमिदंकृत्स्न मेकांशेन स्थितो जगत्" । समस्त ब्रह्मांडों से युक्त चराचर समस्त जगत् परमात्मा के एक अंश में ही समाहित है। इसीलिए यहाँ भगवान श्रीकृष्ण ने

कहा कि अपने अनंत शरीर में इस समस्त विश्व को एक ही जगह स्थित देखो। इससे स्पष्ट होता है कि परमात्मा का स्वरूप कितना विशाल एवं विस्तृत है। भूताकाश काफी विस्तृत एवं सूक्ष्म है। चित्ताकाश (आत्मा) और भी विशाल एवं सूक्ष्मतम है। ऐसे चिदाकाश (आत्मा) में भूताकाश एवं उसमें कहीं छिपे पडे इस चराचर जगत् का महत्त्व नहीं के बराबर है। भगवानने कह दिया कि यह समस्त संसार किसी कोने में छिपा पडा है। इसलिए अनंतरूप, सर्वव्यापी तथा सर्वशक्तिमान परमात्मा के आगे अल्प, परिच्छिन्न एवं देश और काल के वशवर्ती इस जीव को भक्ति व श्रद्धा के साथ विनम्र होकर रहना चाहिए। तभी भगवान के अनुग्रह से ज्ञान प्राप्त कर उसमें लीन होकर तरने का सुअवसर जीव को प्राप्त होगा। नहीं तो जनन मरण के भव बन्धनों में जकड कर उसे और दुःख भोगना पडेगा।

जब मनुष्यधन, शक्ति एवं संपत्ति आदि के घमंड से फूला नहीं समाएगा, तब उसकेलिए इस श्लोक का पठन, चिन्तन एवं मनन करना आवश्यक है। तब उसका सारा घमंड चूर चूर हो जाएगा। क्योंकि यह समस्त विशाल जगत् जिस परमात्मा के किसी एक अंश के एक कोने में छिपा पडा है, उस परमात्मा के अनन्त स्वरूप के सामने नश्वर सांसारिक धन, शक्ति एवं परिजन का क्या महत्त्व ? अतः इन्हें देख कर गर्व क्यों करें ? जब ऐसी भावना से जीव प्रभावित होगा, तब भगवान के प्रति उसके हृदय में भक्ति एवं श्रद्धा उत्पन्न होगी। इम नश्वर एवं अल्प दृश्य पदार्थो के प्रति विरक्ति पैदा होगी।

सम्बन्ध – इस प्रकार तीन श्लोकों में बार-बार अपना अद्भुत रूप देखने के लिये आज्ञा देने पर भी जब अर्जुन भगवान् के रूप को नहीं देख सके, तब उसके न देख सकने के कारण को जाननेवाले अन्तर्यामी भगवान् अर्जुन को दिव्य दृष्टि देने की इच्छा करके कहने लगे –

८. न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥

शब्दार्थ - अनेन = इस। स्वचक्षु एवतु = अपने मांसमय नेत्रों से ही। माम् = मुझे। दृष्टुम् = देखने को। न शक्यसे = समर्थ नहीं। दिव्यं चक्षुः = दिव्य चक्षु (ज्ञाननेत्र)। ते = तुम्हें। ददामि = देता हूँ। ऐश्वरम् = ईश्वर सम्बन्धी। मे = मेरे। योगम् = योग को। पश्य= देखो।

भावार्थ - परन्तु मुझको तू इन अपने प्राकृत नेत्रों द्वारा देखने में निःसन्देह समर्थ नहीं है। इसीसे मैं तुझे दिव्य अर्थात् अलौकिक चक्षु देता हूँ। उससे तू मेरी ईश्वरीय योगशक्ति को देख।

व्याख्या - कुछ लोग पूछा करते हैं कि भगवान क्यों नहीं दिखाई देते ? उस प्रश्न का जवाब इस श्लोक में दिया गया है।

इन स्थूल चर्मनेत्रों से जीव अतिसूक्ष्म स्वरूप परमात्मा को देख नहीं सकता। साधारण आसमान को ही जब जीव इन नेत्रों से देख नहीं पाता, तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिदाकाश को कैसे देख पाएगा ? पंचभूतात्मक नेत्र पांच भौतिक पदार्थों को ही देख पाएंगे। वे चिन्मय आत्म पदार्थ को देख नहीं पाएंगे। अतः परमात्मा को देखना, हो तो इसके लिए ज्ञाननेत्र एवं दिव्य दृष्टि आवश्यक हैं।

वास्तव में भगवान सर्वत्र व्याप्त है। वह सब के समीप है। परन्तु जीव के नेत्रों पर अज्ञान का पर्दा पडा हुआ है। इसलिए वे उन्हें देख नहीं पाते। वही माया का पर्दा है। वही अज्ञान का तिमिर है। उसे ज्ञान के अंजन से पोंछ दें, साफ कर दें, तो परमात्मा को सामने देख सकते हैं।

श्री शंकराचार्य ने कहा —

सर्वगं सच्चिदात्मानं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते।
अज्ञान चक्षुर्नेक्षेत्र भास्वन्तं भानुमन्धवत् ॥ - (आत्मबोध)।

अर्थात् - सर्वव्यापी सच्चिदानन्द परब्रह्म को ज्ञाननेत्र से ही मनुष्य देख सकता है। प्रकाशवान सूर्य को जिस प्रकार अन्धा देख नहीं सकता, उसी प्रकार अज्ञान नेत्रवाला उसे देख नहीं सकता।

अतः यह कहना कि भगवान हमारी आंखों को दिखायी नहीं देता, इसलिए वह नहीं है, निल्कुल गलत है। वह अन्धे का सूर्य को न देख सकने के बराबर ही है। इससे स्पष्ट है कि परमात्मा को देखने केलिए ज्ञाननेत्र एवं दिव्यदृष्टि की आवश्यकता है। अब प्रश्न उठता है कि वे नेत्र कैसे प्राप्त होंगे ? इसका उत्तर एक ही है। इसके लिए भगवान का अनुग्रह आवश्यक है। भगवान के कहे अनुसार "ददामिते चक्षुः"। उन्हें भगवान ही देंगे। क्या भगवान सब को ज्ञाननेत्र प्रदान करेंगे ? नहीं। जो अनन्य भक्ति के साथ उनका ध्यान एवं उनकी सेवा करेंगे, उन्हींको भगवान प्रदान करेंगे। अर्जुनने ऐसी योग्यता प्राप्त की। अतः भगवानने उन्हें दिव्यदृष्टि प्रदान की। इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति अगर भक्ति एवं श्रद्धा से भगवान का ध्यान करे, तो उसे भी दिव्य दृष्टि प्राप्त होगी। "तेषां पतत युक्तानां ददामि बुद्धयोगं (१०-१०) विभूतियोग का यह श्लोक इसी तत्त्व को प्रतिपादित करता है। दूरबीन वाला चश्मा कोई पहन ले, तो जल, थल एवं आसमान में स्थित अतिसूक्ष्म पदार्थ थी दिखायी देते हैं। साधारण नेत्रों को वे दिखायी नहीं देते। दूरबीनवाला चश्मा जो पहनेगा, चाहे स्त्री हो या पुरुष, चाहे चांडाल हो या द्विज, चाहे पढा-लिखा हो या अनपढ, सब को सूक्ष्म पदार्थ दिखायी देते हैं। इसी प्रकार परमात्मा ज्ञाननेत्रवाले को ही दिखायी देते हैं। ज्ञाननेत्रवाला चश्मा स्वयं भगवान ही प्रदान करते हैं। उसे कोई प्राप्त न कर सका, तो इसमें दोष किसंका है ? जीव का ही है। जीव के द्वारा ज्ञाननेत्र की प्राप्ति के लिए आवश्यक प्रयत्न न किया जाना इसका कारण है। अतः हर व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अवश्यक अनन्य भक्ति भावना को पहले प्राप्त करे। फिर ज्ञाननेत्र एवं परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त करे, अपना जीवन सार्थक बना ले।

प्रश्न - भगवान को क्या स्थूल नेत्रों से देखना संभव है ?

उत्तर - नहीं, संभव नहीं है।

प्रश्न - किसके द्वारा देखा जा सकता है ?

उत्तर - दिव्यनेत्रों (ज्ञाननेत्र) के द्वारा देखा जा सकता है।

प्रश्न - वे दिव्य नेत्र किनसे प्राप्त होते हैं ?

उत्तर - भगवान के द्वारा प्राप्त होते हैं।

प्रश्न - भगवान उन्हें किसे प्रदान करते हैं ?

उत्तर - अनन्य शक्ति से जो उनका ध्यान करते हैं, उनकी सेवा करते हैं, उनका चिन्तन एवं मनन करते हैं, उन्हींको भगवान ज्ञाननेत्र प्रदान करते हैं।

सञ्जय उवाच

१. *एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।*
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥

शब्दार्थ - सञ्जय उवाच = सञ्जयने कहा। राजन् = हे महाराजा धृतराष्ट्र। महायोगेश्वरः = महायोगेश्वर। हरिः = श्रीकृष्ण। एवम् = इस प्रकार। उक्त्वा = बोलकर। पार्थाय = अर्जुन के लिए। परमम् = सर्वोत्तम। ऐश्वर्यम = ईश्वर सम्बन्धी। रूपम् = रूप को। दर्शयामास = दिखाया।

भावार्थ - सञ्जय बोले - हे राजन् ! महायोगेश्वर और सब पापोंके नाश करनेवाले भगवान्‌ने इस प्रकार कह कर उसके पश्चात् अर्जुन को परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्य स्वरूप दिखलाया।

व्याख्या - श्री वेदव्यास के अनुग्रह से संजय युद्ध क्षेत्र में हो रहा सारा वृत्तांत देख सका। समझ सका। भगवान श्रीकृष्ण के विश्वरूप को देखने का सौभाग्य प्राप्त कर सारा समाचार धृतराष्ट्र को सुनाने लगा।

१०. अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥

११. दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥

शब्दार्थ - अनेकवक्त्रनयनम् = अनेक मुखों एवं नेत्रोंवाले। अनेकाद्भुत दर्शनम् = अनेक अद्भुत दर्शनोंवाले। अनेक दिव्याभरणम् = अनेक दिव्या भूषणों से युक्त। दिव्यानेकोद्यतायुधम् = दिव्य शस्त्रों को उठाये हुए। दिव्यमालाम्बरधरम् = दिव्यमाला एवं वस्त्रों को धारण किये हुए। दिव्यगन्धानुलेपनम् = दिव्यगन्ध का लेप किये हुए। सर्वाश्चर्यम्तयम् = सब प्रकार के आश्चर्यों से युक्त। देवम् = दिव्य। अनन्तम् = अनन्त। विश्वतोमुखम् = सब ओर मुख किये हुए। (विश्वरूप को) दर्शयामास = दिखाया।

भावार्थ - अनेक मुख और नेत्रोंसे युक्त, अनेक अद्भुत दर्शनोंवाले, बहुत - से दिव्य भूषणों से युक्त और बहुत से दिव्य शस्त्रों को हाथों में उठाये हुए, दिव्य माला और वस्त्रों को धारण किये हुए और दिव्य गन्ध का सारे शरीर में लेप किये हुए, सब प्रकारके आश्चर्यों से युक्त, सीमारहित और सब ओर मुख किये हुए विराट्स्वरूप परमदेव परमेश्वर को अर्जुनने देखा।

सम्बन्ध - उपर्युक्त विराट् स्वरूप परमदेव परमेश्वर का प्रकाश कैसा था, अब उसका वर्णन किया जाता है।

१२. दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाःसदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥

शब्दार्थ - दिवि = आसमान में। सूर्यसहस्रस्य = हजारों सूर्यों का। भाः = प्रकाश। युगवत् = एक साथ। उत्थिताभतत् यदि = उदित हो तो। सा = वह। (वह कान्ति)। तस्यमहात्मनः = उस महात्मा को। भासः = प्रकाश के। सदृशी = सदृश। स्यत् = होगा।

भावार्थ - आकाश में हजार सूर्यों के एक साथ उदय होनेसे उत्पन्न जो प्रकाश हो, वह भी उस विश्वरूप परमात्मा के प्रकाश के सदृश कदाचित् ही हो।

सम्बन्ध - भगवान् के उस प्रकाशमय अद्भुत स्वरूप में अर्जुनने सारे विश्व को किस प्रकार देखा, अब यहाँ बतलाया जाता है —

१३. तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥

शब्दार्थ - तदा = तब। पाण्डवः = अर्जुन। अनेकधा = नाना प्रकार से। प्रविभक्तम् = विभाजित। कृत्स्नम्जगत् = समस्त जगत् को। देवदेवस्य = देवदेव श्रीकृष्ण भगवान के। शरीरे = शरीर में। एकस्थम् = एक जगह स्थित। अपश्यत् = देखा।

भावार्थ - पाण्डुपुत्र अर्जुनने उस समय अनेक प्रकार से विभक्त अर्थात् पृथक् - पृथक् सम्पूर्ण जगत् को देवों के देव श्रीकृष्ण भगवान् के उस शरीर में एक जगह स्थित देखा।

व्याख्या - यह सारा संसार परमात्मा में किसी कोने में दबा पडा है। इसी बात का समर्थन सञ्जय इस श्लोक में करते हैं। "प्रविभक्तम्" - परमात्मा अविभक्त हैं। परन्तु जगत् प्रविभक्त है। (विभिन्न रूपों तथा विभिन्न नामों में विभाजित हैं)।

१४. ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥

शब्दार्थ - ततः = बाद। सः धनञ्जयः = वह अर्जुन। विस्मयाविष्ठः = आश्चर्यसे चकित। हृष्टरोमा = पुलकित। देवम् = विश्वरूप परमात्मा को।

शिरसा = सिर से । प्रणम्य = प्रणाम कर । कृताञ्जलिः = हाथ जोडकर । अभाषत = (इस प्रकार) बोले ।

भावार्थ – उसके अनन्तर वे आश्चर्य से चकित और पुलकितशरीर अर्जुन प्रकाशमय विश्वरूप परमात्मा को श्रद्धा - भक्ति- सहित सिर से प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोले —

व्याख्या – सिर झुका कर प्रणाम करना, हाथ जोडना वगैरह क्रियाएं विनय, भक्ति एवं श्रद्धा को सूचित करती हैं ।

सम्बन्ध – उपर्युक्त प्रकार से हर्ष और आश्चर्य से चकित अर्जुन अब भगवान् के विश्वरूप में दीख पड़नेवाले दृश्यों का वर्णन करते हुए उस विश्वरूप का स्तवन करते हैं —

अर्जुन उवाच

१५. *पश्यामि देवांस्तव देव देहे*
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ।।

शब्दार्थ – अर्जुन उवाच = अर्जुन बोले । देव = हे देव । तव देहे = तुम्हारे शरीर में । सर्वान् देवान् = सब देवताओं को । तथा = वैसे ही । भूतविशेषसंघान् = अनेक भूतों के समुदायों को । कमलासनस्थम् = कमल के आसन पर स्थित । ब्रह्माणाम् = ब्रह्मा को । ईशं = शिवजी को । सर्वान् ऋषीन् च = सब ऋषियों को । दिव्यान् उरगान् च = दिव्य सर्पों को । पश्यामि = देखता हूँ ।

भावार्थ - अर्जुन बोले - हे देव ! मैं आप के शरीर में सम्पूर्ण देवों को तथा अनेक भूतों के समुदायों को, कमल के आसन पर विराजित ब्रह्मा को, महादेव को और सम्पूर्ण ऋषियों को तथा दिव्य सर्पों को देखता हूँ ।

१६. *अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं*
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥

शब्दार्थ - विश्वेश्वर = हे संपूर्ण विश्व के स्वामिन्। विश्वरूप = हे विश्वरूप। अनेक बाहूदरवक्त्र नेत्रम् = अनेक भुजा, पेट, मुख और नेत्रों से युक्त। अनन्त रूपम् = अनन्त रूपोंवाला। त्वाम् = तुम्हें। सर्वतः = सर्वत्र। पश्यामि = देखता हूँ। पुनः = फिर। तव = तुम्हारे। आदिम् = आदि को। न पश्यामि = देख नहीं पा रहा हूँ। मध्यम् = मध्य को। न (पश्यामि) देख नहीं पा रहा हूँ। अन्तम् = अन्त को। न (पश्यामि) = देख नहीं पा रहा हूँ।

भावार्थ - हे सम्पूर्ण विश्व के स्वामिन्! आपको अनेक भुजा, पेट, मुख और नेत्रों से युक्त तथा सब अनन्त रूपोंवाला देखता हूँ। हे विश्वरूप! मैं आपके न अन्त को देखता हूँ, न मध्य को और न आदि को ही।

१७. ***किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च***
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥

शब्दार्थ - त्वाम् = तुम्हें। समन्तात = सब जगह। किरीटिनम् = मुकुटयुक्त। गदिनम् = गदायुक्त। चक्रिणम् च = चक्रयुक्त। तेजो राशिम् = प्रकाशमान तेज पुञ्ज। सर्वतः = सब जगह। दीप्ति मन्तम् = ज्योतियुक्त। दीप्तानलार्कद्युतिम् = प्रज्वलित अग्नि एवं सूर्य के सदृश्य दीप्त। अप्रमेयम् = अपरिच्छिन्न। पश्यामि = देखता हूँ।

भावार्थ - आपको मैं मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त तथा सब ओर से प्रकाशमान तेज के पुञ्ज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के सदृश ज्योतियुक्त, कठिनता से देखे जानेयोग्य और सब ओर से अप्रमेय स्वरूप देखता हूँ।

१८. *त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं*
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥

शब्दार्थ - त्वम् = तुम । वेदितव्यं = जाननेयोग्य । परमं अक्षरम् = सर्वोत्तम अक्षर प्रब्रह्म हो । त्वम् = तुम । अस्य विश्वस्य = इस जगत् के । परम् निधानम् = परम आश्रय । त्वम् = तुम । अव्ययः = नाशरहित । शाश्वत धर्म गोप्ता = अनादि धर्म के रक्षक । त्वम् = तुम । सनातनः पुरुषः= सनातन पुरुष । (इति = ऐसा) मे मताः = मेरा मत है ।

भावार्थ - आप ही जाननेयोग्य परम अक्षर अर्थात् परब्रह्म परमात्मा हैं, आप ही इस जगत्के परम आश्रय हैं, आप ही अनादि धर्म के रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं । ऐसा मेरा मत है ।

व्याख्या - यहाँ "शाश्वत धर्म गोप्ता" शब्द पर विशेष ध्यान देना चाहिए । धर्म शाश्वत है । वह किसी भी काल में नष्ट नहीं होता । देश, काल एवं परिस्थितियों के कारण भले ही कभी-कभी उसका प्रचार कम पडे, पर उसका नाश कभी नहीं होता । जब वह कम होगा, तब स्वयं परमात्मा या अन्य महात्मा जन्म लेकर उसे नष्ट होने से बचाते हैं । उसकी रक्षा करते हैं । 'धर्मगोप्ता' कहने से स्पष्ट है कि भगवान धर्म के संरक्षक हैं । जो धर्म भगवान को अत्यंत प्रिय है, यदि लोग उसका अनुसरण करें और उसे आचरण में लावें, तो वे भगवन की कृपा के पात्र बनेंगे ।

१९. *अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।*
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥

शब्दार्थ - अनादिमध्यान्तम् = आदि, अन्त एवं मध्य से रहित । अनन्तवीर्यम् = अनन्त सामर्थ्य से युक्त । अनन्त बाहुम् = अनन्त भुजावाले । शशिसूर्यनेत्रम् = चन्द्र, सूर्यरूप नेत्रोंवाले । दीप्त हुताशवक्त्रम् = प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाले ।

स्वतेजसा = अपने तेज से। इदम् विश्वम् = इस विश्व को। तपन्तम् = संतप्त करते हुए। त्वाम् = तुम्हें। पश्यामि = देखता हूँ।

भावार्थ - आपको आदि, अन्त और मध्यसे रहित, अनन्त सामर्थ्य से युक्त, अनन्त भुजावाले, चन्द्र - सूर्य रूप नेत्रोंवाले, प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाले और अपने तेज से इस जगत् को संतप्त करते हुए देखता हूँ।

२०. द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥

शब्दार्थ - महात्मन् = हे महात्मन्। द्यावा पृथिव्यो = भूमि और आकाश के। इदम् अन्तरम् = यह सारा मध्यप्रदेश। सर्वाः दिशः च = सब दिशाएं। त्वया एकेन = एक तुमसे ही। व्याप्तम् हि = व्याप्त हैं। उग्रम् = उग्र। अद्भुतम् = अद्भुत। तव = तुम्हारे। इदम् = इस (विश्व) रूप को। दृष्ट्वा = देखकर। लोकत्रयम् = तीनों लोक। प्रव्यथितम् = अति व्यथा को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ - हे महात्मन्! यह स्वर्ग और पृथ्वी के बीच का सम्पूर्ण आकाश तथा सब दिशाएँ एक आप से ही परिपूर्ण हैं। तथा आपके इस अलौकिक और भयङ्कर रूप को देखकर तीनों लोक अति व्यथा को प्राप्त हो रहे हैं।

२१. अमी हि त्वां सुरसुङ्घा विशान्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥

शब्दार्थ - अमी = इस। सुरसङ्घा = देवता समूह। त्वाम् = तुममें। विशान्तिहि = प्रवेश करते हैं। केचित् = और कुछ। भीताः = भयभीत होकर। प्राञ्जलयः = हाथ जोडे। गुणन्ति = स्तुति करते हैं। महर्षि सिद्ध संघाः = महर्षि और सिद्धों के समुदाय। स्वस्ति इति उक्त्वा = कल्याण हो ऐसा कहकर। पुष्कलभिः स्तुतिभिः = उत्तम स्तोत्रों के द्वारा। त्वाम् = तुम्हें। स्तुवन्ति = स्तुति करते हैं।

भावार्थ - वे ही देवताओं के समूह आप में प्रवेश करते हैं और कुछ भयभीत

होकर हाथ जोडे आपके नाम और गुणों का उच्चारण करते हैं तथा महर्षि और सिद्धों के समुदाय "कल्याण हो" ऐसा कहकर उत्तम स्तोत्रों द्वारा आपकी स्तुति करते हैं।

व्याख्या - "स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्ध सङ्घाः" महापुरष सदा लोक के हित की ही कामना करते हैं। "स्वस्तिप्रजाभ्यः" यही उनका वचन है।

"स्तुवन्ति" - महर्षि ही भगवान का स्त्रोत्र करते हैं, तो साधारण लोगों का कहना ही क्या है ?

२२. रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥

शब्दार्थ - रुद्रादित्याः = रुद्र और सूर्य। वसवः = वसु। ये च साध्याः = साध्यगण। विश्वे = विश्वदेव। अश्विना = अश्विनीकुमार। गान्धर्व यक्षासुर सिद्ध सङ्घौ = गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धों के समुदाय। सर्वे च एव = ये सब। विस्मिताः = विस्मित होकर। त्वाम् = तुम्हें। वीक्षन्ते = देखते हैं।

भावार्थ - जो ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य तथा आठ वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार तथा मरूद्गण और पितरों का समुदाय तथा गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धों के समुदाय हैं - वे सभी विस्मित होकर आपको देखते हैं।

२३. रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥

शब्दार्थ - महाबाहो = बडी भुजाओंवाले हे कृष्ण ! बहुवक्त्रनेत्रं = बहुत मुख और नेत्रवाले। बहुबाहूरुपादम् = बहुत हाथों, जङ्घाओं और पैरोंवाले। बहूदरम् = बहुत उदरोंवाले। बहुदंष्ट्राकरालम् = बहुत सी दाढों के कारण अत्यन्त विकराल। ते = तुम्हारे। महत् रूपम् = महान रूप। दृष्ट्वा = देखकर।

लोकाः = लोग। प्रव्यथिताः = डरते हैं। तथा = उसी तरह। अहम् (च) = मैं भी। (प्रव्यथितः = डरता हूँ)।

भावार्थ - हे महाबाहो ! आपके बहुत मुख और नेत्रोंवाले, बहुत हाथ, जङ्घा और पैरोंवाले, बहुत उदरोंवाले और बहुत - सी दाढों के कारण अत्यन्त विकराल महान् रूप को देखकर सब लोग व्याकुल हो रहे हैं तथा मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ।

२४. ***नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।***
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो।।

शब्दार्थ - विष्णो = हे विष्णु ! नभः स्पृशम् = आकाश को स्पर्श करनेवाले। दीप्तम् = दीप्तिमान। अनेक वर्णम् = अनेक वर्णों से युक्त। व्यात्ताननं = फैलाये हुए मुखवाले। दीप्त विशाल नेत्रम् = प्रकाशमान विशाल नेत्रों से युक्त। त्वाम् = तुम्हें। दृष्ट्वा = देखकर। प्रव्यथितान्तरात्मा = भयभीत अन्तः करणवाला। अहम् = मैं। धृतिम् = धीरज। शमं च = शान्ति। न विन्दमिहि = नहीं पाता।

भावार्थ - क्योंकि हे विष्णो ! आकाश को स्पर्श करनेवाले, देदीप्यमान, अनेक वर्णों से युक्त तथा फैलाये हुए मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्रों से युक्त आपको देखकर भयभीत अन्तः करणवाला मैं धीरज और शान्ति नहीं पाता हूँ।

२५. ***दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।***
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास।।

शब्दार्थ - दंष्ट्राकरालानि = दाढों के कारण विकराल। कालानलसन्निभानि च = प्रलयकाल की अग्निके समान। ते = तुम्हारे। मुखानि = मुखों को। दृष्ट्वा = देखकर। दिशः = दिशाओं को। न जाने = नहीं जानता। शर्म च =

सुख भी। न एव लभे = नहीं पाता। देवेश = हे देवदेव। जगन्निवास = हे जगदाश्रय। प्रसीद = प्रसन्न होओ।

भावार्थ - दाढों के कारण विकराल और प्रलयकाल की अग्नि के समान प्रज्वलित आपके मुखों को देखकर मैं दिशाओं को नहीं जानता हूँ और सुख भी नहीं पाता हूँ। इसलिये हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न हों।

२६. *अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।*
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥
२७. *वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।*
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥

शब्दार्थ - अमी = इस। धृतराष्ट्रस्य पुत्राः = धृतराष्ट्र के पुत्र। सर्वे = सब। भीष्मः = भीष्माचार्य। द्रोणः = द्रोणाचार्य। असौतपुत्रः = सूत पुत्र कर्ण। अवनिपाल सङ्घैः सहएव = राजाओं के समूह सहित। तथा = उसी प्रकार। अस्मदीयैं = हमारे। योधमुख्यैः अपि सह = प्रधान योद्धाओं सहित। त्वाम् = तुम्हारे। त्वरमाणाः = जल्दी करते हैं। दंष्ट्राकरालानि = दाढों के कारण विकराल। ते = तुम्हरे। वक्त्राणि = मुखों में। विशन्ति = प्रवेश करते हैं। केचित् = कुछ। दशनान्तरेषु = दांतों के बीच में। विलग्नाः = फंसे हुए। चूर्णितैः = चूर्ण हए। उत्तमाङ्गैः = सिरों सहित। संदृश्यन्ते = दीख रहे हैं।

भावार्थ - वे सभी धृतराष्ट्र के पुत्र राजाओं के समुदायसहित आप में प्रवेश कर रहे हैं और भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य तथा वह कर्ण और हमारे पक्षके भी प्रधान योद्धाओं सहित सब - के-सब आपके दाढों के कारण विकराल भयानक मुखों में बड़े वेग से दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं और कई एक चूर्ण हुए सिरोसहित आपके दाँतों के बीच में लगे हुए दीख रहे हैं।

व्याख्या - परमात्मा को भूत, भविष्यद् एवं वर्तमान का भेद नहीं है। भगवान कालातीत हैं। इसलिए उनमें कालसम्बन्धी फरक नहीं होता। इसीलिए भविष्य का विवरण अर्जुन को वर्तमान में दिखायी पडा। भीष्म,

द्रोण, कर्ण आदि कौरवपक्ष के वीर एवं पाण्डवपक्ष वाले भविष्य में मृत्यु के शिकार होकर काल के गर्भ में प्रविष्ट हुए। अर्जुनने इसे विश्वरूप में स्पष्ट देख लिया। इसका मतलब है कि भूत भविष्य एवं वर्तमान सब परमात्मा में विद्यमान हैं। बीते हुए अनेक युग तथा भविष्य के अनेक युग परमात्मा में वर्तमान बनते हैं। परमात्मा कालातीत हैं। इस श्लोक में व्यक्त भावों को अच्छी तरह परखें, तो जीव में वैराग्य उदित होगा। सामने दीख रहे भीष्म, द्रोण आदि सब वीर उसी क्षण भयानक काल के गर्भ में समाते हुए, अर्जुन को दिखायी पडे। इससे जीवों को समझना होगा कि अब जो उनके बन्धु-बान्धव, घर-द्वार, सुख-भोग आदि हैं, वे सब नश्वर हैं। ये सब काल के गर्भ में समा जाएंगे। इस सत्य को जीव समझ लें, तो उसके हृदय में वैराग्य भाव अवश्य पैदा होगा।

भविष्य को वर्तमान में देख सकना ही ज्ञान की दृष्टि है। आगे आनेवाली मृत्यु को अभी देख पाना जीव की विशेषता है। मृत्यु की अहमियत को देखकर जीव के हृदय में नश्वर दृश्य जगत् के प्रति विराग की भावना पैदा होगी। अपने जीवन को सन्मार्ग पर चलाने वह सिद्ध होगा। भोग विलास के प्राति विरक्ति एवं भगवान के प्रति भक्ति जीव के हृदय में पैदा होगी। मृत्यु के शिकार होने के पहले ही लक्ष्य के लिए जोरदार प्रयत्न करना शुरू करेगा।

अतः भगवान श्रीकृष्ण के विश्वरूप में अर्जुनने जिस भूत, भविष्य एवं वर्तमान को देखा, उसे जीव को अपने हृदय में देख लेना चाहिए। विरागी बनकर परमात्मा की प्राप्ति के लिए मुमुक्षुओं को प्रयत्न करना चाहिए।

२८. यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥

शब्दार्थ - यथा = जिस प्रकार। नदीनाम् = नदियों के। बहवः = अनेक।

अम्बूवेगाः = जल प्रवाह। समुद्रम् एव = समुद्र के। अभिमुखाः = सम्मुख। द्रवन्ति = प्रवाहित होते हैं। तथा = उसी प्रकार। अमी = इस। नरलोक वीराः = मनुष्य लोक के वीर। अभिविज्वलन्ति = खूब जल रहे। तव = तुम्हारे। वक्त्राणि = मुखों में। विशन्ति = प्रवेश करते हैं।

भावार्थ - जैसे नदियोंके बहुत से जल के प्रवाह स्वाभाविक ही समुद्रके ही सम्मुख दौड़ते हैं, अर्थात् समुद्र में प्रवेश करते हैं, वैसे ही वे नरलोक के वीर भी आपके प्रज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं।

२९. *यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।*
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥

शब्दार्थ - यथा = जिस प्रकार। पतङ्गाः = पतङ्ग। नाशाय = नष्ट होने। समृद्धवेगाः = अतिवेग से। प्रदीप्तम् = प्रज्वलित। ज्वलनम् = अग्नि में। विशन्ति = प्रवेश करते हैं। तथा एव = उसी प्रकार। लोकाः अपि = लोग भी। समृद्ध वेगाः = अतिवेग से। नाशाय = नष्ट होने। तव = तुम्हारे। वक्त्राणि = मुखों में। विशन्ति = प्रवेश करते हैं।

भावार्थ - जैसे पतङ्ग मोहवश नष्ट होने के लिये प्रज्वलित अग्निमें अतिवेग से दौड़ते हुए प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी अपने नाश के लिये आपके मुखों में अतिवेग से दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं।

सम्बन्ध - दोनों सेनाओं के लोगों के प्रवेश का दृष्टान्त द्वारा वर्णन करके अब उन लोगों को भगवान् किस प्रकार नष्ट कर रहे हैं, इसका वर्णन किया जाता है —

३०. *लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।*
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥

शब्दार्थ - विष्णो = हे विष्णु। ज्वलद्भिः = प्रज्वलित। वदनैः = मुखों से।

समग्रान् लोकान् = समस्त लोगों को। समन्तात = चारों ओर। ग्रसमानः = ग्रास करते हुए। लेलिह्य से = स्वाद ले रहे हैं। तव = तुम्हारे। उग्राः = भयानक। भासः = प्रकाश। तेजोभिः = अपने तेज से। समग्रम् = समस्त। जगत् = जगत् को। आपूर्य = व्याप्त होकर। प्रतपन्ति = बहुत तपा रहे हैं।

भावार्थ - आप उन सम्पूर्ण लोकों को प्रज्वलित मुखों द्वारा ग्रास करते हुए सब ओर से बार-बार चाट रहे हैं। हे विष्णो ! आपका उग्र प्रकाश सम्पूर्ण जगत् को तेज के द्वारा परिपूर्ण करके तपा रहा है।

सम्बन्ध - उपर्युक्त विराट् स्वरूप परमदेव परमेश्वर का प्रकाश कैसा था, अब उसका वर्णन किया जाता है —

३१. आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥

शब्दार्थ - देववर = देवश्रेष्ठ। उग्ररूपः = भयानक आकारवाले। भवान् = तुम। कः = कौन हो। मे = मुझे। आरव्याहि = कहो। हि = क्योंकि । तव प्रवृत्तिम् = तुम्हारी प्रवृत्ति को। न प्रजानामि = नहीं जानता, इसलिए। आद्यम् = आदिपुरुष। भवन्तम् = तुमको। विज्ञातुम = जानने केलिए। इच्छामि = चाहता हूँ। ते = तुम्हें। नमः = नमस्कार। प्रसीद = अनुग्रह करो।

भावार्थ - मुझे बतलाइये कि आप उग्ररूपवाले कौन हैं ? हे देवों मे श्रेष्ठ ! आपको नमस्कार हो। आप प्रसन्न होइये। आदिपुरुष आपको मैं विशेष रूप से जानना चाहता हूँ। क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्ति को नहीं जानता।

व्याख्या - जो भक्त भगवान के बारे में जानना चाहते हैं, उनको अर्जुन की तरह विनम्रता एवं भक्ति भाव से समन्वित होना चाहिए।

सम्बन्ध - इस प्रकार अर्जुनके पूछने पर भगवान् अपने उग्ररूप धारण करने को बतलाते हुए प्रश्नानुसार उत्तर देते हैं —

श्रीभगवानुवाच

३२. कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ।।

शब्दार्थ - श्रीभगवानुवाच = श्री भगवान बोले। (अहम् = मैं।) लोकक्षयकृत = लोक संहारक बनकर। प्रवृद्धः =बढा हुआ। कालः = महाकाल। अस्मि = हूँ। लोकान् = प्राणियों को। समाहर्तुम = संहार करने। इह = इस संसार में। प्रवृत्तः = प्रवृत्त हूँ। प्रत्यनीकेषु = प्रतिपक्ष की सेनाओं में। ये योधाः = जो योद्धा। अवस्थिताः = हैं। सर्वे = सब। त्वां ऋतेऽपि = तुम्हारे बिना भी। न भविष्यन्ति = जिंदा नहीं रहेंगे।

भावार्थ - श्रीभगवान् बोले - मैं लोकों का नाश करनेवाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ। इस समय इन लोकों को नष्ट करने के लिये प्रवृत्त हुआ हूँ। इसलिये जो प्रतिपक्षियों की सेना में स्थित योद्धा लोग हैं, वे सब तेरे बिना भी नहीं रहेंगे, अर्थात् तेरे युद्ध न करने पर भी इन सबका नाश हो जायगा।

सम्बन्ध - इस प्रकार अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देकर अब भगवान् दो श्लोकों द्वारा युद्ध करने में सब प्रकार से लाभ दिखलाकर अर्जुन को युद्ध के लिये उत्साहित करते हुए आज्ञा देते हैं —

३३. तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ।।

शब्दार्थ - तस्मात् = इसलिए। त्वम् = तुम। उत्तिष्ठ = उठो। शत्रून् = शतृओं को। जित्वा = जीतकर। यशः = यश। लभस्व = पाओ। समृद्धम् = परिपूर्ण। राज्यम् = राज्य को। भुङ्क्ष्व = भोगो। एते = ये। मया एव = मुझसे। पूर्वं एव = पहले ही। निहताः = मारे गये। सव्यसाचिन् = हे अर्जुन ! निमित्तमात्रं भव = (तुम) निमित्त मात्र बनो।

भावार्थ - अतएव तू उठ ! यश प्राप्त कर और शत्रुओं को जीतकर धन-धान्य से सम्पन्न राज्य को भोग। ये सब शूरवीर पहले ही से मेरे ही द्वारा मारे हुए हैं। हे सव्यसाचिन् ! तू तो केवल निमित्त मात्र बन जा।

व्याख्या - "निमित्त मात्रं भव" - संसार में सभी कर्म भगवान के द्वारा ही किये जाते हैं। जीव निमित्त मात्र ही बनते हैं। परन्तु अज्ञानी लोग समझते हैं कि मैं कर रहा हूँ। इस तरह कर्तृत्व को महसूस कर दुःख पाते हैं। भगवानने अर्जुन से कह दिया कि हे अर्जुन ! शतृ पहले ही मुझसे मारे गये। अब तुम निमित्त मात्र बन कर युद्ध करो और विजयी बनो। इससे स्पष्ट होता है कि इस संसार में सब कुछ परमात्मा के द्वारा ही हो रहा है। परन्तु लोग अज्ञान में पड कर समझ रहे हैं कि काम सब वे ही कर रहे हैं। अनावश्यक कर्तृत्व की भावना से गर्व करते हैं। लेकिन विज्ञ पुरुष कभी भी ऐसा नहीं सोचता। कर्तृत्व की भावना त्यागकर यह सोचकर कि सब कुछ भगवान ही कर रहे हैं, मैं केवल निमित्त मात्र हूँ, जीव को सतर्क रहना चाहिए। जब वह निरहंकारी बनेगा, तब उसका चित्त निर्मल होगा। भगवान् का अनुग्रह उसे प्राप्त होगा।

"सव्य साचिन्" - इससे स्पष्ट है कि अर्जुन दोनों हाथों से तीर चला सकने में समर्थ हैं।

३४. द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्रान्॥

शब्दार्थ - मया = मुझसे। हतान् = मारे गये। द्रोणं च = द्रोणाचार्य। भीष्मं च = भीष्माचार्य। जयद्रथं च =जयद्रथ। कर्णम् = कर्ण। तथा = वैसे ही। अन्यान् योधवीरान् अपि = इतर योद्धाओं को भी। त्वम् = तुम। जहि = मारो। मा व्यथिष्ठाः = मत डरो। युध्यस्व = युद्ध करते हुए। रणे = युद्ध में। सपत्रान् = शतृओं को। जेतासि = जीत सकते हो।

भावार्थ - द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह तथा जयद्रथ और कर्ण तथा और

भी बहुत से मेरे द्वारा मारे हुए शूरवीर योद्धाओं को तू मार। भय मत-कर। निःसन्देह तू युद्ध में वैरियों को जीतेगा। इसलिये युद्ध कर।

व्याख्या - "मा व्यथिष्ठाः" - भयभीत मत होओ। यह सब के लिए अच्छा उपदेश है। सर्वेश्वर की शरण में जाकर जो अपने कर्तव्य का पालन धर्मबद्ध होकर करता है, उसे भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसीलिए भगवान अर्जुन को अपने कर्तव्य का पालन निडर होकर करने का आदेश देते हैं। "मा व्यथिष्ठाः" भगवान का यह वाक्य सब के लिए शिरोधार्य है। जीवन में लोगों को कई क्लेशों एवं दुःखों का सामना करना पडता है। उस समय भगवान के उक्त वचन का स्मरण कर धीरज से काम करना चाहिए। अर्जुन की तरह सब कुछ भगवान को अर्पित कर निर्मल चित्त से उनके आश्रय में जाकर जीव अपने कर्तव्य का पालन करे, तो उसे निराश होने या दुखी होने की जरूरत नहीं होती। यहाँ "युध्यस्व" (युद्ध करो) शब्द उनके कर्तव्य निर्वहण का बोध कराता है। जेतासि (जीत सकते हो) शब्द फल को सूचित करता है। तुझे कार्य में सफलता पाने का यही उपाय है। जहाँ श्रीकृष्ण रहेंगे, वहाँ विजय तथ्य है।

जब श्रीकृष्ण गीता का बोध करा रहे थे तब भीष्म, द्रोण तथा कर्ण आदि जीवित थे। पर भगवानने अर्जुन से कहा कि उनका मरण हो गया। यह आश्चर्य की बात है। इसका एक कारण है। इस कारण के बारे में २७ वें श्लोक की व्याख्या में बताया गया। भगवान कालातीत हैं। उनके लिए भूत, भविष्य एवं वर्तमान का कोई अन्तर नहीं है। इसीलिए वे भविष्य की घटना को (भीष्म, द्रोण आदि के मरण की बात) वर्तमान काल में दिखा सके। इससे मनुयों को एक अच्छा सबक मिलता है। स्पष्ट ज्ञात है कि लोगों के जितने भी बन्धु एवं बान्धव हैं, सब भविष्य में मृत्यु के अवश्य शिकार बनेंगे

ये सब नश्वर हैं। भविष्य की इस सच्चाई को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। वैराग्य आदि का अभ्यास कर लेना चाहिए। बुद्धदेव इसी तरह "मरण एवं शरीर" आदि के बारे में पहले ही समझ गये कि ये सब नश्वर हैं। अशाश्वत हैं। उसी भावना के कारण वे महोपकार पा सके।

संजय उवाच

३५. ***एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।***
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥

शब्दार्थ - सञ्जय उवाच = संजय बोले। किरीटि = अर्जुन। केशवस्य = श्रीकृष्ण के। एतत् = ये। वचनम् = वचन। श्रुत्वा = सुनकर। वेपमानः = कांपते हुए। कृताञ्जलिः = हाथ जोडकर। कृष्णम् = कृष्णके प्रति। नमस्कृत्वा = नमस्कार कर। भीतभीतः = बहुत भयभीत होते हुए। प्रणम्य = विनम्र होकर। सगद्गदम् = गद्गद्स्वर से। भूय एव = फिर। अह = (इस तरह) बोले।

भावार्थ- संजय बोले - केशव भगवान् के इस वचन को सुनकर मुकुटधारी अर्जुन हाथ जोड़ कर काँपता हुआ नमस्कार करके, फिर भी अत्यन्त भयभीत होकर प्रणाम करके भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति गद्गद वाणी से बोला।

व्याख्या - (१) हाथ जोडना (२) प्रणाम करना (३) विनम्र रहना आदि क्रियाएं अर्जुन की भक्ति भावना एवं विनम्रता को सूचित करती हैं।

सम्बन्ध - अब छत्तीसवें से छियालीसवें श्लोक तक अर्जुन द्वारा किये हुए भगवान् के स्तवन, नमस्कार और क्षमाया चनासहित प्रार्थना का वर्णन है, उसमें प्रथम 'स्थाने' पद का प्रयोग करके जगत् के हर्षित होने आदि का औचित्य बतलाते हैं —

अर्जुन उवाच

३६. ***स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।***
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः॥

शब्दार्थ - अर्जुन उवाच = अर्जुन बोले। हृषीकेश = हे कृष्ण। तव = तुम्हारे। प्रकीर्त्या = नाम के स्मरण से। जगत् = जगत्। प्रहृष्यति = बहुत खुश होता है। अनुरज्यते = अनुराग पा रहा है। रक्षांसि = राक्षस। भीतानि = भयभीत होकर। दिशः = दिशाओं में। द्रवन्ति = दौड रहे हैं। सर्वे सिद्ध संघाः = सिद्ध गणों के समुदाय। नमस्यन्ति च = नमस्कार करते हैं। (एतानि = ये सब)। स्थाने = (आपकी महिमा के) योग्य हैं।

भावार्थ - अर्जुन बोले - हे अन्तर्यामिन्! यह योग्य ही है कि आपके नाम, गुण और प्रभाव के कीर्तन से जगत् अति हर्षित हो रहा है और अनुराग को भी प्राप्त हो रहा है तथा भयभीत राक्षस लोग दिशाओं में भाग रहे हैं और सब सिद्धगणों के समुदाय नमस्कार कर रहे हैं।

व्याख्या - "तवप्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यति" - अर्जुन ने कहा कि भगवान के नाम संकीर्तन तथा भगवान की महिमा के कथन से लोग हर्षित होते हैं। 'हृष्यति' न कहकर "प्रहृष्यति" कहा। इससे स्पष्ट है कि लोग इससे अपार आनन्द पाते हैं। अतिहर्ष एवं दुःखराहित्य केलिए भगवान के नाम का स्मरण तथा भगवान की महिमा का गान सर्वोपरि हैं। 'रक्षांसि भीतानि दिशोद्रवन्ति" - कहा गया कि भगवान के दर्शन से राक्षस भाग रहे हैं। मतलब यह कि जहाँ परमात्मा विद्यमान होते हैं, जहाँ सद्गुण विराजमान होते हैं, वहाँ भूत प्रेत पिशाच एवं राक्षस आदि नहीं होते। काम क्रोध मद मात्सर्य आदि दुष्ट प्रवृत्तियाँ नहीं होती। राक्षस बाहर ही नहीं, मनुष्य के हृदय में भी रहते हैं। वे दुष्ट प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं। अपने हृदय को जब जीव सद्प्रवृत्तियों से भर लेता है, भगवान के संकीर्तन से अपने हृदय को पावन बना लेता है, तब आसुरी प्रवृत्तियां वहाँ से भाग जाती हैं। इसीलिए अर्जुनने भगवान की स्तुति की।

कुछ विद्वानों तथा जानकारों का कथन है कि इस श्लोक में बीजाक्षर

बहुत हैं। जो इस श्लोक का जप करते हैं, भूत प्रेत पिशाच्च आदि उनका कुछ नहीं बिगड सकते। जो लोग भूतप्रेत पिशाच आदि से पीडित होते हैं वे भक्ति एवं श्रद्धा से इस श्लोक का पाठ करें, तो उनकी व्यथा दूर हो जाएगी।

३७. *कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।*
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥

शब्दार्थ - महात्मन् = हे महात्मन्। अनन्त = शाश्वत। देवेश = हे देवदेव। जगन्निवास = हे जगदाश्रय। सत् = सत्पदार्थ। असत् च = असत्पदार्थ। यत् = जो है। तत्परम् = उन दोनों से परे। अक्षरम् = अक्षर परब्रह्म। त्वम् = तुम्ही (हो)। ब्राह्मणः अपि = ब्रह्म के भी। आदिकर्त्रे = आदिकारण हो। = गरीयसी = सर्वोत्कृष्ट हो। ते = तुम्हें। कस्मात् = कैसे। न नमेरन् = नमस्कार न करें ?

भावार्थ - हे महात्मन्! ब्रह्माके भी आदिकर्ता और सबसे बड़े आपके लिये वे कैसे नमस्कार न करें ? क्योंकि हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! जो सत्, असत् और उनसे परे अक्षर अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है, वह आप ही हैं।

व्याख्या - "सददसत्तत्परम्" - परमात्मा सत् और असत् से परे हैं। सत् याने स्थूल पदार्थ है। असत् याने सूक्ष्म पदार्थ है। परमात्मा इन दोनों से परे हैं। सत् याने मन और असत् याने देह कहा जा सकता है। स्थूल भौतिक जगत् एवं सूक्ष्म मनः जगत् दोनों परमार्थ की दृष्टि से मिथ्या ही हैं। परमात्मा एक ही सत्य हैं। इसीलिए यहाँ कहा गया कि भगवान उन दोनों मिथ्याओं से परे हैं।

पश्न - परमात्मा कैसे हैं ?

उत्तर - १ सर्वश्रेष्ठ हैं। २. ब्रह्मदेव के भी आदिकारण हैं। ३. अनन्त हैं। ४.

देवताओं के प्रभु हैं। ५. जगत् के आश्रय हैं। ६. अविनाशी हैं। ७. सत् असत् से परे हैं।

३८. त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥

शब्दार्थ - अनन्तरूप = हे अनन्तरूप कृष्ण ! त्वम् = तुम। आदिदेवः = आदिदेव हो। पुराणपुरुषः = सनातन पुरुष हो। अस्यविश्वस्य = इस संसार के। परम् = श्रेष्ठ। निधानम् = आधारभूत हो। वेत्ता = सबकुछ जाननेवाले हो। वेद्यं च = जानने योग्य हो। परंधाम च = सर्वोत्तमस्थान। त्वम् = तुम। असि = हो। त्वया = तुमसे। विश्वम् = समस्त विश्व। ततम् = व्याप्त है।

भावार्थ - आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं, आप इस जगत् के परम आश्रय और जाननेवाले तथा जाननेयोग्य और परम धाम हैं। हे अनन्तरूप ! आपसे यह सब जगत् व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है।

व्याख्या -

प्रश्न - परमात्मा किस प्रकार के लक्षणों से युक्त हैं ?

उत्तर - १. आदिदेव हैं। २. प्राचीन पुरुष हैं। ३. संसार के आधारभूत हैं। ४. सब जाननेवाले हैं। ५. ज्ञात करने के योग्य हैं। ६. सर्वोत्तम स्थान हैं। ७. संसार भर में व्याप्त हैं। ८. अनन्तरूप हैं।

३९. वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥

शब्दार्थ - वायुः = वायु। यमः = यम। अग्निः = अग्नि। वरुणः = वरुण। शशाङ्कः = चन्द्र। प्रजापतिः = ब्रह्मदेव। प्रपितामहः च = ब्रह्मदेव के पिता। त्वं = तुम ही हो। ते = तुम्हें। सहस्रकृत्वः = हजार बार। नमोनमः =

नमस्कार। अस्तु = हो। ते = तुम्हें। पुनः च = फिर से। नमः = नमस्कार। भूयः अपि = फिर से। नमः = नमस्कार।

भावार्थ - आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजा के स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्मा के भी पिता हैं। आपके लिये हजारों बार नमस्कार! नमस्कार हो!! आपके लिये फिर भी बार-बार नमस्कार! नमस्कार!!

व्याख्या - अर्जुन के हृदय में भगवान के प्रति जो अनुपम भक्ति पैदा हुयी, वह साधक के लिए अत्यंत आवश्यक है।

४०. नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥

शब्दार्थ - सर्व = सर्वरूप कृष्ण। पुरस्तात् = सामने। पृष्ठतः = पीछे। ते = तुमको। नमः = नमस्कार। अस्तु = हो। अनन्तवीर्यामित विक्रमः = अपरिमत सामर्थ्य एवं पराक्रम से युक्त हो। त्वम् = तुम। सर्वम् = समस्त। समाप्नोषि = खूब व्याप्त हो। ततः = इससे। सर्वः = सर्वस्व रूप। अपि = बने हुए हो।

भावार्थ - हे अनन्त सामर्थ्यवाले! आपके लिये आगे से और पीछे से भी नमस्कार! हे सर्वात्मन्! आपके लिये सब ओर से ही नमस्कार हो। क्योंकि अनन्त पराक्रमशाली आप सारे संसार को व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप ही सर्वरूप हैं।

व्याख्या - अर्जुन अपने हृदय की उमडती भक्ति भावना व्यक्त करते हैं। "अनन्त वीर्यामित विक्रमः" - भगवान अपरिमित शक्तिशाली हैं। छोटे से पंखे से थोडी सी हवा मिलती है। झंझा चले तो अपरिमित हवा मिलती है। पहली मनुष्य-शक्ति है। दूसरी दैवी शक्ति है। बरतनों तथा बालिटयों से भरकर लावें, तो जल थोडा मिलेगा। परन्तु मूसलधार वर्षा हो, तो जल खूब मिलेगा। पहली मानवीय शक्ति है। दूसरी दैवी शक्ति है। मनुष्य की

शक्ति एवं परमात्मा की शक्ति दोनों में यही अन्तर है। इसीलिए अर्जुनने भगवान को "अनन्तवीर्यामितविक्रम" कहा। इसलिए मनुष्य को अपनी अल्प शक्ति पर घमंड नहीं करना चाहिए। सर्वशक्तिशाली परमात्मा के प्रति अकुंठित भक्ति भाव रखना चाहिए।

प्रश्न - परमात्मा कैसे हैं ?

उत्तर - १. अनन्तशक्तिशाली हैं। २. अपरिमित पराक्रमी हैं। ३. सर्वत्र व्याप्त हैं। ४. सर्वरूप हैं।

सम्बन्ध - इस प्रकार भगवान् की स्तुति और प्रणाम कर के अब भगवान् के गुण, रहस्य और माहात्म्य को यथार्थ न जाननेके कारण वाणी और क्रिया द्वारा किये गये अपराधों को क्षमा करने के लिये दो श्लोकों में भगवान् से अर्जुन प्रार्थना करते हैं —

४१. सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥

४२. यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥

शब्दार्थ - अच्युत = अवनिाशी हे कृष्ण। तव = तुम्हारी। इदम् = इस। महिमानम् = महिमा को। अजानता = न जाननेवाले। मया = मुझसे। प्रमादात् = अज्ञान से। प्रणयेनवाअपि = स्नेह से। सखा इति = सखा। मत्वा =समझ कर। हे कृष्ण=हे कृष्ण। हे यादव=हे यादव। हे सखा = हे सखा। इति = ऐसा। प्रसभम् = लापरवाही से। यत् = जो। उक्तम् = कहा गया। विहारशय्यासन भोजनेषु = विहार करते समय, लेटते समय, बैठते समय, भोजन करते समय। एकः = अकेले रहते समय। अथवा = या। तत् समक्षं अपि = दूसरों के सामने। अपहासार्थम् = परिहास के लिए। असत्कृतः

अपि (इति) यत् च = अपमानित किये गए जो है। तत् = उसे। अप्रमेयम् = प्रमाणों से न समझे जानेवाले। त्वाम् = तुम्हें। अहम् = मैं। क्षामये = क्षमा करने की प्रार्थना करता हूँ।

भावार्थ- आपके इस प्रभाव को न जानते हुए, आप मेरे सखा हैं, ऐसा मान कर प्रेम से अथवा प्रमाद से भी मैंने 'हे कृष्ण!', 'हे सखे!' इस प्रकार जो कुछ बिना सोचे - समझे हठात् कहा हैं;और हे अच्युत! आप जो मेरे द्वारा विनोद के लिये विहार, शय्या, आसन और भोजनादि में अकेले अथवा उन सखाओं के सामने भी अपमानित किये गये हैं - सब अपराध अप्रमेय स्वरूप अर्थात् अचिन्त्य प्रभाववाले आपसे मैं क्षमा करवाता हूँ।

व्याख्या - गलत काम करें, तो पछताकर उसे फिर से न करना विज्ञ पुरुषों का लक्षण है।

४३. पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥

शब्दार्थ - अप्रतिम प्रभाव = हे अनुपम प्रभाववाले। त्वम् = तुम। चराचरस्य = चराचर से युक्त। अस्यलोकस्य = इस संसार के। पिता = पिता। अपि = हो। च = और। पूज्यः = पूजनीय। गरीयात् गुरुः = सर्वश्रेष्ठ गुरु। (अपि = हो) लोकत्रये अपि = तीनों लोकों में। त्वत्समः = तुम्हारे समान का। अन्यः = और एक। कुतः = कहाँ ?

भावार्थ - आप इस चराचर जगत् के पिता और सब से बड़े गुरु एवं अति पूजनीय हैं। हे अनुपम प्रभाववाले! तीनों लोकों में आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर तो कैसे हो सकता है।

व्याख्या - चराचर जगत् एवं समस्त जीवराशि के पिता भगवान ही हैं। वे ही मां हैं । वे ही गुरु हैं। गुरुओं में सर्वोत्तम हैं। इसीलिए "गुरुर्गरीयान्"

कहा गया। वे एक ही सद्वस्तु हैं। इसलिए स्पष्ट है कि चूँकि परमात्मा को छोड बाकी कुछ नहीं है, अतः उनके समान तथा उनसे श्रेष्ठ अन्य कोई नहीं है। अतः सब को उन्हीं के आश्रय में जाना चाहिए। '''गरीयान्'' इस शब्द को गुरु के विशेषण के रूप में न लेकर अलग रूप से भी लिया जा सकता है। जैसे (गरीयान् =श्रेष्ठ हो)।

प्रश्न - परमात्मा कैसे हैं ?

उत्तर - (१) चराचर जगत् के पिता हैं।

(२) परम पूज्य हैं।

(३) उत्तम गुरु हैं।

(४) तीनों लोकों में अनुपम हैं।

(५) उनके बराबर का तथा उनसे बढकर श्रेष्ठ दूसरा कोई नहीं है।

४४. ***तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।***
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥

शब्दार्थ - तस्मात् = इसलिए। कायम् = शरीर को। प्रणिधाय = साष्ठांग कर। प्रणम्य = नमस्कार कर। ईशम् = ईश्वर। ईड्यम् = स्तुति करने योग्य। त्वाम् = तुम्हें। प्रसादये = प्रसन्न होने प्रार्थना करता हूँ। देव = हे देव। पुत्रस्य = पुत्र के। (अपराध को)। पिता इव = पिता की तरह। सख्युः = सखा की। (गलती को) सखाइव = सरवा की तरह। प्रियायाः = प्रियतमा की (गलती को) प्रियः (इव) = प्रिय की तरह। (मे = मेरे। अपराधम् = अपराध को)। सोंढुम् = सहने को। अर्हसि = योग्य हो।

भावार्थ- अतएव हे प्रभो ! मैं शरीर को भलीभाँति चरणों में निवेदित कर, प्रणाम करके, स्तुति करनेयोग्य आप ईश्वर को प्रसन्न होने के लिये प्रार्थना

करता हूँ। अपराध सहन करते हैं - वैसे ही आप भी मेरे अपराध को सहन करने योग्य हैं।

व्याख्या - "प्रणिधाय कायम्" - बडों को नमस्कार करने की पद्धति यहां बतायी गयी है। अर्जुन के बहाने जगत् को बताया गया कि सारे शरीर को भूमि पर झुकाकर बडों को साष्टांग नमस्कार करना चाहिए। इस क्रिया से दर्प एवं अहंकार मिट जाते हैं। इसीलिए हिन्दू धर्म में साष्टांग नमस्कार की पद्धति को महत्त्व दिया गया। इससे मनुष्य बडों के अनुग्रह का पात्र बनेगा। अर्जुन वैसा करके भगवान श्रीकृष्ण के अनुग्रह के पात्र बने। विश्वामित्र वैसा ही करके वसिष्ठ के अनुग्रह के पात्र बने, ब्रह्मर्षि बने। वास्तव में शरीर के साथ मन एवं वाणी में भी विनम्रता आनी चाहिए।

अर्जुनने विनम्रता से अपनी गलतियों को माफ करने की प्रार्थना की। निर्मल भक्ति से भरे हृदय से जो व्यक्ति प्रार्थना करता है, उसे भगवान अवश्य सुनते हैं।

प्रश्न - परमात्मा कैसे हैं ?

उत्तर - (१) सब लोकों के प्रभु हैं।

(२) स्तुति के योग्य हैं।

प्रश्न - भगवान तथा बडों को किस प्रकार नमस्कार करना चाहिए ?

उत्तर - निर्मल भक्ति से उनको साष्टांग नमस्कार करना चहिए।

सम्बन्ध - इस प्रकार भगवान् से अपने अपराधों के लिये क्षमा - याचना करके अब अर्जुन दो श्लोकों में भगवान् से चतुर्भुजरूप का दर्शन कराने के लिये प्रार्थना करते हैं —

४५. अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देवरूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ।।

शब्दार्थ - अदृष्टपूर्वम् = पहले न देखे इस आश्चर्यमय रूप को । दृष्ट्वा = देखकर । हृषितः = हर्षित । अस्मि = हो रहा हूँ । च = और । मे = मेरा । मनः= मन । भयेन = भय से । प्रव्यथितम् = व्याकुल है । देव = हे देव । तत् रूपम् एव = पूर्व का शान्त रूप ही । मे = मुझे । दर्शय = दिखाओ । देवेश = हे देवदेव । जगन्निवास = हे जगत् के आधार । प्रसीद = अनुग्रह करो ।

भावार्थ - मैं पहले न देखे हुए आपके इस आश्चर्यमय रूप को देखकर हर्षित हो रहा हूँ और मेरा मन भय से अति व्याकुल भी हो रहा है । इसलिये आप उस अपने चतुर्भुज विष्णु रूप को ही मुझे दिखलाइये ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न होइये ।

व्याख्या - अद्भुत विश्वरूप देखकर अर्जुन को बडा हर्ष हुआ । विश्वरूप में निहित भयानक दृश्यों को देखकर भय हुआ । सारे शरीर में कंपन हुआ । उस भय को दूर करने के लिए सौम्य रूप दिखाने की प्रार्थना उन्होंने भगवान से की ।

"प्रसीद देवेश जगन्निवास" - यही वाक्य इस अध्याय के २५वें श्लोक में अर्जुनने कहा । उन्होंने कहा कि हे देवदेव ! हे जगत् के आधार ! करुणा करो । अनुग्रह करो । कुछ विद्वानोंने "देव" एवं "रूपम्" इन दोनों शब्दों को जोडकर देवरूपम् =चतुर्भुजाकार देव (विष्णु) रूप दिखाओ" का अर्थ बताया ।

४६. किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ।।

शब्दार्थ - अहम् = मैं । त्वाम् = तुम्हें । तथा एव = पूर्व की तरह । किरीटिनम्=

मुकुट धारण किए हुए। गदिनम् = गदा धारण किए हुए। चक्र हस्तम् = चक्र हाथ में लिए हुए। द्रष्टुम् = देखना। इच्छामि = चाहता हूँ। सहस्रबाहो = हे सहस्रबाहो। विश्वमूर्ति = हे विश्वस्वरूप। चतुर्भुजेन =चतुर्भुज वाले। तेन रूपेण एव = उसी रूप में। भव = होओ।

भावार्थ - मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए तथा गदा और चक्र हाथ में लिये हुए देखना चाहता हूँ। इसलिये हे विश्वस्वरूप ! हे सहस्त्रबाहो ! आप उसी चतुर्भुजरूप से प्रकट होइये।

व्याख्या - "तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन" उस चतुर्भुजरूप में ही "दर्शन दो"। अर्जुन के इस प्रश्न से ज्ञात होता है कि अर्जुनने भगवान के उस रूप को पहले देखा। कब देखा ? इस अध्याय के ४१ तथा ४२ वें श्लोकों में अर्जुनने भगवान श्रीकृष्ण से कहा कि "सामान्य सखा मानकर हास परिहास के जो वाक्य मैंने कहे, उसके लिए मुझे माफ कर दो।" अर्जुन की इस प्रार्थना से स्पष्ट होता है कि अर्जुन ने इसके पूर्व कभी भगवान के चतुर्भुजाकार को नहीं देखा। कयोंकि वे पहले ही देखते, तो ऐसी प्रार्थना नहीं करते। कहाँ चतुर्भुजाकार परमात्मा और कहाँ सखा ! ये दोनों वाक्य परस्पर मेल नहीं खाते। निम्न प्रकार से समन्वय लाया जा सकता है।

(१) संभव है कि विश्वरूप दिखाने के पहले शायद भगवान श्रीकृष्णने अर्जुन को अपना चतुर्भुजाकार रूप दिखाया हो। ५०वें श्लोक में कहा गया कि "भूयः स्वकं रूपं दर्शयामास" (फिर अपना रूप दिखाया)। झट कहा गया कि "पुनः सौम्यवपुमहात्मा" (फिर शान्तरूप धारण किया)। इससे लगता है कि भगवानने पहले अपना चतुर्भुजाकार दिखाया, फिर शान्त मानव रूप दर्शाया।

(२) यह भी संभव है कि अर्जुनने सुना हो कि जब देवकी के गर्भ से श्रीकृष्ण पैदा हुए, तब उनकी देह पर शंख चक्र आदि चिह्न थे।

(३) अर्जुन को मालूम था कि भगवान श्रीकृष्ण साधारण व्यक्ति नहीं हैं। विश्वरूप संदर्शन से उन्हें यह बात ज्ञात हो गयी कि वे स्वयं भगवान विष्णु ही हैं। इसलिए संभव है कि अर्जुनने सोचा हो कि वैकुण्ठ में उन चिह्नों के साथ ही वे सदा प्रसन्नचित्त विराजमान रहते हैं।

सम्बन्ध - अर्जुनकी प्रार्थना पर अब अगले दो श्लोकों में भगवान् अपने विश्वरूप की महिमा और दुर्लभता का वर्णन करते हुए उनचासवें श्लोक में अर्जुनको आश्वासन देकर चतुर्भुजरूप देखने के लिये कहते हैं —

श्रीभगवानुवाच

४७. मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥

शब्दार्थ - श्री भगवानुवाच = श्री भगवान बोले। तेजोमयम् = तेजोमय। विश्वम् = विश्वरूप। अनन्त = सीमारहित। आद्यम = प्रथम। त्वदन्येन = तुम्हारे सिवा किसी अन्य से। न दृष्टपूर्वम् = पहले कभी न देखा गया। मे = मेरे। यत् इदम् परम् रूपम् = सर्वोत्तम विश्वरूप। (आद्राक्षीः = देखा)। तत् = उस रूप को। प्रसन्नेन मया = प्रसन्न हुए मुझसे। तव = तुम्हें। आत्म योगात् = मेरी योग शक्ति के द्वारा। दर्शितम् = दिखाया गया।

भावार्थ - श्री भगवान् बोले - हे अर्जुन! अनुग्रहपूर्वक मैंने अपनी योगशक्ति के प्रभाव से यह मेरा परम तेजोमय, सब का आदि और सीमारहित विराट् रूप तुझको दिखलाया है, जिसे तेरे अतिरिक्त दूसरे किसीने पहले नहीं देखा था।

व्याख्या - "मया प्रसन्नेन" कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि अनन्य भक्तिवाले पर भगवान अनुग्रह दिखाएंगे।

प्रश्न - भगवान् कैसा है ?

उत्तर - (१) तेजोमय है (२) विश्वप्याप्त है। (३) अनन्तरूप है।
(४) आद्यरूप है।

४८. न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥

शब्दार्थ - कुरुप्रवीर = कुरुवंश के श्रेष्ठ हे अर्जुन ! एवं रूपः = ऐसे रूपवाले। अहम् = मैं। नृलोके = मनुष्य लोक में। त्वदन्येन = तुझे छोड किसी दूसरे से। वेदयज्ञाध्ययनैः = वेदाध्ययन एवं यज्ञाध्ययन के द्वारा। द्रष्टुं = देखने को। न शक्यः = साध्य नहीं हूँ। दानै = दानों से। न = देखा नहीं जाता हूँ। क्रियाभिः = क्रियाओं से। न = देखा नहीं जाता। उग्रैः तपोभिः च = घोर तप से भी। न = नहीं देखा जाता हूँ।

भावार्थ - हे अर्जुन ! मनुष्य लोक में इस प्रकार विश्वरूपवाला मैं न वेद और यज्ञोंके अध्ययन से, न दान से, न क्रियाओं से और न उग्र तपों से ही तेरे अतिरिक्त दूसरे के द्वारा देखा जा सकता हूँ।

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि वेदाध्ययन एवं यज्ञाध्ययन से मैं देखा नहीं जाता। इसका मतलब यह नहीं कि वे सब व्यर्थ हैं। यहाँ मतलब इतना ही है कि इन सब के साथ भक्ति का सम्मिश्रण नहीं हो, तो वे उतने उपयोगी नहीं हैं। जितना भी श्रम क्यों न करें, जिस प्रकार शक्ति के बिना खेत में धान पैदा नहीं हो सकता, उसी प्रकार अनन्य भक्ति के बिना परमपद पाना उक्त क्रियाओं से संभव नहीं।

४९. मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥

शब्दार्थ - ईदृक् = ऐसे। घोरम् = भयंकर। मम = मेरे। इदम् रूपम् = इस रूप को। दृष्ट्वा = देख कर। ते = तुम्हें। व्यथा = व्यथा। मा = नहीं होनी

चाहिए। त्वम् = तुम। व्यपेतभीः = भयरहित। प्रीतमनाः = प्रसन्नचित्त होकर। मे = मेरे। तत् इदम् रूपम् एव = उस पूर्वरूप को ही। पुनः = फिर से। प्रपश्य = अच्छी तरह देखो।

भावार्थ – मेरे इस प्रकार के इस विकराल रूप को देखकर तुझको व्याकुलता नहीं होनी चाहिये और मूढ़भाव भी नहीं होना चाहिये। तू भयरहित और प्रीतियुक्त मनवाला होकर उसी मेरे इस शङ्ख - चक्र - गदा- पद्मयुक्त चतुर्भुज रूप को फिर देख।

सम्बन्ध - इस प्रकार चतुर्भुजरूप का दर्शन करनेके लिये अर्जुन को आज्ञा देकर भगवान्ने क्या किया, अब सञ्जय धृतराष्ट्र से वही कहते हैं —

सञ्जय उवाच

५०. इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥

शब्दार्थ - सञ्जय उवाच = सञ्जय बोले। इति = इस प्रकार। वासुदेवः = श्रीकृष्णने। अर्जुनम् = अर्जुन से। उक्त्वा = कहकर। तथा = उसी प्रकार। स्वकं रूपं= अपना पूर्व रूप ही। भूयः = फिर। दर्शयामास = दिखाया। महात्मा = महात्मा श्रीकृष्ण। पुनः च = फिर से। सौम्यवपुः = शान्तरूप। भूत्वा = होकर। भीतम् = डरे हुए। एनम् = अर्जुन को। आश्वासयामास = धीरज दिया।

भावार्थ - सञ्जय बोले - वासुदेव भगवान् ने अर्जुन के प्रति इस प्रकार कहकर फिर वैसे ही अपने चतुर्भुज रूपको दिखलाया और फिर महात्मा श्रीकृष्णने सौम्यमूर्ति होकर इस भयभीत अर्जुन को धीरज दिया।

व्याख्या - यहाँ कहा गया कि भगवान ने दो बार अपना रूप दर्शाया। इससे लगता है कि पहले अर्जुन की अभिलाषा एवं मांग के अनुसार चतुर्भुजाकार

में भगवान ने अपना विराट्रूप दर्शाया। फिर इसके बाद अपना सौम्यरूप संभव है भगवान ने दिखाया हो।

सम्बन्ध - इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने विश्वरूप को संवरण करके, चतुर्भुज रूप के दर्शन देने के पश्चात् जब स्वाभाविक मानुषरूप से युक्त होकर अर्जुन को आश्वासान दिया, तब अर्जुन सावधान होकर कहने लगे -

अर्जुन उवाच

५१. दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥

शब्दार्थ - अर्जुन उवाच = अर्जुन बोले। जनार्दन = हे कृष्ण। तव = तुम्हारे। सौम्यम् = प्रसन्न। इदं मानुषं रूपम् = इस मनुष्यरूप को। दृष्ट्वा = देखकर। इदानीम् = अब। सचेताः =स्थिर चित्त। संवृत्तः = हुआ। प्रकृतिम् = स्वस्थता। गतः अस्मि = पा गया हूँ।

भावार्थ - अर्जुन बोले - हे जनार्दन ! आपके इस अति शान्त मनुष्यरूप को देखकर अब मैं स्थिरचित्त हो गया हूँ और अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त हो गया हूँ।

सम्बन्ध - इस प्रकार अर्जुनके वचन सुनकर अब भगवान् दो श्लोकों द्वारा अपने चतुर्भुज देवरूप के दर्शन की दुर्लभता और उसकी महिमा का वर्णन करते हैं -

श्रीभगवानुवाच

५२. सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥

शब्दार्थ - श्री भगवानुवाच = श्री भगवान बोले। मम = मेरे। यत् = जिस रूप को। दृष्टवान् असि = देखनेवाले बने। इदम् रूपम् = वह यह (विश्व) रूप। सुदुर्दर्शम् = देखने को अत्यन्त दुर्लभ है। देवाः अपि = देवता भी।

नित्यम् = सदा। अस्य रूपस्य = इस रूप के। दर्शन काङ्क्षिणः = दर्शन के आकांक्षी हैं।

भावार्थ - श्री भगवान् बोले - मेरा जो चतुर्भुज रूप तुमने देखा है, यह सुदुर्दर्श है अर्थात् इसके दर्शन बड़े ही दुर्लभ हैं। देवता भी सदा इस रूपकी आकाङ्क्षा करते रहते हैं।

व्याख्या - भगवान के स्वरूप को साधारण लोग देख नहीं सकते। निर्मलचित्तवाले ही बडी मुश्किल से उसे देख सकते हैं। इसीलिए "दुर्दर्शम्" न कह कर "सुदुर्दर्शम्" कहा गया। "भगवान के दर्शन महादुर्लभ हैं" यही इसका मतलब है।

५३. *नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।*
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥

शब्दार्थ - माम् = मुझे। यथा = जिस रीति से। दृष्टवान अपि = देखनेवाला बना। एवम् विधः = ऐसे (स्वरूपवाले)। अहम् = मैं। वेदैः = वेदों से। द्रष्टु = देखने। न शक्यः = साध्य नहीं। तपसा = तपस्या से। न = नहीं। दानेन = दान से। न = नहीं। इज्यया = यज्ञ से। न च = नहीं।

भावार्थ - जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है - इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं न वेदों से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से ही देखा जा सकता हूँ।

व्याख्या - ४८ वे श्लोक में जो बताया गया, वही इस श्लोक में भी बताया गया है। यह बताया गया कि यद्यपि वेदाध्ययन, तप, दान और यज्ञ आदि क्रियाएं पवित्र हैं तथापि निर्मल भक्ति अचंचल दैवी विश्वास को उनके साथ जोडने पर ही वे सत्फल देते हैं। (यह विषय अगले श्लोक में बताया जाएगा)।

५४. *भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।*
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

शब्दार्थ - परंतप = शतृओं को तपानेवाले । अर्जुन् = हे अर्जुन । एवम् विधो अहम् = ऐसा मैं । अनन्यया भक्तातु = अनन्य भक्तिमात्र के द्वारा ही । तत्वेन = यथार्थरूप से । ज्ञातुम् = जानने को । द्रष्टुंच = देखने को । प्रवेष्टुं च = प्रविष्ट होने को । शक्यः (अस्मि) = साध्य (होता हूँ) ।

भावार्थ - परन्तु हे परंतप अर्जुन ! अनन्य भक्ति के द्वारा इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखने के लिये, तत्त्व से जानने के लिये तथा प्रवेश करने के लिये अर्थात् एकीभाव से प्राप्त होने के लिये भी शक्य हूँ।

व्याख्या - पिछले श्लोक में बताया गया कि वेदाध्यायन तथा यज्ञाध्ययन आदि से भगवान के दर्शन नहीं हो सकते । फिर यह बताया गया कि भगवान के दर्शन कैसे हो सकते हैं। चूंकि भगवान के दर्शन के लिए उपाय इस श्लोक में बताया गया, अतः यह श्लोक अत्यन्त महत्व रखता है । मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे इस श्लोक का पाठ अच्छी तरह करें और उसके भाव को अमल में लाने का प्रयत्न करें।

यहाँ बताया गया कि अनन्य भक्ति से साधक भगवान के दर्शन कर सकता है। भक्ति शब्द के साथ विशेषण के रूप में अनन्य का प्रयोग किया गया । इससे स्पष्ट होता है कि साधक को केवल भगवान के प्रति अनन्य भक्ति रखनी चाहिए। अनन्य भक्ति वही है, जो विभाजित न हो, अन्य किसी वस्तु पर केन्द्रित न हो, परमात्मा को छोड अन्य किसी की अपेक्षा न करे। आम तौर पर लोगों की भक्ति भगवान, दारापुत्र, यश, धन आदि में केन्द्रित रहती है। इससे भगवान के प्रति भक्ति पूर्णरूप से नहीं रहती । यह अनन्य भक्ति नहीं है। दृश्य पदार्थों में अविभाजित भक्ति ही वास्तव में अनन्य भक्ति है। यहाँ बताया गया कि वैसी अनन्य भक्ति ही भगवान के दर्शन का एकमात्र उपाय है।

यहाँ बताया गया कि वैसी अनन्य भक्ति से भगवान को (१) जानने

के लिए। (ज्ञातुं) (२) देखने के लिए (द्रष्टुं) (३) प्रवेश के लिए (प्रवेष्टुं) मौका मिलता है। यहाँ जानना, देखना तथा प्रवेश करना तीन क्रियाएं बतायी गयीं। आरंभ में साधक को यह ज्ञात होगा कि भगवान ऐसा है। 'ज्ञातुम' यह पहली मंजिल है। इस स्थिति में भगवान भक्त से थोडी दूर पर ही रहते हैं। यह द्वैत स्थिति है। इसके बाद अभ्यास से वह भक्त भगवान के और समीप आता है और भगवान के दर्शन कर सकता है। (द्रष्टुम्) भगवान के बारे में उसका हृदय शंकारहित हो जाता है। यह दूसरी मंजिल है। यह पहली मंजिल के ऊपर है। इस स्थिति में भक्त भगवान के अतिसमीप पहुँच जाता है। भगवान को अच्छी तरह देख पाता है। यह विशिष्टाद्वैत की स्थिति है।

इसके बाद अभ्यास के बल पर भक्त भगवान के और समीप पहुंच जाता है। धीरे-धीरे उसमें प्रवेश करता है। भगवान में मिलकर एक हो जाता है। (प्रवेष्टुम्)। जिस तरह नमक समुंदर में मिलकर एक होता है, वर्षा की बूंद जल में मिलकर एक होती है, दूध में पानी मिलकर एक हो जाता है, उसी प्रकार भक्त भगवान में मिलकर एक हो जाता है। तब भगवान और भक्त अलग नहीं रहते। तब एक ही वस्तु बनी रहती है। वह पहली और दूसरी मंजिलों से ऊपर रहती है। यह पूर्ण अद्वैत की स्थिति है। हर साधक को तीनों मंजिलों तक पहुंचने के लिए साधना करनी चाहिए। पहली स्थिति सामीप्य, दूसरी स्थिति सारूप्य एवं तीसरी स्थिति सायुज्य कहलाती हैं। कुछ लोग शास्त्र आदि का अध्ययन करके समझते हैं कि भगवान का ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं। फिर वे साधना नहीं करते। यह ठीक नहीं है। ऐसा साधक पूर्णता पा नहीं सकता। इसीलिए भगवान केवल 'ज्ञातुम' कहकर चुप नहीं रहे। द्रष्टुम् तथा प्रवेष्टुम् भी कहा।

समझ लीजिए कि एक व्यक्ति ने किसी दूसरे के द्वारा जान लिया कि बाजार में एक फल है। उसका रंग, उसका स्वाद ऐसा है एवं उसका मूल्य

इस प्रकार इतना है। तुरन्त उस पर आसक्त होकर बाजार जाता है, उस फल को देखता है। उसकी आसक्ति और बढती है। मूल्य चुकाकर फल खरीदकर उसे खाता है। यह स्थिति भगवान के कहे अनुसार ''ज्ञातुम'' है। (भगवान के बारे में सद्गुरुओं एवं सच्छास्त्रों के द्वारा जानना।) फिर द्रष्टुम् एवं प्रविष्टुम् की स्थिति होती है। अनन्य भक्ति एवं सतताभ्यास से अंतिम स्थिति प्राप्त होती है। यही पूर्ण अद्वैत की स्थिति है। हर साधक को इस स्थिति की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। तभी सांसारिक दुःखों से साधक को छुटकारा मिलेगा।

केवल वेदपाठ से मुक्ति की बात कही जाय, तो अनपढ लोग उससे वंचित रह जाते हैं। केवल तप एवं यज्ञों से मुक्ति की बात कहें, तो वह भी सब के लिए सुलभ नहीं है। दान की बात कहें, तो गरीब क्या दान दे सकेगें? इसीलिए यहाँ स्पष्ट बताया गयाा कि भक्ति से भगवान के दर्शन आसानी से हो सकते हैं। भक्ति सर्वसुलभ है। उसे सभी लोग आचरण में ला सकते हैं। भगवानने जीव राशि पर दया करके मुक्ति का यह सर्वसुलभ उपाय बताया।

प्रश्न - भगवान के दर्शन का उपाय क्या है ?

उत्तर - अनन्य भक्ति ही एक मात्र उपाय है।

प्रश्न - उससे जीव को कौन से लाभ मिलते हैं ?

उत्तर - भगवान के बारे में समझ सकता है। उसे देख सकता है। उसमें प्रवेश कर सकता है।

सम्बन्ध - अनन्य भक्ति के द्वारा भगवान् को देखना, जानना और एकीभाव से प्राप्त करना बतलाये जाने के कारण अनन्य भक्ति का स्वरूप जानंने की आकांक्षा होने पर अब भक्त के लक्षणों का वर्णन किया जाता हैं —

५५. *मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।*
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

शब्दार्थ - पाण्डव = हे अर्जुन । मत्कर्मकृत् = मेरे लिए। (ईश्वरार्पण की बुद्धि से) कर्म करनेवाले । मत्परमः = मुझे ही परम प्राप्य माननेवाले । मद्भक्तः = मेरे भक्त । सङ्गवर्जितः = समस्त दृश्य पदार्थों का संग छोडनेवाले । सर्वभूतेषु = समस्त प्राणियों में । निर्वैरः = द्वेष रहित । यः = जो । (है) । सः = वह । माम् = मुझे । एति = प्राप्त करता है ।

भावार्थ - हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मों को करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिकरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियों में वैरभाव से रहित है - वह अनन्यभक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है ।

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि भगवान को कौन पा सकते है । पाँच सद्गुण बताकर भगवानने कहा कि जो साधक उन्हें पाता है, वह भगवान का सायुज्य प्राप्त कर सकता है । "यः" कहने से स्पष्ट है कि हर कोई प्रयत्न करने पर यह स्थिति पा सकता है । गीता में उदार विचार सर्वत्र प्रकट किये गये हैं । गीता की इतनी प्रशस्ति का कारण यही है ।

"मत्कर्मकृत्" - दैव सम्बन्धी पूजा, ध्यान एवं जप आदि जो करता है और भगवान को अर्पित करता है, वह क्रमशः चित्त शुद्धि प्राप्त करता है । फलस्वरूप भगवान के अनुग्रह का वह पात्र बनता है । आत्मविज्ञान पाकर मोक्ष को प्राप्त होता है । हर मनुष्य जीवन में हर दिन कई कार्य करता है । परन्तु उन्हें भगवान को अर्पित करने की भावना से वह करे, तो वह दैव की पूजा के रूप में बदल जाता है । तब वे मोक्ष के हेतु बन जाते हैं । इसीलिए भगवान को प्राप्त करनेवालों के साथ "मत्कर्मकृत" (मेरे लिए कर्म करनेवाले या मुझसे सम्बन्धित कर्म करनेवाले) जोडा गया ।

"मत्परमः" - भगवान को ही परम प्राप्य मानकर भगवान में तत्पर रहनेवाले इस श्रेणी में आते हैं। आमतौर पर ज्यादातर लोग सांसारिक विषयों को ही लक्ष्य मानकर चलते हैं। परन्तु ये सब दृश्यपदार्थ नश्वर हैं। क्षण भंगुर है। अतः वे बन्धनों से जीव को मुक्त नहीं करा सकते। एकमात्र परमात्मा ही इस संसार में सद्वस्तु हैं। इसीलिए उन्हींको लक्ष्य मानकर उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जीव को प्रयत्न करना चाहिए। ऐसी साधना करनेवाला जीव भगवान को अवश्य पासकता है।

"मद्भक्तः" - यहाँ बताया गया कि भगवान के प्रति ही अनन्य भक्ति रखनी चाहिए। जनन मरण से छुटकारा न दिला सकनेवाले सांसारिक मामलों के प्रति भक्ति रखें, तो फायदा क्या मिलेगा ? अतः भगवद्भक्तिसे ही जीव परमात्मा का पद पा सकता है।

"सङ्गवर्जितः" - सङ्गः का अर्थ है — आसक्ति। देह आदि दृश्य पदार्थों के प्रति ममता रखना ही सङ्ग है। उसे त्याग देना चाहिए। 'असंग' का अभ्यास करना चाहिए। भगवान ने (गीता के १५वें अध्याय में) कहा कि असङ्ग रूपी तेज तलवार से संसार (दुःख) वृक्ष को समूल काट देना चाहिए। (असंग शस्त्रेण दृढेन छित्वा)। अतः संग राहित्य से जीव, मुक्ति पा सकता है।

"निर्वैरः सर्व भूतेषु" - पांचवां सद्गुण सभी प्राणियों पर दया, करुणा करना और प्रीति रखना है। सभी प्राणी भगवान के स्वरूप हैं। नारायण रूप हैं। अतः किसी भी प्राणी को सताना स्वयं भगवान को सताना ही है। इसलिए निर्वैर भावना को अपनाना अत्यन्त आवश्यक है। इसी सत्य को "अद्वेष्टा सर्व भूतानाम्" आदि वाक्यों के द्वारा भगवान ने गीता में कई जगहों पर बताया। एक तरह उपनिषदों के वाक्यों को बताते हुए, पूजाएं करते हुए दूसरी तरफ जीवराशि पर अत्याचार करते रहने से लाभ - क्या

मिलेगा ? जो लोग दवा लेते हैं, उन्हें परहेजी भी करनी चाहिए। ऊपर उल्लिखित चार सद्गुण ''दवा'' जैसे हैं। जीवराशि पर दया करना पथ्य जैसा है। अतः उन चार सद्गुणों के साथ इस पांचवें सद्गुण पर ध्यान देकर उसे आचरण में लाना चाहिए। इस श्लोक में स्पष्ट बताया गया कि जो भगवद्भक्ति के साथ सभी भूतों पर दया करता है, वह भगवान के निकट (मामेति) पहुँच सकता है।

गीता का यह श्लोक मुख्य है। श्रीशंकराचार्यने बताया कि गीता के सभी श्लोकों में से यह श्लोक सर्वश्रेष्ठ है। सारभूत है। क्योंकि इस श्लोक में सभी योग बताये गये हैं। उन सभी योगों के साथ साथ अत्यावश्यक भूतदया का विषय भी बताया गया है। विवरण निम्न प्रकार है —

(१) मेरे कर्म करो - (मत्कर्मकृत्) - कर्मयोग।

(२) मेरे प्रति तत्पर रहो - (मत्परमः) - ध्यानयोग।

(३) मेरे प्रति भक्ति रखो - (मद्भक्तः) - भक्तियोग।

(४) दृश्य पदार्थों के प्रति संगरहित रहो - (सङ्ग वर्जितः) - ज्ञानयोग।

(५) सभी प्राणियों पर दया करो - (निर्वैरः सर्वभूतेषु) - भूतदया।

भक्तों को चाहिए कि वे इस श्लोक का सदा पाठ करें, आचरण में लावें, भक्ति आदि सद्गुणों से भूषित हों, इसी जन्म में मोक्ष प्राप्त करें।

प्रश्न - भगवान को कौन पा सकता है ?

उत्तर - (१) दैवीकर्म करनेवाला। (२) दैव को ही परमप्राप्य माननेवाला। (३) दैवी भक्त। (४) संगरहित। (५) सब भूतों पर दया करनेवाला। भगवान को पा सकता है।

प्रश्न - भगवान् की प्राप्ति के उपाय क्या हैं ?

उत्तर - (१) दैवी कार्य करना। (२) दैव को परम प्राप्य मानना, दैव के प्रति तत्पर रहना। (३) दैव के प्रति भक्ति रखना। (४) संग राहित्य का अवलंबन करना। (५) सब प्राणियों पर दया करना एवं शतृ भाव न रखना।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥

यह उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित, ब्रह्मविद्या योगशास्त्र और कृष्णार्जुन संवाद युक्त श्रीभगवद्गीता के विश्वरूप संदर्शन योग शीर्षक ग्यारहवाँ अध्याय है।

- ॐ तत् सत् -

ॐ

श्री भगवद्गीता

अथ द्वादशोऽध्यायः

बारहवाँ अध्याय

भक्तियोगः

भक्तियोग

इस अध्याय का शीर्षक

भक्तियोग - भक्ति के बारे में प्रतिपादित अध्याय है। भक्ति के स्वरूप भक्त के लक्षण और विविध आध्यात्मिक साधनों का उल्लेख इस अध्याय में किया गया। यह अध्याय भक्ति से शुरू हुआ और भक्ति के साथ समाप्त हुआ। इस प्रकार भक्ति एवं भक्त के बारे में विशेष रूप से बताया गया, अतः इस अध्याय का नाम भक्तियोग रखा गया।

इस अध्याय के प्रधान विषय

१. साकार तथा निराकार उपासकों का विवरण
   (श्लोक १से श्लोक ५ तक)

२. भक्ति का महत्त्वपूर्णफल - (श्लोक ६से श्लोक ८ तक)

३. विविध आध्यात्मिक साधन - (श्लोक ९से श्लोक १२तक)

४. भक्त के लक्षण - (श्लोक १३ से श्लोक २० तक)

सम्बन्ध - दूसरे अध्याय से लेकर छठे अध्याय तक भगवान्ने जगह - जगह निर्गुण ब्रह्म की और सगुण - साकार परमेश्वर की उपासना की प्रशंसा की है। सातवें अध्याय से ग्यारहवें अध्याय तक तो विशेष रूप से सगुण - साकार भगवान् की उपासना का महत्त्व दिखलाया है। इसीके साथ पाँचवें अध्याय में सत्रहवें से छब्बीसवें श्लोक तक, छठे अध्याय में चौबीसवें से उनतीसवें तक, आठवें अध्याय में ग्यारहवें से तेरहवें तक तथा इसके सिवा और भी कितनी ही जगह निर्गुण - निराकार की उपासना का महत्त्व भी दिखलाया है। आखिर ग्यारहवें अध्याय के अन्त में सगुण - साकार भगवान् की अनन्य भक्ति का फल भगवत्प्राप्ति बतलाकर 'मत्कर्मकृत्' से आरम्भ होनेवाले इस अन्तिम श्लोक में सगुण - साकार स्वरूप भगवान् के भक्त की विशेष रूप से बड़ाई की। इस पर अर्जुनके मन में जिज्ञासा हुई। निर्गुण - निराकार ब्रह्म की और सगुण - साकार भगवान् की उपासना करनेवाले दोनों प्रकारके उपासकों में उत्तम उपासक कौन है, इसी जिज्ञासा के अनुसार अर्जुन पूछ रहे हैं -

अर्जुन उवाच

१. एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥

शब्दार्थ - अर्जुन उवाच = अर्जुन बोले। एवम् = इस प्रकार। सततयुक्ताः = सदा आपके ध्यान में लीन। येभक्ता = आपके भक्त। त्वाम् = आपकी। पर्युपासते = उपासना करते हैं। ये च अपि = जो। अव्यक्तम् = अगोचर। अक्षरम् = अविनाशी। पर्युपासते = उपासना करते है। तेषाम् = उन दो प्रकार के उपासकों में। के = कौन। योगवित्तमाः = योगवेत्ता हैं ?

भावार्थ - अर्जुन बोले - जो अनन्यप्रेमी भक्तजन पूर्वोक्त प्रकारसे निरन्तर आपके भजन - ध्यान में लगे रहकर आप सगुण रूप परमेश्वर को और दूसरे

जो केवल अविनाशी सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्म को ही अतिश्रेष्ठ भाव से भजते हैं उन दोनों प्रकार के उपासकों में अति उत्तम योगवेत्ता कौन हैं ?

व्याख्या - 'योगम्' शब्द पिछले अध्याय के ५५वें ''मत्कर्मकृत'' श्लोक का भाव सूचित करता है। अर्जुन का प्रश्न है कि भगवान के विश्वरूप, साकार रूप की अनंवरत भक्ति से उपासना करनेवाले (साकारोपासक) श्रेष्ठ हैं या इन्द्रियों के लिए अगोचर, निराकार, सर्वव्यापी, अक्षय परमात्मा का ध्यान करनेवाले (निर्गुणोपासक) श्रेष्ठ हैं ? पहले कई बार भगवानने निर्गुण परमात्मा के तत्व एवं ध्यान के बारे में (दूसरे अध्याय एवं आठवें अध्याय आदि) बताया। अब विश्वरूप दिखाकर सगुणोपासना का समर्धन करते हैं।

इसलिए अर्जुन का यह प्रश्न कि सगुणोपासना श्रेष्ठ है या निर्गुणोपासना, हर साधक के मन में सहज रूप से उत्पन्न होता है। अतः यह प्रश्न उचित ही है।

श्रीभगवानुवाच

२. मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥

शब्दार्थ - श्री भगवानुवाच = श्री भगवान बोले। मयि = मुझमें। मनः = मन को। आवेश्य = स्थित कर। नित्ययुक्ताः = निरंतर दैव के चिंतन में लीन। परया = अधिक। श्रद्धया = श्रद्धा से। उपेताः = युक्त होकर। ये = जो। माम् = मुझे। उपासते = पूजते हैं। ते = वे। युक्ततमाः = उत्तम योगी हैं। मे मता = मेरा मत है।

भावार्थ - श्री भगवान् बोले - मुझ में मन को एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन -ध्यान में लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वर को भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं॥

व्याख्या - अर्जुन के प्रश्न का उचित उत्तर भगवान ने दिया। प्रश्न यह है कि सगुणोपासक श्रेष्ठ हैं या निर्गुणोपासक ? श्रीकृष्णने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए

कहा कि जो लोग बडी श्रद्धा के साथ निरंतर ईश्वर में चित्त लीन रखते हैं, वे ही श्रेष्ठ हैं। यहाँ तीन साधनाएं बतायी गयी हैं -

(१) मन को परमात्मा में स्थित रखना।

(२) निरंतर ईश्वर के चिन्तन में लीन रहना।

(३) अपार श्रद्धा युक्त होना।

भगवांन ने कहा कि जो उपर्युक्त तीन गुणों से युक्त रहता है, वही श्रेष्ठ है। इसमें सगुण - निर्गुण, गृहस्थ - सन्यासी, और द्विज - अन्त्यज का भेद नहीं है। भगवान का यह कथन अत्युत्तम है। उन्होंने भक्ति, श्रद्धा एवं एकाग्रता को प्रधानता दी। किसी एक संप्रदाय या मार्ग को प्रधानता नहीं दी।

सम्बन्ध - पूर्व श्लोक में सगुण - साकार परमेश्वर के उपासकों को उत्तम योगवेत्ता बतलाया, इस पर यह जिज्ञासा हो सकती है कि तो क्या निर्गुण - निराकार ब्रह्म के उपासक उत्तम योगवेत्ता नहीं है ? इस पर कहते हैं -

३. ***ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।***
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥

४. ***सनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।***
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

शब्दार्थ - ये तु = जो। इन्द्रियग्रामम् = इन्द्रियों के समूह को। संनियम्य = अच्छी तरह वश में कर। सर्वत्र = सब जगह। समबुद्धयः = समान भावनावाले बनकर। सर्वभूत हितेरताः = समस्य भूतों का हित करने में आसक्त। अनिर्देशम् = अकथनीय। अव्यक्तम् = अव्यक्त। अचिन्त्यम् = अचिंतनीय। कूटस्थम् = निर्विकार। अचलम् = अचल। धृवम् = नित्य। सर्वत्रगं च = सर्वत्रव्याप्त। अक्षरम् = नाशरहित ब्रह्म को। पर्युपासते = पूजते हैं। ते = वे। माम् एव = मुझे कही। प्राप्नुवन्ति = पाते हैं।

भावार्थ - परन्तु जो पुरुष इन्द्रियों के समुदाय को भली प्रकार वश में करके मन-बुद्धि से परे, सर्वव्यापी, अकथनीय स्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को निरन्तर एकीभाव से ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतों के हित में रत और सब में समान भाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं।

व्याख्या- साकार एवं निराकार परमात्मा एक ही हैं। इसलिए सगुण एवं निर्गुण दोनों उपासनाओं का लक्ष्य एक ही है। श्रद्धा एवं निर्मल भक्ति से जिस किसी भी तरह जप एवं ध्यान करने से लोग परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

इन दोनों श्लोकों में निर्गुण परब्रह्म का ध्यान करनेवालों के बारे में कहा गया। पहले श्लोक में (तीसरे) ब्रह्म की विशेषताओं और दूसरे श्लोक में (चौथे) ब्रह्म की प्राप्ति के लिए आवश्यक शील संपदा के बारे में कहा गया। वास्तव में साधक भगवान का ध्यान जितना भी करे, पर यदि उसका चित्त शुद्ध न हो तथा निर्मल भक्ति से भरा न हो, तो सब व्यर्थ हो जाएगा। जीवराशि पर दया न करे, तो ध्यान का प्रयोजन नहीं रहता। अशुद्ध बरतनों में खाना पकावें, तो जिस तरह वह जानलेवा सिद्ध होगा, उसी तरह दुश्चरित्र व्यक्ति को ध्यान, ज्ञान, ब्रह्मानुभूति नहीं करा सकते। इसीलिए गीताचार्य ने ध्यानवान साधकों के लिए निम्नलिखित तीन सद्गुणों को आवश्यक बताया।

१. इन्द्रियनिग्रह की आवश्यकता। (संनियमेन्द्रिय ग्रामं)

२. सब विषयों में समभावना रखना। (सर्वत्र समबुद्धयः)

३. समस्त प्राणियों का हित करना। (सर्वभूत हिते रताः)

मुमुक्षुओं को चाहिए कि ध्यान आदि के उपर्युक्त तीनों सद्गुणों को अपनावें। यहाँ 'संयम्य' न कहकर 'संनियम्य' कहा। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रियों को अच्छी तरह वश में कर लेना चाहिए। 'सर्वत्र' कहने से स्पष्ट है

कि समस्त प्राणियों के प्रति सदा समभावना रखनी चाहिए। 'सर्वभूत हिते रताः' कहने से स्पष्ट है कि सभी प्राणियों का हित करना चाहिए। 'ते प्राप्नुवन्ति' कहा। इससे स्पष्ट है कि ऐसे सद्गुणों से युक्त साधक अपनी अनन्य भक्ति एवं अनुपम ध्यान के द्वारा परमात्मा को प्राप्त करते हैं। अतः साधकों को अपने हृदय का शोधन करके देख लेना चाहिए कि वह उपर्युक्त सद्गुणों से युक्त है या नहीं ?

सम्बन्ध – इस प्रकार निर्गुण–उपासना और उसके फल का प्रतिपादन करने के पश्चात् अब देहाभिमानियों के लिये अव्यक्त गति की प्राप्ति को कठिन बतलाते हैं १

५. ***क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।***
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

शब्दार्थ – अव्यक्तसक्त चेतसाम् तेषाम् = निराकार ब्रह्म में आसक्त चित्तवाले पुरुषों के। क्लेशः = कष्ट। अधिकतरः = बहुत अधिक है। हि = क्योंकि। अव्यक्ता = अव्यक्त विषयक। गतिः = मार्ग। देहविदिभिः = देहाभिमानियों के द्वारा। दुःखम् = दुःखपूर्वक। अवाप्यते = प्राप्त किया जाता है।

भावार्थ – उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्म में आसक्त चित्तवाले पुरुषों के साधन में परिश्रम विशेष है। क्योंकि देहाभिमानियों के द्वारा अव्यक्त, विषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है।

व्याख्या – यहाँ बताया गया कि निर्गुणोपासना देह के अभिमानियों केलिए मुश्किल है। देहाभिमान रहित निष्कामकर्मी यदि इन्द्रियों को वश में कर निगर्णोपासना का अभ्यास करेंगे, तो आसानी से भगवान को प्राप्त कर सकेंगे। इस श्लोक के प्रथम चरण में बताया गया कि निर्गुणोपासना अत्यंत कठिन है। यहाँ साधकों को यह समझना चाहिए कि यह केवल उनके लिए है, जो

देहाभिमानी हैं, जो इन्द्रियों को वश में नहीं कर सकते और सगुणोपासना के द्वारा भी अपने चित्त को शुद्ध नहीं कर सकते।

इसलिए साधकों को आरंभ में ही निर्गुणोपासना के पीछे नहीं पडना चाहिए। भगवान की उपासना तथा निष्काम कर्मों के अनुष्ठान के द्वारा पहले देहाभिमान को दूर कर लेना चाहिए। फिर इन्द्रियों को वश में कर निर्गुणोपासना का अभ्यास करना चाहिए। तब बिना प्रयास के भगवान की प्राप्ति का सुअवसर साधक प्राप्त कर सकेंगे। पारमार्थिक क्षेत्र में प्रवेश कर कई प्रकार की साधनाएं करने पर भी साधक उत्तम फल अकसर नहीं पाते। इसका कारण इस श्लोक में बताया गया। धरती को उपजाऊ बनाए बिना बीज बोएं तो क्या प्रयोजन ! नींव मजबूत न हो, तो उस पर भवन का निर्माण करें, तो क्या प्रयोजन ! इसी प्रकार देहाभिमान दूर न होवे तो ब्रह्म में मन स्थित नहीं हो सकता। वास्तव में ध्यान एवं उपासना आदि अत्यन्त उपयोगी एवं संतोषजनक हैं। क्यों कि वे सच्चिदानन्द सागर से सम्बन्धित हैं। उस साधना में कष्ट नहीं होता। वह श्रम को दूर करता है। परन्तु लोग उसके आचारण का मार्ग नहीं जानते और देहाभिमानी बने रहकर भगवान को प्राप्त करना चाहते हैं। यह संभव नहीं। इसीलिए ऐसे साधक साधना के मार्ग में कष्ट पाते रहते हैं। इसलिए साधकों को चाहिए कि वे पहले भगवान का ध्यान करें, फिर सगुणोपासना का अभ्यास करें। जब चित्त शुद्ध होगा और इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्त होगा, तब वे निर्गुणोपासना शुरू करें। तब आसानी से साधक भगवान को प्राप्त हो सकेंगे।

६. *ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।*
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥

७. *तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।*
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

शब्दार्थ - पार्थ = हे अर्जुन। येतु = जो। सर्वाणि = समस्त। कर्माणि = कर्मों को। मयि = मुझ में। सन्यस्य = समर्पित कर। मत्पराः = मुझमें ही चित्त को स्थित कर। अनन्येन योगेन = अनन्य योग से। माम् एव = मुझको ही। ध्यायन्तः = चिन्तन करते हुए। उपासते = उपासना करते हैं। मयि = मुझमें। आवेशित चेतसाम् = मुझमें स्थित चित्तवाले। तेषाम् = लोगों को। अहम् = मैं। मृत्यु संसार सागरात् = मृत्युरूपी संसार सागर से। सचिरात् = शीघ्र। समुद्धर्ता = उद्धार करनेवाला। भवामि = होता हूँ।

भावार्थ - परन्तु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पण करके मुझ सुगुण रूप परमेश्वर को ही अनन्य भक्तियोग से निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं।

हे अर्जुन ! मुझ में चित्त को लगानेवाले प्रेमी भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार समुद्र से उद्धार करनेवाला होता हूँ।

व्याख्या - प्रथम श्लोक में साधकों के लिए अनुसरणीय पद्धति बतायी गयी, फिर दूसरे श्लोक में उससे प्राप्त होनेवाला सत्फल बताया गया। वह पद्धति निम्न प्रकार है —

१. समस्त कर्म भगवान को समर्पित करना।

२. उसीको परमगति बनाना या उसी में चित्त को स्थित करना।

३. अनन्यभाव से उस परमात्मा का ध्यान करना। गीताचार्य बताते हैं कि उपर्युक्त गुणों से विलसित साधकों का उद्धार सर्वेश्वर करते हैं। जननों मरण रूपी सागर के उस पार पहुँचाते हैं। ऐसे वाक्य साधकों को आश्वासन देते हैं। संजीवनी बूटी का सा काम करते हैं। बल देते हैं। भगवान कहते हैं कि अवश्य उद्धार करूँगा (समुद्धर्ता)। लेकिन जो अपना हाथ उठाकर सहायता मांगेंगे, भगवान भी उन्हींकी मदद करेंगे। जो उनका ध्यान नहीं

करेंगे, उनकी सुध भगवान नहीं लेगे। इसलिए साधकों को चाहिए कि वे सांसारिक दुःखों से छुटकारा पाने के लिए भक्ति के साथ भगवान की सेवा करें। भवरोग के निवारण का यही एक मार्ग है।

'ये तु' कहा गया। इससे स्पष्ट है कि कोई भी व्यक्ति ऐसी साधना कर सकता है और उत्तम फल पा सकता है। इस में जात -पांत एवं वर्ग-वर्ण का भेद नहीं है। 'सर्वाणि कर्माणि' कहा गया। इससे स्पष्ट है कि साधक को अपने सब कर्म ईश्वर को अर्पित करना चाहिए।

''अनन्येनैव योगेन'' - अब तक भगवानने कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग आदि के बारे में बताया। अब और एक नये योग के बारे में बताते हैं। यद्यपि यह एक योग नहीं है, तथापि उसी के अंतर्गत है। हर योग तभी सफल होगा, जब कि अनन्य भावना से वह अमल में लाया जाएगा। सांसारिक चिन्ताओं से रहित होकर, दृश्य पदार्थों के चिन्तन से दूर रहकर जो साधक केवल परमात्मा तत्व का ध्यान करेगा, वही अपनी साधना में सफल हो सकेगा।

''मां ध्यायन्त उपासते'' कहा गया। मामुपासते न कह कर 'ध्यायन्त' विशेषण का प्रयोग किया गया। इससे स्पष्ट है कि मामूली उपासना ही श्रेष्ठ है। मंत्रजप करते समय मंत्र का उच्चारण करना जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक उस मंत्र के अर्थ को जानना है। 'समुद्धर्ता' कहने से स्पष्ट है कि अपने उपासकों का उद्धार भगवान अवश्य करते हैं। ''मृत्यु संसार सागरात्'' यहां संसार की उपमा सागर से दी गयी । समुंदर की भांति संसार भी भयंकर है। काम अदि दुष्ट जन्तुओं से वह भरा पडा है। अतः संसार को सागर कहा गया। संसार का स्वरूप यहां भगवानने बता दिया है। इसे मृत्यु-संसार कहा। अतः इस मृत्यु-संसार से मुक्ति पाने केलिए साधक को सच्चिदानन्द प्रभु के आश्रय में अवश्य जाना चाहिए।

'न चिरात्' कहने से स्पष्ट है कि भगवान का आश्रय लेने से जीव जल्दी मुक्ति पा सकता है। (दृष्टांत - गजेन्द्र, प्रह्लाद, अंबरीष एवं द्रौपदी)

प्रश्न - इस संसार की हालत कैसी है ?

उत्तर - यह (१) समुद्र की तरह भयंकर है, अपार है। (२)मृत्युरूप है (जनन मरण से युक्त है)

प्रश्न - इससे छुटकारा कैसे मिल सकता है ?

उत्तर - भगवान का आश्रय लें, तो वही संसार सागर से जीव को बचा सकता है।

प्रश्न - भगवान का आश्रय किस तरह लेना चाहिए ?

उत्तर - १. सब कर्म भगवान को समर्पित करना चाहिए।

२. इसीको परमगति मानना चाहिए।

३. चित्त को उसी में स्थित करना चाहिए।

४. उसीका चिन्तन करते हुए, उपासना करनी चाहिए।

प्रश्न - इस तरह ध्यान करनेवालों को कितने समय में भगवान मुक्त करते हैं?

उत्तर - झट मुक्त करते हैं।

सम्बन्ध - इस प्रकार पूर्व श्लोकों में निर्गुण-उपासनाकी अपेक्षा सगुण-उपासनाकी सुगमताका प्रतिपादन किया गया। इसलिए अब भगवान् अर्जुन को उसी प्रकार मन, बुद्धि लगा कर सगुण-उपासना करने की आज्ञा देते हैं।

८. मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

शब्दार्थ - मयियेव = मुझमें ही। मनः = मन को। अधत्स्व = स्थिर रखो। मयि = मुझमें। बुद्धिम् = बुद्धि को। निवेशय = लगाओ। अतः ऊर्ध्वम् = इसके बाद। मयि एव = मुझमें ही। निवसिष्यसि = वास करेगा। संशयः = सन्देह। न = नहीं है।

भावार्थ - मुझमें मन को लगा और मुझमें ही बुद्धि को लगा। इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा। इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

व्याख्या - भगवान श्रीकृष्ण गुरु की भांति अर्जुन को कई साधनों के बारे में बताते हैं। आदेश देते हैं कि सब से पहले मन एवं बुद्धि को परमात्मा में स्थित करो। यह प्रथम पाठ है। मन संकल्प करता है, तो बुद्धि निश्चय करती है। अतः मन और बुद्धि दोनों को परमात्मा में स्थित करने को कहा गया। ऐसा करने से मनुष्य ध्येय वस्तु परमात्मा में ही स्थित रह सकता है। मन जिसका ध्यान करता रहता है, मन जिसमें सदा लीन रहता है, उसी में लय होकर अन्त में उसीका रूप धारण करता है। वही मोक्ष है। भगवान स्पष्ट बताते हैं कि यह परम सत्य है। इसके बारे में सन्देह करने की जरूरत नहीं है।

"न संशयः" (इस विषय में सन्देह नहीं है) यह वाक्य स्वयं भगवानने कहा। अतः साधकों को निश्चिंत होकर भगवान के आदेश का पालन करना चाहिए।

"मयि एव" कहा गया। "एव" शब्द के प्रयोग से स्पष्ट होता है कि भगवान को छोडकर किसी अन्य विषय पर ध्यान नहीं देना चाहिए।

प्रश्न - मन और बुद्धि को कहां स्थिर रखना चाहिए ?

उत्तर - भगवान में स्थिर करना चाहिए।

प्रश्न - इससे क्या प्रयोजन है ?

उत्तर - तब भगवान में ही वह वास करेगा। (इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है।)

सम्बन्ध - यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि यदि मैं उपर्युक्त प्रकार से आपमें मन-बुद्धि न लगा सकूँ, तो मुझे क्या करना चाहिए। इस पर कहते हैं १

९. ***अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।***
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥

शब्दार्थ - धनंजय = हे अर्जुन! अथ = (यदि) अब। चित्तम् = चित्त को। मयि = मुझमें। स्थिरम् = स्थिर। समाधातुम = स्थापन करने को। न शक्नोषि = समर्थ न हो तो। ततः = इसके बाद। अभ्यास योगेन = अभ्यास रूपी योग से। माम् = मुझे। आप्तुम = पाने की। इच्छ = इच्छा करो।

भावार्थ - यदि तू मनको मुझमें अचल स्थापन करनेके लिये समर्थ नहीं है, तो हे अर्जुन! अभ्यास रूप योग के द्वारा मुझको प्राप्त होने के लिये इच्छा कर।

व्याख्या - जो उपर्युक्त साधन अमल में नहीं ला सकते, उनके लिए भगवान और कुछ साधन बताते हैं। मन से ही जीव बन्धन में बंधता है। मन से ही जीव मोक्ष पाता है। अतः मोक्ष पाने के लिए मन को परमात्मा में स्थित करना ही चाहिए। मोक्ष की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है। आरंभ में यदि मन ध्येय वस्तु में स्थिर नहीं रह सकता, तो अभ्यास के द्वारा धीरे-धीरे मन को उस स्थिति में लाना चाहिए। ऐसा करना हर साधक का कर्तव्य है। छठे अध्याय में भगवानने कहा "यतो.यतो निश्चरति" उसके अनुसार चपल मन को धीरे-धीरे वश में करके उसे परमात्मा में लीन करना चाहिए। ऐसे अभ्यास के बारे में ही इस श्लोक में बताया गया।

"अभ्यास योगेन" १ इस अभ्यासरूपी योग का सम्बन्ध कर्म योग, भक्ति योग, ज्ञानयो'ग तथा ध्यानयोग आदि से होना चाहिए। सभी योगों के लिए

छठे अध्याय में बताये गये अनन्ययोग तथा इस श्लोक में बताया गया अभ्यास योग आवश्यक हैं। कुछ साधक गुरु से पूछा करते हैं कि गुरुदेव ! ध्यान के समय हमारा मन निश्चिल नहीं रहता। क्या करें? " उत्तर देते हुए वे भगवान के शब्दों में कहते हैं कि अभ्यास के द्वारा मन को निश्चल बना लो। दूसरा कोई उपाय नहीं है।

प्रश्न - मन को परमात्मा में स्थिर रखने की जो बात कही गयी, उसमें सफलता न मिले, तो क्या करना चाहिए ?

उत्तर - अभ्यास के द्वारा वैसी स्थिति हासिल करनी चाहिए।

१०. ***अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।***
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ।।

शब्दार्थ - अभ्यासे अपि = अभ्यास करने में। असमर्थः अपि = असमर्थ हो तो। मत्कर्म परमः = मुझसे संबंधित कर्म करने में आसक्त। भव = होओ। मदर्थम् = मेरे लिए। कर्माणि = कर्मों को। कुर्वन् अपि = करता हुआ भी। सिद्धम् = सिद्धि। अवाप्यसि = पा सकते हो।

भावार्थ - यदि तू उपर्युक्त अभ्यास में भी असमर्थ है, तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मों को करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धि को ही प्राप्त होगा।

व्याख्या - यदि चित्त की एकाग्रता का अभ्यास भी कोई न कर सके, तो उनके तरने के लिए भगवानने दया करके और एक मार्ग प्रस्तुत किया। जो व्यक्ति मन को निश्चिल नहीं कर पाता, उसे चाहिए कि वह धार्मिक कार्यों, परोपकार संबंधी क्रियाओं तथा अन्य प्राणियों के हित संबंधी कार्यों में अपने चित्त को लगावे। निष्काम भावना से वह सब कर्म करे। जप, तप, कीर्तन, भजन, पूजन तथा व्रतानुष्ठान आदि भगवान की प्रीति के निमित्त करे

तो उसका चित्त शुद्ध होगा। धीरे-धीरे चित्त में ज्ञान अंकुरित होगा। तब मनुष्य मोक्ष पा सकेगा। जो साधक अपने मन एवं संकल्पों को वश में नहीं कर सकता, उसके लिए यह कर्ममार्ग अत्यन्त सुलभ सिद्ध होगा।

"कुर्वन् सिद्धि मवाप्यसि" १ इस वाक्य के द्वारा स्पष्ट होता है कि कर्मयोग भी मोक्ष की प्राप्ति का साधन बनसकता है। परन्तु उन कर्मों को निष्काम भावना से करना चाहिए। तब साधक का हृदय शुद्ध होगा। ज्ञान प्राप्त करेगा। फिर मोक्ष प्राप्त करेगा। परन्तु जानना चाहिए कि निष्काम कर्म की ही ऐसी शक्ति होती है, सकामाचरण की नहीं।

प्रश्न - व्यक्ति अगर परमात्मा में चित्त को लगा नहीं सकता, उसके लिए अभ्यास नहीं कर सकता, तो उसके तरने का उपाय क्या है ?

उत्तर - दैवीकार्य, धार्मिक कार्य, परहित सम्बन्धी कार्य निष्कामबुद्धि से करें, तो धीरे-धीरे मोक्ष पा सकते हैं।

सम्बन्ध १ यहाँ अर्जुन को यह जिज्ञासा हो सकती है कि यदि उपर्युक्त प्रकार से आपके लिये मैं कर्म भी न कर सकूँ, तो मुझे क्या करना चाहिए। इस पर कहते हैं १

११. अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥

शब्दार्थ - अथ = और भी। मद्योगम् = मेरी प्राप्ति रूप योग का। आश्रित = आश्रित होकर। एतत् अपि = अन्य कोई काम भी। कर्तुम = करने में। अशक्तः अपि (चेत्) = समर्थ न हो तो। ततः = उसके बाद। यतात्मवान् = मन को स्थिर करनेवाला बनकर। सर्वकर्मफल त्यागम् = सब कर्मों के फलों का त्याग। कुरु = करो।

भावार्थ - यदि मेरी प्राप्तिरूप योग के आश्रित होकर उपर्युक्त साधन को

करने में भी तू असमर्थ है, तो मन-बुद्धि आदि पर विजय प्राप्त करनेवाला होकर सब कर्मों के फल का त्याग कर।

व्याख्या - जो मनुष्य उपर्युक्त तीनों साधनों को अमल में नहीं ला सकता, उसे भगवान ने और एक साधन यहां सूचित किया। सबेरे जागने के बाद से सोने तक मनुष्य हर दिन कई कार्य करता है। तब उसे सोचना चाहिए कि संसार में भगवान ही सब कुछ हैं। मनुष्य केवल निमित्त मात्र है।'' ऐसा समझकर भगवान को साक्षी रखकर जीव को कर्म करना चाहिए, फिर उन कर्मों के फल भी ईश्वरीय होना चाहिए। इसका मतलब यह नहीं कि मनुष्य पाप कर्म भी कर फल ईश्वर को अर्पित कर सकता है। क्योंकि पापकर्म शास्त्रों के द्वारा निषिद्ध हैं। अतः उनको नहीं करना चाहिए। दान-धर्म, व्रत-अनुष्ठान तथा दिनचर्याएँ आदि ईश्वरार्पण बुद्धि से करना चाहिए। उपर्युक्त साधन सब एक से बढकर एक सुलभ हैं। अतः अपनी अपनी प्रवृत्ति के अनुसार साधन का चुनाव करके उसे साधने को प्रयत्न करना चाहिए। इस श्लोक में जो साधन बताया गया, वह अत्यन्त सुलभ है। इसे हर कोई अमल में ला सकता है। मनुष्य को समझना चाहिए कि मैं जो चलता हूँ, वह भगवान की परिक्रमा है। मैं जो बोलता हूँ, वह भगवान का भजन है। इस प्रकार वह जो भी कार्य हो, ईश्वरीय भावना से करते, तो धीरे-धीरे उसके पाप मिट जाएंगे - चित्त शुद्ध होगा। ज्ञान का उदय होगा और अन्त में मोक्ष प्राप्त होगा।

इसके लिए मन का निग्रह, धैर्य एवं प्रयत्न आदि आवश्यक हैं। इसीलिए ''यतात्मवान्'' कहा गया। प्रयास करके पहले मन को वश में करना चाहिए। फिर सभी कर्मों तथा उनके फलों को भगवदर्पित करके साधना के मार्ग पर आगे बढना चाहिए।

प्रश्न – पिछले श्लोक में जो साधन बताये गये, यदि उन्हें साधक अमल में नहीं ला सके, तो क्या दूसरा कोई उपाय है? हो तो वह क्या है ?

उत्तर - हाँ है। चित्त को नियंत्रण में रखकर ईश्वरीय भावना से कर्म करना चाहिए। फिर उन कर्मों के फलों को भगवान के चरणों में समर्पित कर देना चाहिए। वही उपाय है।

सम्बन्ध - छठे श्लोक से आठवें तक अनन्य ध्यान का फलसहित वर्णन करके नवें से ग्यारहवें श्लोक तक एक प्रकार के साधन में असमर्थ होने पर दूसरा साधन बतलाते हुए अन्त में 'सर्वकर्मफलत्याग' रूप साधन का वर्णन किया गया। इससे यह शंका हो सकती है कि 'कर्मफलत्याग' रूप साधन पूर्वोक्त अन्य साधनों की अपेक्षा निम्न श्रेणी का होगा। अतः ऐसी शंका को हटाने के लिये कर्मफल के त्याग का महत्त्व अगले श्लोक में बतलाया जाता है ।

१२. श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥

शब्दार्थ - अभ्यासात् = अभ्यास से। ज्ञानम् = ज्ञान। श्रेयःहि = श्रेष्ठ है। ज्ञानात् = ज्ञान से। ध्यानम् = ध्यान। विशिष्यते = श्रेष्ठ है। ध्यानात् = ध्यान से। कर्मफलत्यागः = कर्मफल त्यागना। विशिष्यते = श्रेष्ठ है। त्यागान् अनन्तरम् = त्याग के बाद। शान्तिः = शान्ति। भवति = होती है।

भावार्थ - मर्म को न जानकर किया हुआ अभ्यास ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे मुझ परमेश्वर के स्वरूप का ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से भी सब कर्मों के फल का त्याग श्रेष्ठ है, क्योंकि त्याग से तत्काल ही परम शान्ति होती है।

व्याख्या - यहाँ निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए। जहाँ 'अभ्यास' कहा गया, वहाँ समझना चाहिए विवेक रहित अभ्यास। जहाँ 'ज्ञान' कहा गया, वहां समझना चाहिए शास्त्र जन्य ज्ञान। जहाँ ध्यान कहा गया, वहाँ

समझना चाहिए असंपूर्ण ध्यान। जहाँ ध्यान काल कहा गया, वहाँ समझना चाहिए विषयदोष रहित स्थिति। अर्थात् ध्यानाभ्यास की स्थिति। "ज्ञानाध्यानं विशिष्यते" १ "वाचा" ज्ञान से अनुभवजन्य ज्ञान श्रेष्ठ है। ज्ञान सम्बन्धी विषयों का निष्ठा के साथ चिन्तन करना और उन्हें अनुभव में लाना ही ध्यान है। अतः वाचा ज्ञान एवं शास्त्र जन्य ज्ञान से समझना चाहिए कि ध्यान योग श्रेष्ठ है।

"ध्यानात्कर्मफलत्यागः" १ जो साधक कर्म के फल को त्याग देता है, उसका मन संग रहित एवं विषय दोष रहित होता है। ज्ञानाभ्यासी का चित्त निर्विषयक रहता है। इसीलिए ध्यान से कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ कहा गया। इससे निष्काम कर्मयोग की महत्ता स्पष्ट होती है। ज्यादातर लोग निवृत्ति से ज्यादा प्रवृत्ति में लगे रहते हैं। ऐसे लोग कर्म करते हुए , उनके फलों के त्याग का अच्छी तरह अभ्यास करें, तो वे ध्यानाभ्यासी ज्ञानभ्यासी से बढकर श्रेष्ठ स्थान पा सकते हैं। भक्ति, ध्यान एवं ज्ञान के लिए परिशुद्ध चित्त की आवश्यकता होती है। वह निष्काम कर्मयोग तथा कर्मों के फल-त्याग से प्राप्त होती है। इसलिए चित्त को शुद्ध करने का यत्न करें, तो नींव पक्की होगी। उसमें ध्यान एवं ज्ञान सबका विकास होगा। इसीलिए भगवान ने इस श्लोक में निष्काम कर्मयोग की महत्ता का गुणगान किया।

"त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् " - कर्मफल के त्याग तथा ईश्वरार्पण की बुद्धि से चित्त शुद्ध होता है, उसमें शान्ति उत्पन्न होती है। कर्तृत्व , अहंकार, दोष तथा सांसारिक सुख आदि के त्याग से ही शान्ति प्राप्त होती है। निर्मल चित्त में ही आत्मा प्रत्यक्ष होती है। इस संसार में हर प्राणी दुःखी है। इसलिए हर प्राणी शान्ति चाहता है। पर वह यह नहीं जानता कि शान्ति किस प्रकार प्राप्त होंगी। भगवानने यहां स्पष्ट कहा कि "त्यागात् शान्तिः" त्याग से ही शान्ति प्राप्त होती है। अतः विषय सम्बन्धी सुखों, कर्म के फलों, ममता,

अहंकार तथा कर्तृत्व भावना आदि को त्यागकर परम शान्ति हासिल करनी चाहिए। यही हर जीव का कर्तव्य है।

प्रश्न - कर्मों के फलत्याग की महिमा का विवरण बताओ।

उत्तर - वह (विवेकरहित) अभ्यास से (शास्त्रजन्य) ज्ञान से, (ध्यानकाल मात्र निर्विषयक रहने की स्थिति के) ध्यान से श्रेष्ठ है।

प्रश्न - शान्ति कैसे प्राप्त होगी ?

उत्तर - (कर्म फल के) त्याग से शान्ति प्राप्त होगी।

सम्बन्ध १ उपर्युक्त श्लोकों में भगवान् की प्राप्ति के लिये भक्ति के अङ्गभूत अलग-अलग साधन बतलाकर उनका फल परमेश्वर की प्राप्ति बतलाया गया, अतएव भगवान् को प्राप्त हुए प्रेमी भक्तों के लक्षण जानने की इच्छा होने पर अब सात श्लोकों में भगवत्प्राप्त ज्ञानी भक्तों के लक्षण बतलाये जाते हैं १

१३. अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥

१४. संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

शब्दार्थ - सर्वभूतानाम् = सभी प्राणियों को। अद्वेष्टा = द्वेषभाव से रहित। मैत्रः = मित्रभाववाला। करुणः एव च = दयालु। निर्ममः = ममता से रहित। निरहंकारः= अहंकार रहित। समदुःख सुखः=सुख और दुःख के प्रति समभाववाला। क्षमी = क्षमावान्। सततम् = सदा। संतुष्णः = संतुष्ट। योगी = योगी। यतात्मा = नियमित आत्मावाला। दृढनिश्चयः=दृढनिश्चयवाला। मयि=मुझमें। अर्पित = अर्पित। मनःबुद्धि = मन एवं बुद्धिवाला। मद्भक्तः = मेरा भक्त। यः = जो (है)। सः = वह। मे = मुझको। प्रियः = प्रिय है।

भावार्थ - जो पुरुष सब भूतों में द्वेषभाव से रहित, स्वार्थरहित, सब का प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममता से रहित, अहङ्कार से रहित सुख-दुःखों की प्राप्ति में सम और क्षमावान् है, अर्थात् अपराध करनेवाले को भी अभय देनेवाला है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियों सहित शरीर को वश में किये हुए है और मुझमें दृढ निश्चयवाला है १ वह मुझ में अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

व्याख्या - भगवान सात श्लोकों में स्पष्ट करते हैं कि उनके प्रिय साधक कौन हैं? पैंतीस सुगुणों का उल्लेखकर भगवान बताते हैं कि इन सुगुणों से युक्त व्यक्ति ही मुझे प्रिय है। "अद्वेष्टा" शब्द से इन सुगुणों का श्रीगणेश हुआ, इसलिए ये सद्गुण अद्वेष्टृत्वादि' गुण कहलाए। ये पैंतीस सद्गुण पैंतीस पाठ या पाठ्य विषय बन गए। जो इन पैंतीस सद्गुणों से युक्त होगा, वही भगवान का प्रीतिपात्र बन सकेगा। दुःखों से छुटकारा पाने के लिए भगवान का अनुग्रह पाना आवश्यक है। जो इन पैंतीस सद्गुणों से विलसित होगा, वही भगवान का अनुग्रह पाएगा। अतःइन पैंतीस सद्गुणों का बहुत बडा महत्त्व है।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्। (९-२९)

अर्थात् मैं सब भूतों में समभाव से व्याप्त हूँ। न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है। परन्तु जो भक्त मुझको प्रेम से भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ। इससे स्पष्ट है कि जो भगवान के अनन्य भक्त हैं, वे उनका अनुग्रह पाते हैं। अतः मुक्ति पाने के इच्छुक मुमुक्षुओं का यह कर्तव्य है कि वे इन पैंतीस सद्गुणों से युक्त होने का प्रयत्न करें और सफल बनें।

भगवान के प्रति कवियों के हृदय में भक्ति रहती है, परन्तु वह काफी नहीं है। भक्त को हमेशा निरीक्षण कर लेना चाहिए और देखना चाहिए कि

भगवान को अपने प्रति प्रीति उत्पन्न हुयी कि नहीं ? वह स्थिति प्राप्त हो, तो समझना चाहिए कि वह तर गया।

साध्य वस्तु परमात्मा हैं। उन तक पहुंचना हो, तो साधना में उत्तीर्ण होना चाहिए। गीता ग्रन्थ साध्य वस्तु के बारे में कम , साधना वस्तु के बारे में ज्यादा बताता है। इसीलिए गीता को अनुष्ठान वेदान्त ग्रन्थ मानते हैं। पहले पहल स्थित प्रज्ञ के लक्षण, फिर अद्वेष्टृत्वादि भक्तलक्षण, इसके बाद अमानित्वादि ज्ञानगुण, फिर "अभयं" इत्यादि दैवी संपत्ति सम्बन्धी लक्षण, इस प्रकार गीताचार्यने अनुष्ठान का बोध लोगों को गीता ग्रन्थ के द्वारा कराया।

अतः मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे गीताचार्य के बोध पर ध्यान दें। उनके बताये सद्गुणों को अपनावें। भगवान के प्रीतिपात्र बनें और अपना जीवन सार्थक बनावें। "सर्व भूतानाम्" कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि एक दो प्राणियों पर नहीं, समस्त जीवराशि पर दया दिखानी चाहिए। किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष नहीं रखना चाहिए। "संतुष्टः सततम्" कहा गया। इससे स्पष्ट है कि थोडी देर तक तृप्ति से रहना, फिर विषय वासनाओं में लग जाना ठीक नहीं है। हर भक्त को हमेशा तृप्त रहना चाहिए।

"दृढ निश्चयः" १ इससे स्पष्ट है कि भगवान के बारे में, संसार के बारे में स्थिर निर्णयों से विलसित होना चाहिए। दृढव्रती बनना चाहिए। भक्त को दृढ निश्चय कर लेना चाहिए कि भगवान हैं, उन्हे मुझे पाना है, पाकर ही रहूँगा। नहीं तो माया जीव को गुमराह कर देती है। जीव उससे छुटकारा नहीं पा सकता।

"मय्यार्पित मनोबुद्धिः" १ गीता शास्त्र में भगवान बार-बार भक्तों को सचेत करते हैं कि मन के साथ-साथ बुद्धि को भी भगवान में स्थित करो। क्योंकि मन चंचल एवं विकल रहता है। निश्चयात्मक बुद्धि उसके साथ रहे और चंचलता को ही बढावा दे, तो भक्त कभी भी लक्ष्य तक पहुँच नहीं सकता।

१५. यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥

शब्दार्थ - यस्मात् = जिनसे । लोकः = लोक । न उद्विजते = भयभीत नहीं होते । लोकात् च = लोक से भी । यः = जो । न उद्विजते = भयभीत नहीं होते । यः = जो । हर्ष, अमर्ष, भय, उद्वेगैः = हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेग आदि से । मुक्ति = मुक्त है । सः च = वह भी । मे = मुझे । प्रियः = प्रिय है ।

भावार्थ - जिससे कोई भी जीव उद्वेग को प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीव से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता; तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है १ वह भक्त मुझको प्रिय है ।

व्याख्या - "लोकान्नो द्विजते" - सत्यमार्ग पर चलनेवालों को संसार की निन्दा स्तुति से विचलित नहीं होना चाहिए । निर्भय होकर उसे आगे बढना चाहिए । भगवान ने कहा कि "विगत भीः"। इस शब्द पर ध्यान देना चाहिए । "हर्षामर्ष भयोद्वेगैः" १ हर्ष अच्छा है । पर जोश के वश होकर निन्दा से कुंठित होना, स्तुति से फूलना ठीक नहीं है । साधक को ऐसे द्वंद्वों के वशवर्ती न होकर निर्विकार रहना चाहिए । इस श्लोक का सन्देश यही है ।

१६. अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

शब्दार्थ - अनपेक्षः = आकांक्षाओं से रहित । शुचिः = शुद्ध । दक्षः = समर्थ । उदासीनः = तटस्थ । गतव्यथः = दुःख रहित । सर्वारम्भ परित्यागी = सब आरम्भों का त्यागी । मद्भक्तः = मेरा भक्त । यः = जो (है) । सः = वह । मे = मुझे । प्रियः = प्रिय है ।

भावार्थ - जो पुरुष आकाङ्क्षा से रहित, बाहर-भीतर से शुद्ध, चतुर, पक्षपात से रहित और दुःखों से छूटा हुआ है - वह सब आरम्भों का त्यागी मेरा भक्त मुझको प्रिय है ।

व्याख्या - "शुचिर्दक्षः" - भगवान बार बार कहते हैं कि शुचिता अत्यंत आवश्यक है.। अन्दर और बाहर शुचिता अत्यंत आवश्यक है। अन्दर और बाहर शुचिता होनी चाहिए। गन्दगी में रहनेवालों के मन एवं तन गन्दे ही रहते हैं। अतः देह एवं मन की निर्मलता पर हर जीव को ध्यान देना चाहिए।

"**दक्षः**" - सामर्थ्य एवं समय की स्फूर्ति से कार्यों तथा आध्यात्मिक साधनों का निर्वाह करना चाहिए। सचेत न रहें, तो माया भक्त को गिरा देगी।

"**गतव्यथः**" - भक्त सदा भगवान का आश्रय ले, तो उसे निराश होने की जरूरत नहीं रहती।

"**सर्वारम्भ परित्यागी**" - सब कार्य पूर्णरूप से त्यागनेवाले का मतलब "अकर्मण्य" नहीं है। मतलब है दैवेतर सब कर्मों को त्यागना। शास्त्र विरुद्ध सभी कर्मों को त्यागना। जो व्यक्ति कार्य करते हुए भी कर्तृत्व की भावना नहीं रखता और संगतत्व को त्याग देता है, वह कर्म करते हुए उनसे मुक्त रहता है। वैसा व्यक्ति सभी कार्यों का परित्यागी बनता है।

१७. यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥

शब्दार्थ - यः = जो। न हृष्यति = हर्षित नहीं होता। न द्वेष्टि = द्वेष नहीं करता। न शोचति = शोक नहीं करता। न काङ्क्षति = कामना नहीं करता। यः=जो। शुभाशुभ परित्यागी = शुभाशुभ कर्मों का त्यागी है। सः भक्तिमान् = वह भक्त। मे = मुझे। प्रियः = प्रिय है।

भावार्थ - जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मों का त्यागी है - वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है।

व्याख्या - "न हृष्यति" यहाँ हर्षित नहीं होता का मतलब है नहीं फूलता।

यद्यपि हर्ष अच्छा ही है, तथापि वह हर्षशोक रूपी द्वंद्व के अंतर्गत है। निरंतर आत्मस्थिति का वह एक रोडा है, अतः ऐसा कहा गया।

"शुभाशुभ परित्यागी" - यहाँ पाठकों को एक सन्देह हो सकता है। संसार में अशुभ को छोड देना धर्म है। परन्तु यहां अशुभ के साथ शुभ को भी छोडने की बात कही गयी। ऐसा क्यों? गीता के वाक्यों को बडी सावधानी से समझना चाहिए। पूर्वापर का समन्वय करके संदर्भ पर ध्यान देते हुए अर्थ समझना चाहिए। यहाँ भक्ति की पराकाष्ठा का स्पष्टीकरण किया गया। भक्ति की चरम स्थिति एवं ज्ञान की स्थिति दोनों एक ही हैं। परिपूर्ण भक्त एवं ज्ञानी दोनों आत्मस्थिति में स्थित रहते हैं। यही जीवन्मुक्त की स्थिति है। उस स्थिति में पहुँचने पर शीत-उष्ण, सुख-दुःख तथा हर्ष-विमर्ष के लिए स्थान नहीं होता। केवल दैवी भावना या आत्म भावना ही बची रहती है। इसीलिए कहा गया कि परिपूर्ण भक्त शुभाशुभ का त्यागी है। पहले साधक शुभ को ग्रहण करता है। अशुभ को छोड देता है। फिर ज्यों ज्यों वह साधना के मार्ग पर आगे बढता है, त्यों त्यों दैवी स्थिति में पहुंच जाता है। तब शुभ और अशुभ सभी तत्त्वों से मुक्त होता है। एक दैवीवस्तु ही बच जाती है। शुभाशुभ के परित्याग का मतलब यही है। इस विषय पर साधकों को सावधानी से ध्यान देना चाहिए।

१८. समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥

१९. तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

शब्दार्थ - शत्रौ च = शतृ के प्रति। मित्रे च = मित्र के प्रति। तथा = वैसे ही। मानापमानयोः = मान अपमान के प्रति। समः = सम रहनेवाला। शीतोष्ण सुख दुःखेषु = शीत, उष्ण, सुख, दुःख के प्रति। समः = सम रहनेवाला। सङ्गविवर्जितः = सङ्गरहित। तुल्य निन्दा स्तुतिः = निन्दा और स्तुति में सम

रहनेवाला। मौनी =मौन रहनेवाला। येन केनचित् = जिस किसीसे। संतुष्ट = संतुष्ट रहनेवाला। अनिकेतः = निवास (गृह आदि) रहित। स्थिरमतिः = स्थिर बुद्धिवाला। नरः = मनुष्य। मे = मुझे। प्रियः = प्रिय हैं।

भावार्थ - जो शत्रु - मित्र में और मान- अपमान में सम है तथा सरदी, गरमी और सुख- दुःखादि द्वन्द्वों में सम है और आसक्ति से रहित है, जो निन्दा - स्तुति को समान समझनेवाला, मननशील और जिस किसी प्रकार से भी शरीर का निर्वाह होने में सदा ही सन्तुष्ट है और रहने के स्थान में ममता और आसक्ति से रहित है - वह स्थिर बुद्धि भक्तिमान् पुरुष मझको प्रिय है।

व्याख्या - इन दो श्लोकों में पांच प्रकार के द्वंदों का विवरण दिया गया। (१) शतृ - मित्र (२) मान - अपमान (३) शीत - उष्ण (४) सुख - दुःख (५) निन्दा - स्तुति। इन द्वंद्वों में पडकर भी जो साधक सम स्थिति में रहता हैं, वह सफल साधक है।

"मौनी" यह आवश्यक है कि मौन केवल वाणी तक सीमित न हो, मन तक भी वह पहुंचे, साधक हमेशा भगवान में ही लीन रहता है, अतः किसी से बात नहीं करता। 'मौनी' शब्द का अर्थ मननशील, अर्थात् दैव के बारे में सदा मनन करनेवाला है। "अनिकेतः" - जिसका कोई निकेत नहीं, वह अनिकेत है। अर्थात् जिस समय निवास के लिए जो मिलेगा, उसीसे संतुष्ट रहनेवाला। एक ही जगह गृह आदि में रहे, तो उसके प्रति ममता उत्पन्न होती है। अतः साधक को अनिकेत रहना चाहिए। 'निकेत' का अर्थ देह कहा जा सकता है। अनिकेत का मतलब है १ देह के प्रति अभिमान रहित। "स्थिरभतिः" - अध्यात्म तथा दैव सम्बन्धी विषयों में जो स्थिर रहता हैं, वह स्थिर मतिवाला है।

'भक्तिमान्' - अब तक भक्त के लक्षण बताये गये हैं। बताये गये पैंतीस सद्गुणों से युक्त व्यक्ति ही भक्त है। ये सब ज्ञानी के भी लक्षण लगते हैं। अतः स्पष्ट है कि पराभक्ति एवं ज्ञान में कोई अन्तर नहीं है। भक्त आरंभ में पत्र पुष्प आदि से भगवान की पूजा करता रहता है। धीरे-धीरे जब भगवान

सम्बन्धी भावनाओं में लीन होता है, तब अपने मन रूपी पुष्पों से ही परमात्मा की पूजा करने लगता है। श्रीशंकराचार्य ने शिवानंद लहरी में निम्न प्रकार कहा १

समत्यैकं चेतः सरसिज मुमानाथ भवते
संखेनावस्थातुं जन इह न जनाति किमहो।

अर्थात् - हे उमापति परमेश्वर ! चित्त रूपी कमल को तुम्हें अर्पित कर सुख से रहना लोग जान नहीं पा रहे हैं।

इसी तरह मनरूपी कुसुमों से भक्त भगवान की आराधना करता है। इस अध्याय में सूचित पैंतीस सुगुण ही वे पुष्प हैं।

अहिंसा प्रथमं पुष्पं पुष्पमिन्द्रियनिग्रहः
सर्वभूत दया पुष्पं क्षमापुष्पं विशेषतः।
शान्तिपुष्पं तपः पुष्पं ध्यानपुष्पं तथैव च
सत्यमष्टविधं पुष्पं विष्णोः प्रीतिकरं भवेत्॥

अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, सर्वभूतदया, क्षमा, शान्ति, तप, ध्यान तथा सत्य नामक आठ पुष्प भगवान विष्णु के अत्यन्त प्रीतिदायक पुष्प हैं। इसलिए बाहरी पुष्पों के साथ इन सद्गुणरूपी मनः पुष्पों से भी भगवान की आराधना करना श्रेयोदायक है। इसलिए इस अध्याय में सूचित सद्गुणों को अपनाकर मुमुक्षु को मुक्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

संसार में सबसे उपयोगी एवं श्रेष्ठ वस्तु भगवान की प्रीति है। अतः उसे अवश्य प्राप्त करना चाहिए। भगवानने कहा कि "भक्तिमान् मे प्रियोनरः" (वैसा सुगुणोंवाला भक्त मेरा प्रिय है)। शास्त्रों के विरुद्ध एवं भगवान के वचनों के विरुद्ध जो चलेगा, वह भगवान का अनुग्रह प्राप्त नहीं कर सकता।

"नरः" कहा गया। इससे स्पष्ट है कि कोई भी मनुष्य इन सुगुणों को प्राप्त कर सकता है।

प्रश्न - इस अध्याय में भक्त के कितने लक्षण बताये गए ? वे क्या हैं ?

उत्तर - कुल पैन्तीस सद्गुण बताये गये हैं। वे निम्न प्रकार हैं - (१) किसी भी प्राणी से द्वेष न करना (२) मैत्री (३) करुणा (४) ममताराहित्य (५) अहंकार का न होना (६) सुख एवं दुःख में समभाव (७) सहनशीलता (८) नित्यतृप्ति (९) मन का निग्रह (११) दृढ निश्चय (११) मन और बुद्धि भगवान को समर्पित करना (१२) लोक से जीव न डरे और जीव से लोक न डरे (१३) हर्ष, क्रोध एवं भय से रहित होना (१४) किसी भी वस्तु के प्रति आसक्ति का न होना (१५) शुचिता (१६) कार्य की क्षमता (१७) तटस्थता (१८) मन की व्याकुलता का न होना (१९) सभी कर्मों के फल का त्याग(२०) हर्षका न होना (२१)द्वेष का न होना (२२) शोक का न होना (२३) इच्छा का न होना (२४) शुभ और अशुभ का त्याग (२५) शतृ एवं मित्र के प्रति समभावना (२६) मान एवं अपमान के प्रति समभावना (२७) शीत एवं उष्ण के प्रति समभावना (२८) सुख और दुःख के प्रति समभावना (२९) संग का वर्जन (३०) निन्दा एवं स्तुति के प्रति समभावना (३१) मौन (३२) प्राप्त वस्तु से तुप्त रहना (३३) निवास के प्रति आसक्त न होना (३४) स्थिरबुद्धि (३५) भगवान के प्रति भक्ति।

प्रश्न - भगवान का प्रीतिपात्र कौन है ?

उत्तर - उपर्युक्त सुगुणोंवाला भगवान का प्रीतिपात्र है।

प्रश्न - भगवान का अनुग्रह पाने का उपाय क्या है ?

उत्तर - उपर्युक्त सुगुणों से युक्त होना।

सम्बन्ध - परमात्माको प्राप्त हुए सिद्ध भक्तोंके लक्षण बतलाकर अब उन लक्षणोंको आदर्श मानकर बड़े प्रयत्न के साथ उनका भलीभाँति सेवन करनेवाले, परम श्रद्धालु, शरणागत भक्तों की प्रशंसा करनेके लिये, उनको अपना अत्यन्त प्रिय बतलाकर भगवान् इस अध्याय का उपसंहार करते हैं।

२०. ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥

शब्दार्थ - ये तु = जो। श्रद्धधानाः = श्रद्धालु हैं। मत्परमाः = मेरे ही परायण हैं। इदम = इस। धर्मामृतम् = अमृतरूप धर्म को। यथोक्तम् = बताये अनुसार। पर्युपासते = अनुष्टान करते हैं। ते भक्ताः = वे भक्त। मे = मुझे। अतीव = अत्यंत। प्रियाः = प्रिय हैं।

भावार्थ - परन्तु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृत का निष्काम प्रेम भाव से सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं।

व्याख्या - जो साधक उपर्युक्त धर्मों का पालन भक्ति एवं श्रद्धा के साथ करेगा, उसे जो फल प्राप्त होंगे, उनका विवरण यहां दिया गया। अम तौर पर काम के साथ प्राप्त होनेवाले उसके फल भी ज्ञात हों, तो उस काम के प्रति साधकों का आकर्षण बढेगा। इसीलिए भगवान काम एवं कर्तव्य बताकर उन्हें करने से मिलनेवाले फलों का भी स्पष्टीकरण करते हैं। भगवानने कहा कि "ते अतीव मे प्रियाः"। अर्थात् वे मेरे अत्यंत प्रीतपात्र हैं। इससे बढकर श्रेष्ठ फल और क्या हो सकता है। यह फल मिले, तो समझना चाहिए कि सभी फल मिल गए। भगवान की प्रीति व उनका अनुग्रह न मिले, तो समझना चाहिए कि कुछ नहीं मिला। तीनों लोकों में भगवान की कृपा से बढकर दूसरा कुछ नहीं है। क्योंकि वह कृपा मोक्ष की प्राप्ति कराएगी।

भगवान की कृपा हो, तो बुद्धियोग (तत्वविचार की शक्ति) प्राप्त होगा। (ददामि बुद्धियोगम्) इससे उसे मोक्ष प्राप्त होगा।

"धर्मामृतम्' - उपर्युक्त धर्म अमृत रूप कहे गए। क्योंकि जनन - मरण से मुक्त कराने की शक्ति उसकी है। भगवानने दया करके साधकों पर अमृत की वर्षा की। अब प्रश्न उठता है कि उन धर्मों का पालन किस प्रकार किया जाय ?

"श्रद्धाधानाः" - कहा गया कि उपर्युक्त धर्मों का पालन श्रद्धा से करनी चाहिए। गीताचार्यने कई बार गीता में यत्र तत्र श्रद्धा की महत्ता पर प्रकाश डाला। "मत्परमाः" कहा गया। परमात्मा को ही सब कुछ व परमगति मानकर उनका ध्यान करना चाहिए। उन सुगुणों को अपनाना चाहिए। गीताचार्यने कहा कि ऐसे लोग मुझे अत्यंत प्रिय हैं। (अतीव मे प्रियाः) जिस प्रकार पाठशाला के अध्यापक के प्रीति पात्र विद्यार्थी की शिक्षा आदि के बारे में सन्देह करने की जरूरत नहीं होती, माता-पिता की छत्रछाया में पलनेवाले बच्चों के योगक्षेम के बारे में जिस प्रकार सन्देह करने की जरूरत नहीं होती, उसी प्रकार भगवान के प्रीतिपात्रों के मोक्ष के बारे में किसी प्रकार के सन्देह की आवश्यकता नहीं होती। अतः मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे भगवान श्रीकृष्ण के कहे अनुसार चलें। उनके द्वारा सूचित सुगुणों को अपनावें। धर्मो का पालन करें। फलस्वरूप धर्मामृत का पान करें। अपना जीवन कृतार्थ करें। यहाँ, 'ये तु' तथा 'यच्छब्द' का प्रयोग किया गया। इससे स्पष्ट है कि इस प्रकार प्रयास करनेवालों में जात - पांत तथा वर्ग वर्ण का कोई भेद नहीं है। हर कोई अपने सद्गुणों के बल पर भगवान का प्रीतिपात्र बन सकता है। मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

प्रश्न - श्रीकृष्ण के बताये धर्म कैसे हैं ?

उत्तर - अमृतरूप हैं। जनन - मरण के बन्धन से मुक्त कराकर जीव को अमरत्व प्रदान करनेवाले हैं।

प्रश्न - इन धर्मों का आचरण किस प्रकार करना चाहिए ?

उत्तर - श्रद्धा एवं भगवान के प्रति अपार भक्ति से इन धर्मों का पालन करना चाहिए।

प्रश्न - ऐसे आचरण से कौन-सा फल मिलेगा ?

उत्तर - ऐसा आचरणवाला भगवान की प्रीति का पात्र बनेगा।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥

यह उपनिषदों के द्वारा प्रतिपादित, ब्रह्मविद्या, योगशास्त्र, श्रीकृष्णार्जुन संवाद युक्त श्री भगवद्गीता का भक्तियोग शीर्षक बारहवाँ अध्याय है।

ॐ तत् सत्

गीता मकरंद
भाग - 3
श्लोकों की अनुक्रमणिका

अ

	अ	श्लो.
अक्षरं ब्रह्म परमं	८	३
अक्षराणामकारोऽस्मि	१०	३३
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः	८	२४
अथ चित्तं समाधातुम्	१२	९
अथवा बहुनैतेन	१०	४२
अथैतदप्यशक्तोऽसि	११	११
अदृष्टवपूर्वं हृषितोऽस्मि	१२	४५
अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्	१२	१३
अधिभूतं क्षरो भावः	८	४
अधियज्ञः कथं कोऽत्र	८	२
अनन्तश्चास्मि नागानाम्	१०	२९
अनन्यचेताः सततम्	८	१४
अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्	९	२२
अनपेक्षः शुचिर्दक्षः	१२	१६
अनादिमध्यान्त मनन्त	११	१९

	अ.	श्लो.
अन्तकाले च मामेव	८	५
अन्तवत्तुफलं तेषाम्	७	२३
अनेकवक्त्रनयनम्	११	१०
अनेक बाहूदर	११	१६
अपरेयमितस्त्वन्याम्	७	५
अपि चेत्सुदुराचारो	९	३०
अभ्यासयोग युक्तेन	८	८
अभ्यासेऽप्य	१२	१०
अमी च त्वां	११	२६
अमी हि त्वाम्	११	२१
अवजानन्ति माम्	९	११
अव्यक्ताद्व्यक्तयः	८	१८
अव्यक्तोऽक्षर	८	२१
अव्यक्तं व्यक्तिम्	७	२४
अश्रद्धधानाः	९	३
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्	१०	२६
अहं क्रतुरहं यज्ञः	९	१६

	अ.	श्लो.
अहमात्मा गुडाकेश	१०	२०
अहं सर्वस्य प्रभवो	१०	८
अहं हि सर्वयज्ञानाम्	९	२४
अहिंसा समता तुष्टिः	१०	५
आ		
आख्याहि मे को	११	३१
आदित्यानामहं विष्णुं	१०	२१
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः	८	१६
आयुधानामहं वज्रम्	१०	२८
आहुस्त्वामृषयः सर्व	१०	१३
इ		
इच्छाद्वेषसमुत्थेन	७	२७
इत्यर्जुनं वासुदेवः	११	५०
इदं तु ते गुह्यतमम्	९	१
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नम्	११	७
उ		
उच्चैः श्रवसमश्वानाम्	१०	२७
उदाराः सर्व एवैते	७	१८
ए		
एतद्योनीनि भूतानि	७	६
एतच्छ्रुत्वा वचनं	११	३५
एतां विभूतिं योगं च	१०	७
एवमुक्त्वा ततो राजन्	११	९

	अ.	श्लो.
एवमेतद्यथात्थ त्वम्	११	३
एवं सततयुक्ता ये	१२	१
ओ		
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म	८	१३
क		
कथं विद्यामहं योगिन्	१०	१७
कविं पुराण	८	९
कस्माच्च ते न स्मरेन्	११	३७
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः	७	२०
कालोऽस्मि लोकक्षय	११	३२
किरीटिनाम् गदिनं	११	४६
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च	११	१७
किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मम्	८	१
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः	९	३३
क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्	१२	५
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा	९	३१
ग		
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी	३	१८
च		
चतुर्विधा भजन्ते माम्	७	१६
ज		
जरामरणमोक्षाय	७	२९
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये	९	१५

	अ.	श्लो.
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम्	७	२
त		
ततः स विस्मयाविष्टो	११	१४
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नम्	११	१३
तपाम्यहमहं वर्षम्	९	१९
तस्मात्प्रणम्य	११	४४
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ	११	३३
तस्मात्सर्वेषु कालेषु	८	७
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी	१२	१९
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकम्	९	२१
तेषामहं समुद्धर्ता	१२	७
तेषामेवानुकंपार्थम्	१०	११
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त	७	१७
तेषां सततयुक्तानां	१०	१०
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः	७	१३
त्रैविद्या मां सोमपाः	९	२०
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम्	११	१८
त्वमादिदेवःपुरुष	११	३८
द		
दण्डो दमयतामस्मि	१०	३८
दंष्ट्राकरालानि च ते	११	२५

	अ.	श्लो.
दिवि सूर्यसहस्रस्य	११	१२
दिव्यमाल्यम्बरधरम्	११	११
दृष्ट्वेदं मानुषं रूपम्	११	५१
दैवी ह्येषा गुणमयी	७	१४
द्यावापृथिव्योरिद	११	२०
द्यूतं छलयतामस्मि	१०	३६
द्रोणं च भीष्मं च	११	३४
ध		
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः	८	२५
न		
न च मत्स्थानि	९	५
न च मां तानि कर्माणि	९	९
न तु मां शक्यसे द्रष्टुम्	११	८
नभः स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं	११	२४
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतः	११	४०
न मां दुष्कृतिनो मूढाः	७	१५
न मे विदुः सुरगणाः	१०	२
न वेदयज्ञाध्ययनैः	११	४८
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां	१०	४०
नाहं प्रकाशः सर्वस्य	७	२५
नाहं वेदैर्न तपसा	११	५३
नैते सृती पार्थ जानन्	८	२७

प

	अ	श्लो.
पत्रं पुष्पं फलं तोयम्	९	२६
परस्तस्मात्तु भावो अन्यो	८	२०
परं ब्रह्म परं धाम	१०	१२
पवनः पवतामस्मि	१०	३१
पश्य मे पार्थ रूपाणि	११	५
पश्यादित्यान्वसून्	११	६
पश्यामि देवांस्तव देव	११	१५
पिताऽसि लोकस्य	११	४३
पिताहमस्य जगतो	९	१७
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च	७	९
पुरुषः स परः पार्थ	८	२२
पुरोधसां च मुख्यं माम्	१०	२४
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य	९	८
प्रयाणकाले मनसा	८	१०
प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानाम्	१०	३०

ब

	अ	श्लो.
त बलवताम्	२२	११
ूनां जन्म नामन्ते	७	१९
बीजं मां सर्वभूतानाम्	७	१०
बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः	१०	४
बृहत्साम तथा साम्नाम्	१०	३५

भ

	अ	श्लो.
भक्त्या त्वनन्यया शक्यः	११	५४
भवाप्ययौ हि भूतानाम्	११	२
भूतग्रामः स एवायम्	८	१९
भूमिरापोऽनलो वायुः	७	४
भूय एव महाबाहो	१०	१

म

	अ	श्लो.
मच्चित्ता मद्गत प्राणाः	१०	९
मत्कर्मकृन्मत्परमो	११	५५
मत्तः परतरं नान्यत्	७	७
मदनुग्रहाय परमम्	११	१
मनुष्याणां सहस्रेषु	७	३
मन्मना भव मद्भक्तो	९	३४
मन्यसे यदि च्छक्यम्	११	४
मया ततमिदं सर्वम्	९	४
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः	९	१०
मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं	११	४७
मय्यावेश्य मनोये माम्	१२	२
मय्यासक्तमनाः पार्थ	७	१
मय्येव मन आधत्स्व	१२	८
महर्षयः सप्त पूर्वे	१०	६
महर्षीणां भृगुरहम्	१०	२५

	अ	श्लो.
महात्मानस्तु मां पार्थ	९	१३
मा ते व्यथा मा च	११	४९
मामुपेत्य पुनर्जन्म	८	१५
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य	९	३२
मृत्युः सर्वहरः	१०	३४
मोघाशा मोघकर्माणो	९	१२
य		
यं यं वापि स्मरन्भावं	८	६
यच्चापि सर्वभूतानाम्	१०	३९
यच्चावहासार्थम्	११	४२
यत्करोषि यदश्नासि	९	२७
यत्रकाले त्वनावृत्तिम्	८	२३
यथाकाशस्थितो नित्यम्	९	६
यथा नदीनां बहवो	११	२८
यथा प्रदीप्तं ज्वलनम्	११	२९
यदक्षरं वेदविदो	८	११
यद्यद्विभूतिमत्सत्वम्	१०	४१
यस्मान्नोद्विजते लोको	१२	१५
यान्ति देवव्रता देवान्	९	२५
ये चैव सात्विका भावाः	७	१२
ये त्वक्षरमनिर्देश्यम्	१२	३
ये तु धर्म्यामृतमिदम्	१२	२०

	अ	श्लो.
ये तु सर्वाणि कर्माणि	१२	६
येऽप्यन्देवता भक्ताः	९	२३
येषां त्वन्तगतं पापम्	७	२८
यो न हृष्यति न द्वेष्टि	१२	१७
यो मामजमनादि च	१०	३
यो यो यां यां तनुं भक्तः	७	२१
र		
रसोऽहमप्सु कौन्तेय	७	८
राजविद्या राजगुह्यम्	९	२
रुद्राणां शंकरश्चास्मि	१०	२३
रुद्रादित्या वसवो ये च	११	२२
रूपं महत्ते बहुवक्त्र	११	२३
ल		
लेलिह्यसे ग्रसमानः	११	३०
व		
वक्तुमर्हस्यशेषेण	१०	१६
वक्त्राणि ते त्वरमाणा	११	२७
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः	११	३९
विस्तरेणात्मनो योगम्	१०	[illegible]
वृष्णीनां वासुदेवोस्मि	१०	३७
वेदानां सामवेदोऽस्मि	१०	२२
वेदाहं समतीतानि	७	२६
वेदेषु यज्ञेषु तपः सु.	८	२८

श	अ	श्लो.
शुक्लकृष्णे गती ह्येते	८	२६
शुभाशुभफलैरेवम्	९	२८
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्	१२	१२
स		
सखेति मत्वा प्रसभम्	११	४१
सततं कीर्तयन्तो माम्	९	१४
स तया श्रद्धया युक्तः	७	२२
समः शत्रौ च मित्रे च	१२	१८
समोऽहं सर्वभूतेषु	९	२९
सहस्रयुगपर्यन्त	८	१७
सर्गाणामादिरन्तश्च	१०	३२
सर्वद्वाराणि संयम्य	८	१२
सर्वभूतानि कौन्तेय	९	७
सर्वमेतदृतं मन्ये	१०	१४
संतुष्टः सततं योगी	१२	१४
संनियम्येन्द्रियग्रामम्	१२	४
साधिभूताधिदैवं माम्	७	३०
सुदुर्दर्शमिदं रूपम्	११	५२
स्थाने हृषीकेश तव	११	३६
स्वयमेवात्मनात्मानम्	१०	१५
ह		
हन्त ते कथयिष्यामि	१०	१९

T.T.D. Religious Publications Series No. 236
Price: Rs. 20/-

श्री श्री श्री विद्याप्रकाशानन्दगिरिस्वामी

देश-विदेशों में गीता का संप्रति विस्तृत प्रचार हो रहा है। साहित्यज्ञ, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक, कवि, पंडित आदि अपने-अपने दृष्टिकोणों से इस लोकोपयोगी कार्य में लगे हुए हैं। इसकी आवश्यकता को जानकर महान तपस्वी श्री श्री श्री विद्याप्रकाशानंदगिरि स्वामीजी द्वारा तेलुगु में विरचित 'गीता मकरंद' का हिन्दी रूपांतर तिरुमल तिरुपति देवस्थान द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है। सुपरिचित एवं हिन्दी व तेलुगु भाषाओं में निष्णात तथा हैदराबाद के निवासी श्री वेमूरि राधाकृष्णमूर्ति ने इस कार्यभार को संभाला है।

'गीता मकरंद' हिन्दी अनुवाद का यह तीसरा भाग है। इसमें गीता के सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह, बारह - अध्यायों का विवरण सहित प्रकाशन किया जा रहा है। सहृदय पाठक इसका अध्ययन कर गीतोपदेशक परब्रह्म श्रीकृष्ण एवं श्री श्री श्री विद्याप्रकाशानंदगिरि स्वामीजी के अनुग्रह का पात्र बनें।

Published by Ajeya Kallam, I.A.S., Executive Officer,
Tirumala Tirupati Devasthanams, Tirupati and Printed at
Sowbhagya Printers, Warangal on behalf of T.T.Devasthanams.